पण्डित देवीदास विरचित

प्रवचनसारभाषाकवित्त

Pandit Devidasa's

Pravachansar Bhasa Kavitt

(A Poetic Commentary on Pravachansara of Sri Kundakundacharya)

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. श्रेयांशकुमार सिंघई

रीडर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग,

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)

जयपुर परिसर, जयपुर

प्रकाशक

भारतीय श्रुति दर्शन केन्द्र, जयपुर

पण्डित देवीदास विरचित

प्रवचनसारभाषाकवित्त

प्रथम आवृत्ति : 1000 प्रतियाँ
(27 सितम्बर, 2006)

सम्पादन-अनुवाद
डॉ. श्रीयांशकुमार सिंघई ©

मूल्य : 50 रुपये
Prize : Rs. 50

प्राप्ति स्थान :
भारतीय श्रुति दर्शन केन्द्र
15, नवजीवन, उपवन (टड्ढों का बाग)
मोती डूंगरी रोड, जयपुर

डॉ. श्रीयांशकुमार सिंघई
5/47, मालवीय नगर, जयपुर
मो. 9314502118

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4, बापूनगर, जयपुर-15

टाइपसैटिंग व मुद्रण व्यवस्था
देशना कम्प्यूटर्स
बी-179, मंगलमार्ग, बापू नगर, जयपुर
मो. 9314640048

जिनश्रुतसेवी 108 आचार्य श्री विद्यानंद मुनिराज को सविनय समर्पण
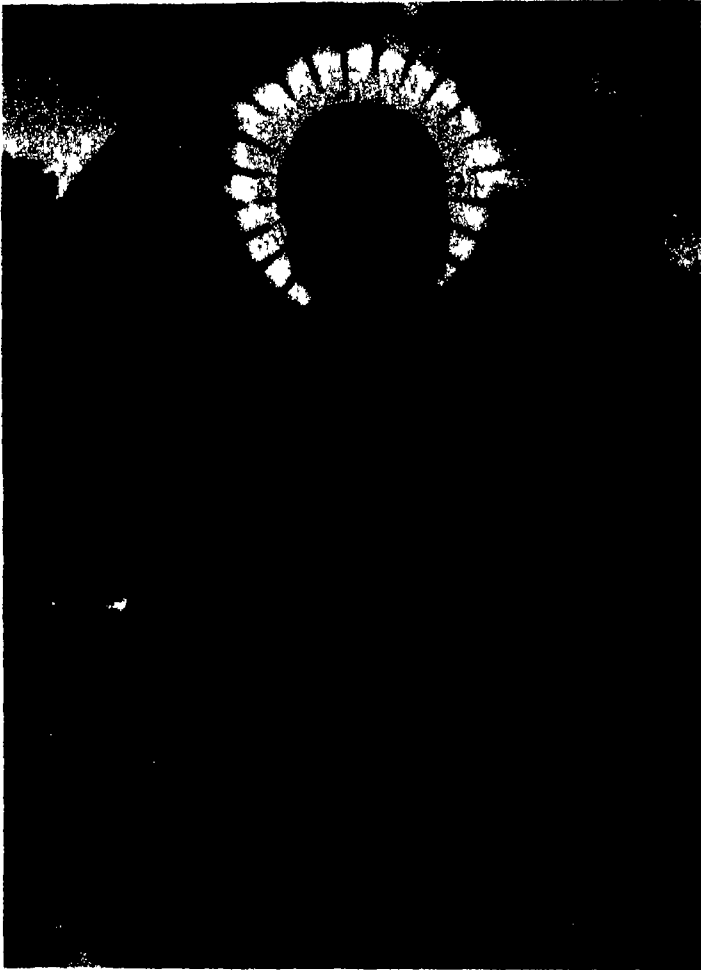
ज्ञात्वा सत्यं सरलमनसा तत्त्ववाचा सुशान्तः
टङ्कोत्कीर्णैः समयवचनैः ध्यानविद्योपजीवी ।
शास्त्रज्ञानं हितमितकरं रोचते भूरि यस्मै
विद्यानन्दो मम गुरुवरस्तापनिष्ठो मनीषी ॥

(सरल मन से सत्य को जानकर तत्त्ववाणी से जो सुशान्त–प्रशान्त तो हैं ही शास्त्रों के टंकोत्कीर्ण शाश्वत वचनों से ध्यान विद्या के उपजीवी अर्थात् ध्यान करनेवाले ध्यानी हैं तथा जिनके लिए हितकर एवं मधुर–परिमित शास्त्र ज्ञान ही रुचिकर लगता है वे आचार्य विद्यानन्द मुनिवर मेरे गुरुवर हैं ।)

(डॉ. श्रीयांशकुमार सिंघई)

शुभाशीर्वाद

धर्मानुरागी श्री हरीश ठोलिया !

सद्धर्मवृद्धिरस्तु।

पं. देवीदास विरचित 'प्रवचनसार–भाषा–कवित्त' को मनोयोगपूर्वक देखा। बहुत ही उत्तम ग्रन्थ है और सम्पादन–अनुवादादि के साथ प्रकाशन भी उत्तम हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द का 'प्रवचनसार' जैनदर्शन का मूलभूत आधार ग्रन्थ है। सभी को उसका अध्ययन करना आवश्यक है। उसके रचनाकाल से लेकर आजतक अनगिनत लोगों ने उसे पढ़कर ज्ञान–ज्ञेय तत्त्व का समीचीन परिज्ञान किया है और 'चरणानुयोग सूचक चूलिका' की भाँति सम्यक्चारित्र को भी धारण किया है। पं. देवीदासजी ने तो इसका भाषा में कवितानुवाद कर हिन्दीभाषी जनसामान्य तक भी पहुँचाकर जिनवाणी की महती सेवा की है। आपने भी इस अप्रकाशित पाण्डुलिपि को प्रकाशित कराकर आधुनिक युग के अनुरूप श्रुत की अपूर्व सेवा की है। एतदर्थ आपको मेरा बहुत–बहुत आशीर्वाद है।

शुभाशीर्वाद

दिनांक 3.12.2006

-आचार्य विद्यानन्द मुनि

प्रकाशकीय

जैन वाङ्मय नैतिक मूल्यों का प्रेरक होने से हमारे लौकिक-पारलौकिक जीवन का सुरक्षा प्रहरी है तो मुक्ति विषयक प्ररूपणा का सुस्पष्ट उद्घोषक होने से संसार से पार उतारने वाला तारणहार भी है। ऋषियों-महर्षियों की साधना के पावन प्रसाद रूप शास्त्र सम्पदा आज भी छुपी पड़ी है, धूल चाँट रही है, नष्ट हो रही है, उसे बचाये जाने की आवश्यकता है।

मुझे तो समादरणीय पण्डित संतोषकुमारजी झांझरी एवं डॉ. श्रीयांशकुमारजी सिंघई जयपुर से प्रेरणा मिल गयी और मेरे तथा मेरे परिवार जनों के निमित्त से आज इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पण्डित देवीदास द्वारा रचित प्रवचनसारभाषाकवित्त का प्रकाशन पहली बार हो रहा है।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती विमलादेवी कैंसर से पीड़ित रही हैं, उनके धार्मिक संस्कारों ने ही उस रोग की स्थिति में भी उसे शांतस्वभावी तथा स्वाध्यायी बनाये रखा। वह श्री मगनलालजी काला की बेटी थी, किन्तु धार्मिक संस्कारों की विरासत उसे अपने ताऊजी श्री छगनलालजी काला, जो नैष्ठिक श्रावक थे, से मिली। उसने मेरी गृहस्थी को तो संभाला ही, मेरी अभिरुचियों का भी ख्याल रखा। मेरा रुझान किताबें पढ़ने का रहा है, वो भी खरीदकर। इतना ही नहीं, जो भी अच्छी किताब मुझे दिखी, मैंने उसे खरीदा, किन्तु खरीदने की शक्ति अर्थाभाव के कारण थोड़ी होती थी और किताबें महँगी। जब पैसे नहीं होते थे तो किताबें नहीं खरीद पाने से मैं दुःखी हो जाता था, तब मेरी पत्नी मुझे अपने बचाये पैसे देकर किताबें खरीदने में मेरा सहयोग कर देती थी, दो-चार मौके तो ऐसे भी रहे, जब उसके पास भी पैसे नहीं थे और मेरे पास भी नहीं, किन्तु किताबें खरीदना चाहते थे – ऐसी स्थिति में अपने गहने गिरवी रखवाकर उसने मुझे किताबें खरीदने में सहयोग किया। यदि उसका समर्थन मुझे नहीं मिला होता तो आज इतना समृद्ध निजी पुस्तकालय मेरा न होता। मेरी धर्मपत्नी के प्रोत्साहन का ही परिणाम है कि मैं समय-समय पर किताबें खरीदता रहा, जो आज दुर्लभ हो गयी हैं।

पत्नी के दिवंगत हो जाने पर उसकी पुण्य स्मृति में मैं कुछ करना चाहता था। अपनी यह भावना मैंने डॉ. श्रीयांशकुमारजी से व्यक्त की तो उन्होंने प्रवचनसारभाषा-कवित्त के उद्धार की बात की। सम्पादन एवं अनुवाद का दायित्व भी ओढ़ने को तैयार हो गये। समादरणीय भाई साहब पण्डित संतोषकुमारजी झांझरी ने भी जब मुझे एतदर्थ

उत्साहित कर दिया तो मैं तैयार हो गया। परिणामत: लगभग सवा साल में यह ग्रन्थ डॉ. सिंघई की प्रतिभा और श्रम साधना से सामने आ रहा है। इसकी मुझे अपार खुशी है।

मेरा भतीजा चिरंजीव राजीव ठोलिया, जो बैंकॉक में रहता है, ने भी अपनी ताईजी की स्मृति में कुछ करने की बात कही थी, जिसके फलस्वरूप इस ग्रंथ के प्रकाशन की योजना बनी। मेरे पुत्र चिरंजीव संजय एवं अजय ने भी मेरा उत्साह बढाया।

आज मैं गदगद हूँ अपने बच्चों की पुण्य भावना से कि वे अपनी ताई-माई को श्रद्धाञ्जलि देने के निमित्त से ही सही जिनवाणी के वरद पुत्र पण्डित देवीदासजी के इस अमूल्य ग्रंथ को प्रकाशित करने में मेरा सहयोग करने को तैयार हो गये हैं।

यदि आज समाज का समृद्ध वर्ग भी अपने पूज्य या प्रियजनों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के निमित्त से अप्रकाशित पाण्डुलिपियों या दुर्लभ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित करने का बीड़ा उठा ले तो निश्चित ही भण्डारों में पडी अमूल्य धरोहर सुरक्षित होकर लोकहित का माध्यम बन सकेगी।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में पण्डित संतोषकुमारजी झांझरी ने प्रेरणा देकर तथा डॉ. श्रीयांशकुमारजी सिंघई ने पाण्डुलिपि को प्रकाशन योग्य बनाकर मेरा ही नहीं सभी जिज्ञासुओं का उपकार किया है। मैं इन दोनों महानुभावों का आभार मानता हूँ और उनके मार्गदर्शन की अपेक्षा रखता हूँ।

इस ग्रंथ की प्रथम पाण्डुलिपि की छायाप्रति सम्पादन एवं अनुवाद के लिए मुनिश्री १०८ ऊर्जयन्तसागरजी महाराज ने डॉ. सिंघई को सौंपी थी। उन्हीं के कारण आज यह कार्य पूरा हो रहा है। अत: मैं नमोस्तु पूर्वक उनका स्मरण करना इस अवसर पर नहीं भूल सकता हूँ। यह प्रति श्री विनयकुमारजी पापड़ीवाल जयपुर ने मुनिश्री को उद्धारार्थ दी थी, अत: वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। पाण्डुलिपि प्रकाशन में उनकी यह भावना सराहनीय है। पाण्डुलिपि आदि जैन साहित्य के संरक्षक एवं सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्री ज्ञानचन्दजी खिन्दुका से हमें दूसरी प्रति प्राप्त हुई थी, उन्होंने अनेकान्त भवन बीना से मँगा कर हमें दी, एतदर्थ मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ। इस पुस्तक के सुन्दर एवं सुव्यवस्थित मुद्रण करने में श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स जयपुर भी बधाई के पात्र हैं। मैं उन सभी के प्रति भी आभारी हूँ, जिनका एतदर्थ सहयोग प्राप्त हुआ। आभारी तो मैं उन सभी का रहूँगा, जो इस ग्रन्थ को पढकर अपना जीवन कृतार्थ करेंगे।

जिनवाणी का एक विनम्र सेवक
हरीशचन्द्र ठोलिया

नवनीत में से निकाला गया निर्मल घृत

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

महापण्डित टोडरमलजी के समकालीन कविवर पण्डित देवीदासजी की अनेक रचनायें उपलब्ध हैं, जिनमें कुछ प्रकाशित भी हो चुकी हैं; किन्तु प्रस्तुत कृति प्रवचनसारभाषाकवित्त अबतक अप्रकाशित ही रही है।

मेरे प्रिय छात्र एवं तलस्पर्शी विद्वान् डॉ. श्रीयांशकुमारजी सिंघई यदि इसका उद्धार नहीं करते तथा श्री हरीशचन्दजी ठोलिया के सहयोग से इसका प्रकाशन नहीं करते तो न जाने कबतक यह कृति प्रकाशन की प्रतीक्षा करती रहती; एतदर्थ मैं दोनों महानुभावों को साधुवाद के साथ-साथ हार्दिक बधाई देता हूँ।

जिनेन्द्र भगवान् के प्रवचनों (दिव्यध्वनि) का सार कालजयी प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक एक प्रचलित प्रौढ़तम कृति है। प्रमाण और प्रमेय व्यवस्था का प्रतिपादक यह ग्रन्थराज आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी कृति है, जिसमें वे आध्यात्मिक संत के साथ-साथ गुरु गंभीर दार्शनिक के रूप में प्रस्फुटित हुए हैं।

यद्यपि इस ग्रन्थराज पर अद्यावधि अनेक टीकायें लिखी गयीं हैं, जिनमें संस्कृत भाषा में लिखी गयीं टीकायें आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका एवं आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति सर्वाधिक प्रचलित हैं। हिन्दी भाषा में भी सर्वप्रथम पाण्डे हेमराजजी ने भी बालबोधिनी टीका लिखी थी, इन सबके आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ प्रवचनसारभाषाकवित्त की रचना हुई है। इस बात का उल्लेख पंडित देवीदासजी स्वयं इसप्रकार करते हैं –

प्रवचनसार यो गरंथ जाके करतार
कुंदकुंद मुनिराज भये पराक्रत के।
जाकौ शब्द कादि करके संस्कृत कीनौ
अमृतचंद्र नैं सु धारी महाव्रत के॥
तिन्हिं की परम्परा सौं पांडे हेमराज जी ने
बालबोध टीका देखि कह्यौ सोइ प्रतके।

जाकौ भेद पाइ देवीदास पुनि भाषा धर्‍यो
माखन तें होत जैसें करतार घ्रत के ॥

उक्त छन्द की अन्तिम पंक्ति में कवि कहता है कि मैंने तो इस कृति को उसीप्रकार प्रस्तुत कर दिया है जिसप्रकार मक्खन में से घी निकाल देना होता है। तात्पर्य यह है कि मक्खन तो था ही, मैंने तो मात्र उसमें से घी निकाल दिया है। इसमें मेरा क्या है ?

उक्त कथन के माध्यम से कवि यह कहना चाहता है कि मैंने कोई बड़ा काम नहीं किया है; क्योंकि मक्खन में से घी निकालना न तो असाध्य कार्य है और न ही श्रमसाध्य। एकदम सहज व सरल काम है।

इस कृति को प्रस्तुत करने की प्रेरणा कवि को पण्डित श्री बनारसीदासजी के बनारसीविलास को देखकर मिली थी। इसका उल्लेख कवि इसी ग्रन्थ में चारित्र अधिकार के १३७वें छन्द में करते हैं।

इस प्रवचनसारभाषाकवित्त में मूल ग्रन्थ और उनकी टीकाओं का भाव भलीभांति समाहित हो गया है, सरलता से व्यक्त हो गया है।

यद्यपि यह सरल, सहज, सुबोध भाषा में निबद्ध है; तथापि यह ढाई सौ वर्ष पुरानी भाषा है; जो आज के पाठकों के लिए सहज बोधगम्य नहीं है। आधुनिक भाषा में इसका अनुवाद होना भी अत्यन्त आवश्यक था। यह कार्य डॉ. श्रीयांशकुमारजी सिंघई ने करके सिद्धान्त और अध्यात्मप्रेमी समाज का उपकार ही किया है।

मैंने इसके पद्यों का भरपूर उपयोग अपने प्रवचनसार अनुशीलन में किया है। यह ग्रन्थ लगभग पूरा ही उसमें समाहित कर लिया है।

पण्डित देवीदासजी के प्रवचनसारभाषाकवित्त के समान प्रवचनसार परमागम नामक एक कृति और भी प्राप्त होती है; जिसकी रचना कविवर पण्डित वृन्दावनदासजी ने की है, वह प्रकाशित हो चुकी है। उसका भी भरपूर उपयोग मैंने अपने प्रवचनसार अनुशीलन में किया है।

तत्त्वजिज्ञासु अध्यात्मप्रेमी समाज इस कृति का भरपूर उपयोग करेगी – इस भावना के साथ विराम लेता हूँ।

दिनांक : ३० अक्टूबर ०६ श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

पुरोवाक्

'प्रवचनसारभाषाकवित्त' कविवर पण्डित देवीदासजी की हिन्दी पद्यमय रचना है। उक्त रचना आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी प्रणीत प्रवचनसार परमागम के मर्म को हृदयंगम करके रची गयी है। कविवर ने प्रवचनसार परमागम के दार्शनिक-सैद्धान्तिक एवं मुनि आचार विषयक विवेचनों को सरल, सुगम एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है, जिससे 'प्रवचनसार' जैसा गहन-गम्भीर परमागम सर्वजनग्राह्य एवं सुबोध बन गया है। समग्र कृति कविवर की आध्यात्मिक एवं तात्त्विक प्रतिभा से आलोकित है। कवि ने काव्य शास्त्र के प्राचीन ग्यारह प्रकार के विविध छन्दों में ग्रन्थ के भावों को अभिव्यक्त किया है, जिससे विषयवस्तु सरल एवं रोचक बन गई है।

प्रस्तुत कृति में कवि की अध्यात्मरसिकता, तत्त्वनिष्ठा एवं समर्पण भावना का भलीभांति प्रस्फुटन हुआ है। उनकी अध्यात्मरसिकता के प्रमाण स्वरूप निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

आतम रस अति मीठो साधो भाई आतम रस अति मीठो।
स्याद्वाद रसना बिनु जाको मिलत न स्वाद गरीठो॥

इसी तरह आत्मानुभव को सारभूत दर्शाते हुए कविवर लिखते हैं –

आतम अनुभव सार जगमांहि आतम अनुभव सार।
समरस मय तन-मन-सुवचन कृत रहित सकल व्योपार॥

प्रस्तुत कृति 'प्रवचनसारभाषाकवित्त' भी मूलभाववाही एवं तत्त्वस्वरूप प्रदर्शक है। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार की ८०वीं गाथा इस प्रकार है –

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

इस गाथा को कविवर निम्नलिखित कुण्डलिया छन्द में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं –

पहिचानै अरिहन्त के दरब सुगुन परजाई।
जानैं जो जिय आपनौं आप स्वरूप सु ताई।।
आप स्वरूप सु ताइ निरखि निश्चैकरि जैसो।
वीतराग सर्वज्ञ देव तिन्हि कौ पद तैसौ।।
मोह कर्म को नाश होहि यह उद्यम ठानै।
लखै सुद्ध अरिहंत सुद्ध निज गुन पहिचाने।।

इस प्रकार से ही कविवर ने अपनी काव्यप्रतिभा द्वारा प्रवचनसार परमागम के मूल भावों को सरस एवं मनोहारी पद्यों में व्यक्त कर गूढ गंभीर सिद्धान्तों को अत्यधिक सरल एवं सुबोध बना दिया है। कविवर की समग्र कृति पढने योग्य एवं रसास्वादन योग्य है। सुविज्ञ पाठक अवश्य ही इस कृति के प्रकाशन से लाभान्वित होंगे – ऐसा मेरा विश्वास है।

इस पाण्डुलिपि का कुशल सम्पादन एवं सटीक अनुवाद करके उसे प्रकाश में लाने हेतु विशेष परिश्रम जैनदर्शन एवं संस्कृत-प्राकृत भाषा के जानकार विद्वान् डॉ. श्रीयांशकुमारजी सिंघई, रीडर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग राष्ट्रिय संस्थान (मानित विश्व-विद्यालय), जयपुर परिसर, जयपुर ने किया है। उनका यह कार्य अत्यंत प्रशंसनीय है। उनके प्रयास से यह कृति सुगम एवं सर्वजनग्राह्य बन गई है। एतदर्थ वे धन्यवाद एवं बधाई के पात्र हैं।

आशा है आत्मार्थी, जिज्ञासु पाठकों द्वारा अवश्य ही प्रस्तुत कृति का स्वागत होगा और वे उसमें निहित तत्त्वज्ञान से लाभान्वित हो सकेंगे।

– डॉ. उत्तमचन्द जैन (प्राचार्य)
श्री दिगम्बर जैन मंदिर के पास,
नेहरु वार्ड, सिवनी (म.प्र.)

श्रीमती विमला ठोलिया (मैनादेवी)

जन्म : 20.9.1935 देहावसान : 27.9.2005

जिनकी स्मृति में यह ग्रंथ उनके परिवार जनों ने प्रकाशित किया है।

विषयानुक्रमणिका

(१२५), निश्चयचारित्र का स्वरूप (१२५), चारित्र और आत्मा की एकता (१२६), आत्मा के शुभाशुभ शुद्ध भावों की एकता का कथन (१२७), वस्तु और उसके स्वभाव परिणमन की एकता का कथन (१२८), शुभ परिणाम और शुद्ध परिणाम दोनों चारित्र हैं उनके फल का कथन (१२९), अत्यंत हेय अशुभोपयोग चारित्र का घातक है उसके फल का कथन (१२९), अत्यंत उपादेय शुद्धोपयोग के फल का कथन (१३०), शुद्धोपयोगी मुनि का स्वरूप (१३१), शुद्धोपयोग के लाभ से शुद्धात्मा का लाभ (१३२), शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञानमय शुद्धात्मा है (१३३), स्वयंभू प्रभ के उत्पाद व्यय ध्रौव्यता (१३३), उत्पादादि द्रव्य का स्वरूप (१३४), शुद्धोपयोग से आत्मा के ज्ञान आनंद की प्राप्ति (१३४), अतीन्द्रिय भगवान् का स्वरूप (१३५), केवलज्ञानी के प्रत्यक्षपना है (१३६), केवलज्ञान की प्रत्यक्षता (१३७), आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है (१३८), कुमति आत्मा को ज्ञान प्रमाण नहीं मानता है (१३९), कुमति के मत का निषेध (१३९), जैसे ज्ञान सर्वगत है वैसे ही आत्मा सर्वगत है (१४१), ज्ञान और आत्मा एक है और सुखादि स्वरूप है (१४२), ज्ञान ज्ञेय में नहीं जाता है और ज्ञेय ज्ञान में नहीं आता है (१४३), निश्चय से ज्ञान ज्ञेय की विचित्रता (१४४), आत्मा व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में प्रवेश करता है उसका दृष्टान्त कथन (१४५), जैसे ज्ञेय में ज्ञान है वैसे उपचार से ज्ञान में पदार्थ हैं इसका कथन (१४६), उपचार से आत्मा और पदार्थों के ज्ञेय ज्ञायक संबंध है तथापि उनमें ग्रहण त्याग रूप परिणति का अभाव होने से अत्यंत भेद है इसका कथन (१४६), केवलज्ञान से ही आत्मा को जानते हैं अन्य ज्ञान से नहीं – इस मान्यता का निषेध कर केवली श्रतु केवली की समानता का कथन (१४७), ज्ञान श्रुतोपाधि का निषेध (१४८) ज्ञान से आत्मा को भिन्न मानने का निषेध (१४९), ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है यह भेद दिखाते हैं (१५०), केवलज्ञान में द्रव्यों की अतीत अनागत पर्यायें वर्तमानवत् झलकती हैं यह कथन (१५१), जो पर्यायें वर्तमान नहीं हैं उनका वर्तमानपना दिखाते हैं (१५२), असद्भूत पर्याय ज्ञान में प्रत्यक्ष हैं (१५३), इन्द्रियज्ञान अतीत अनागत पर्यायों को जानने में असमर्थ है (१५३), अतीन्द्रिय ज्ञान सभी को जानता है (१५४), क्षायिक

अतीन्द्रियज्ञान में इष्ट अनिष्ट पदार्थों की सविकल्प रूप क्रिया नहीं है (१५५), ज्ञान बंध का कारण नहीं है ज्ञेयों में जो राग द्वेष परिणति है वही बंध का कारण है (१५६), केवली भगवान् के कर्म का उदय और योग की क्रिया है फिर भी राग द्वेष का अभाव होने से बंध नहीं है (१५७), अरहंत के पुण्य कर्म का उदय बंध का कारण नहीं (१५८), जैसे केवली के परिणाम में विकार नहीं वैसे संसारी जीवों में विकार का अभाव नहीं (१५९), अतीन्द्रिय ज्ञान सबका ज्ञायक है (१५९), जो सबको नहीं जानता है वह एक को भी नहीं जानता है (१६०), जो एक नहीं जानता वह सबको नहीं जानता है (१६१) पदार्थों को क्रम से जानने वाला ज्ञान सर्वगत नहीं है (१६२), एक समय में सबको जानने वाले ज्ञान से सर्वज्ञसिद्धि (१६२), केवली की ज्ञान क्रिया का फल बंध का कारण नहीं है (१६३), ज्ञान और सुख आत्मा से भिन्न नहीं है (१६३), अतीन्द्रिय सुख का कारण अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है (१६५), इन्द्रिय सुख का कारण इन्द्रिय ज्ञान हेय है (१६५), इन्द्रिय मूर्तिक पदार्थ को जानती है फिर एक बार में ही जान लेने में वह असमर्थ है (१६६), इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है (१६८), परोक्ष ज्ञान का लक्षण (१६८), प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण (१६८), प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान निश्चय से सुख है (१६९), केवली को जानने रूप परिणाम से खेद होता है अत: वह ज्ञान निश्चय से सुख नहीं है इसका निषेध (१७०), केवलज्ञान सुख रूप है (१७१), केवली भगवान् के अतीन्द्रिय सुख पारमार्थिक है (१७१), परोक्ष ज्ञानियों के पास पारमार्थिक सुख नहीं है (१७२), जब तक इन्द्रिय ज्ञान है तब तक सुख नहीं है (१७३), शरीर सुख का कारण नहीं है (१७४), आत्मा सुख स्वभावी है अत: इन्द्रिय विषय सुख का कारण नहीं है (१७६), दृष्टान्त से आत्मा के ज्ञान और सुख का कथन (१७७), शुभोपयोग का स्वरूप (१७८), शुभोपयोग से इन्द्रिय सुख होता है (१७९), इन्द्रिय सुख दुख ही है (१७९), शुभाशुभ उपयोग के फल में पुण्य पाप की समानता (१८०), शुभोपयोग से अन्य पुण्य की विशेषता से ही दूषण का निमित्त है (१८१), पुण्य भी दुख का कारण है (१८१), पुण्य में दु:ख के बीज प्रगट हैं (१८२), पुण्य से जनित इन्द्रिय सुख बहुत प्रकार से दु:ख ही है (१८३), दु:ख की अपेक्षा पुण्य पाप की समानता

(१८४), पुण्य पाप का फल हेय है (१८५), शुभाशुभ क्रिया बंध का कारण तथा श्रुत क्रिया मुक्ति स्वरूप है (१८६), पुण्य पाप में भेद नहीं है (१८७), शुद्धोपयोगी का स्वरूप (१८७), पापारंभ छोड़कर शुभ क्रिया करने मात्र से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं है (१८९), मोह सेना को जीतने का विचार (१८९), मोह का विनाश होने पर शुद्ध आत्मा का लाभ है (१९१), अरहंत ने स्वयं अनुभव कर उसे ही एक मोक्षमार्ग बताया है (१९२), शुद्धात्म लाभ के पातक मोह का स्वभाव और भूमिका (१९३), अनिष्टकारी होने से त्रिविध मोह नाश करने योग्य है (१९४), मोह के नाश के उपाय का विचार (१९५), जिन प्रणीत शब्द ब्रह्म में सभी पदार्थों का यथार्थ कथन है (१९६), मोह नाश का उपाय जिनोपदेश है जिसके लाभ का उद्यम पुरुषार्थ कहलाता है (१९७), स्व-पर भेदविज्ञान (१९८), स्व-पर भेदविज्ञान की सिद्धि जिनागम से करना योग्य है (१९९), वीतराग कथित पदार्थ के श्रद्धान विना धर्म लाभ नहीं (२००), मुनि का स्वरूप (२००)।

ज्ञेयतत्त्व अधिकार २०२-३११

पदार्थ का लक्षण (२०२), पदार्थ को द्रव्य गुण पर्याय रूप न मानने वाला परसमय मिथ्यादृष्टि है (२०२), स्वसमय परसमय का कथन (२०३), द्रव्य का लक्षण (२०४), स्वरूपास्तित्व का लक्षण (२०४), सादृश्य अस्तित्व का लक्षण (२०५), दोनों का विस्तार कथन (२०६), द्रव्य से सत्ता की पृथकता नहीं (२०८), सत् (द्रव्य) का लक्षण (२०९), उत्पाद व्यय और ध्रौव्य परस्पर जुदे नहीं हैं (२०९), उत्पादादि के समय भेद नहीं है एक ही समय में तीनों हैं अत: इनकी युगपत् नय संज्ञा है (२११), एक द्रव्य पर्याय रूप द्वार से उत्पाद व्यय ध्रौव्यता का कथन (२१२), सत्ता और द्रव्य परस्पर अभिन्न है (२१४), पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण (२१५), यहाँ शिष्य का तर्क (२१७), गुरु का उत्तर (२१७), दृष्टान्त पुरस्सर अन्यत्व का लक्षण (२२०), द्रव्य में गुण गुणी का सर्वथा अभाव रूप भेद नहीं मात्र अतद्भाव है (२२१), सत्ता स्वरूप द्रव्य के गुण गुणी भाव है (२२२), गुण गुणी का भेद द्रव्य से नहीं है (२२३), सत् का उत्पाद और असत् का उत्पाद

संतति की उत्पत्ति का अंतरंग कारण (२६५), पुद्गलीक प्राणों के नाश का अंतरंग कारण (२६६), आत्मा परभावों से भिन्न है (२६७), व्यवहार जीव की चार गति स्वरूप पर्यायों का स्वरूप (२६८), आत्मा पर द्रव्यों से मिल रहा है फिर स्वपर भेदविज्ञान कराने के लिए स्वरूपास्तित्व का कथन (२६९), आत्मा के परद्रव्यों से संयोग होने के कारण शुभोपयोग और अशुभोपयोग है (२७०), शुभोपयोग का स्वरूप (२७२), अशुभोपयोग का लक्षण (२७३), शुभाशुभभाव के नाश का कारण (२७४), शरीरादि परद्रव्यों में मध्यस्थ भाव का कथन (२७५), निश्चयनय से शरीरादि परद्रव्य हैं (२७६), आत्मा में परद्रव्य और उसके कर्तृत्व का अभाव है (२७७), पुद्गल परमाणु में बंध पर्याय का कथन (२७७), परमाणु के स्निग्ध रुक्ष गुणों का कथन (२७८), किस जाति के स्निग्ध रुक्ष गुण परिणामों से बंध होता है यह कथन (२७९), बंध की विधि का कथन (२८०), आत्मा में पुद्गलपिण्ड के कर्तृत्व का अभाव है (२८२), आत्मा पुद्गलपिंड का प्रेरक नहीं है (२८३), पुद्गल पिण्ड रूप कर्म का कर्ता आत्मा नहीं है (२८४), आत्मा नोकर्म रूप शरीर का अकर्ता है (२८५), आत्मा के पंच शरीरों का अभाव है (२८६), जीव का शुद्ध स्वरूप उससे अन्य में नहीं है (२८७), अमूर्तिक आत्मा के स्निग्ध रुक्ष गुण का अभाव है तो बंध कैसे (२८७), इसका उत्तर (२८८), भावबंध का स्वरूप (२८९), भावबंध के अनुसार द्रव्यबंध का स्वरूप (२९०), पुद्गल कर्म का बंध पुद्गल कर्म से, जीव का बंध अशुद्ध रागादि भावों से होता है, जीव पुद्गल का बंध तीन भांति कहा है (२९०), द्रव्य बंध का कारण भाव बंध है (२९१), रागादि भाव ही निश्चय बंध है (२९२), द्रव्य बंध का कारण रागादि की विशेषता है (२९३), बंध स्वरूप की विशेषता से युक्त शुभ भावों तथा बंध की विशेषता से रहित शुद्ध भावों के कार्य स्वरूप का कथन (२९४), स्व द्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति के लिए जीव और पुद्गल के भेद का कथन (२९५), स्वद्रव्य की प्रवृत्ति से भेदज्ञान तथा परद्रव्य की प्रवृत्ति करने से उसका अभाव होता है (२९५), आत्मा का कर्म क्या है इसका कथन (२९६), आत्मा के पुद्गल परिणाम

कैसे नहीं इस सन्देह का निवारण (२९७), आत्मा के पुद्‌गल कर्मों का ग्रहण त्याग कैसे होता है (२९८), पुद्‌गल कर्म के उदय से जीव किस प्रकार के स्वभाव से ही कर्म करने लगता है, उसका कथन (२९९), भेदनय की विवक्षा से एक आत्मा को बंध स्वरूप दिखाते हैं (२९९), निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों से उपर्युक्त बंध विवेचन में अविरोध कथन (३००), अशुद्ध नय से अशुद्ध आत्मा का लाभ होता है (३०२), शुद्ध नय से शुद्ध आत्मा का लाभ होता है (३०३), आत्मा अविनाशी ध्रुव वस्तु है जिसका ग्रहण योग्य है (३०३), पुद्‌गल आदि अन्य ग्रहण करने योग्य नहीं है (३०४), शुद्ध आत्मा की प्रवृत्ति करने से क्या होता है (३०५), मोह ग्रंथि के खुल जाने से क्या होता है (३०६), आत्मा का निश्चल ध्यान उसकी अशुद्धता को दूर कर देता है (३०७), केवलज्ञानी क्या ध्याते हैं (३०७), शुद्धात्मा की प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है (३०९), शुद्धात्मा की प्रवृत्ति (चारित्रिक वृत्ति) मोक्षमार्ग स्वरूप है (३१०)।

चारित्र अधिकार **३१२-४१३**

प्रतिज्ञा वचन (३१२), आदिनाथ जूं कों नमस्कार (३१२), शेष तीर्थङ्करों की वंदना के व्याज से साम्यभाव का कथन (३१३), साम्यभाव संयुक्त गणधरादि मुनियों को नमस्कार (३१३), मुनि बनने की इच्छा रखने वाला पहले क्या करे (३१४), आचार्य की शरण में विनय पूर्वक बैठे (३१५), शिष्य की मनुहार और गुरु का संबोधन (३१५), मुनि दीक्षा के योग्य कर्तव्यता का उपदेश (३१६), द्रव्य भाव लिङ्गी मुनि का स्वरूप (३१७), द्रव्य शिव लिङ्ग को धारण करने पर मुनि की समस्त क्रिया का अंगीकार है (३१९), दीक्षित श्रमण सामायिक दशा को पाकर भी कुछ काल में छेदोपस्थापना करता है (३२०), दीक्षा दाता आचार्य इस मुनि को उपदेश देकर संयम में स्थापित करते हैं (३२१), संयम रूप वृक्ष भंग होने पर उसे जोड़ने की विधि (३२२), मुनिपद के भंग में कारण परद्रव्यों के संबंध में कथन (३२३), मुनि पद की पूर्णता का अपने आत्मा का संबंध ही है अतः उसमें लगना ही योग्य है (३२४), मुनि के निकटवर्ती सूक्ष्म परद्रव्यों में रागभाव से होने वाले

संबंध का निषेध है (३२५), शुद्धोपयोग रूप यतित्व का भंग कैसे है (३२६), संयम का घात दोई भांति दिखावैं है (३२७), सर्वथा प्रकार से शुद्धोपयोग रूप संयम का घात निषेध योग्य है (३२८), मुनि को सर्वथा परिग्रह का निषेध है (३२८), शुद्धोपयोग रूप संयम के घात का निषेध ही अंतरंग शुद्धभावों से बाह्य परिग्रह का त्याग है (३२९), सर्वथा प्रकार अंतरंग संयम का घात परिग्रह ही से होता है (३३०), परिग्रह का विशेष कथन (३३१), अपवाद स्वरूप जो परिग्रह मुनि को निषेध योग्य नहीं है उसका कथन (३३२), उत्सर्गमार्ग ही वस्तु का धर्म है अपवाद नहीं (३३४), अपवाद किस अपेक्षा से है उसका कथन (३३५), मुनि को शरीर मात्र परिग्रह का निषेध नहीं है उसके पालन की विधि (३३६), योग्य आहार-विहार करने वाला मुनि उससे रहित है (३३८), योग्य आहार किस कारण से होता है इसका कथन (३३९), योग्य आहार का स्वभाव (३४०), उत्सर्ग और अपवाद मार्ग में आचार की स्थिरता का कारण मैत्री भाव है (३४३), मुनि धर्म की अपेक्षा से मोक्षमार्ग के कथन की प्रतिज्ञा (३४५), आगम ज्ञान के विना कर्म नहीं छूटते हैं (३४६), मोक्षमार्गी जनों को एक नेत्र सिद्धान्त है (३४७), आगम नेत्र से ही मुनि सब जानते हैं (३४८), सिद्धान्त ज्ञान के माफिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है (३४८), आगमज्ञान, तत्त्वश्रद्धान और संयमभाव की एकता के विना मोक्षमार्ग नहीं है (३४९), इन तीनों के होने पर आत्मज्ञान को ही मुख्य रूप से मोक्षमार्ग कहा है (३५०), आत्मज्ञान विना तीनों की एकता अकार्यकारी है (३५१), आत्मज्ञान सहित तीनों की एकता जिनके हैं ऐसे मुनि का कथन (३५१), रत्नत्रय की सिद्धि से सम्पन्न मुनि को किस लक्षण से जानते हैं (३५२), रत्नत्रय की पूर्ण सिद्धि से मुनिपद का विशेष कथन (३५४), मोक्षमार्ग हीन मुनि का कथन (३५४), जिस श्रमण में तीनों की एकाग्रता है उसके ही मोक्षमार्ग है (३५५), शुभोपयोगी मुनि के कथन की प्रतिज्ञा (३५६), शुभोपयोगी मुनि का स्वरूप या लक्षण (३५७), शुभोपयोगी की प्रवृत्ति (३५८), शुभोपयोगी मुनि को शुद्धोपयोगी की वैयावृत्ति का निषेध नहीं है (३५९), शुभोपयोगी मुनि की प्रवृत्ति (३५९), क्रिया शुभोपयोगी मुनि के है शुद्धोपयोगी के नहीं (३६०), वैयावृत्तादि क्रिया न करने वाला मुनि संयम का

विरोधी है (३६१), परोपकार वृत्ति किसकी करना चाहिए इसका कथन (३६२), किस समय धर्मात्मा के वैयावृत्त्य करें (३६३), शुभोपयोगियों की वैयावृत्ति के लिए अज्ञानी लोगों से भी संभाषणा करें (३६४), शुभोपयोग की मुख्यता गौणता किसे है (३६४), शुभोपयोग रूप कारण के विपरीत होने से फल की विपरीतता है (३६५), कारण की विपरीतता का कथन (३६५), पुनः कारण की विपरीतता से फल की विपरीतता का कथन (३६७), कारण की विपरीतता से उत्तम फल की सिद्धि नहीं है (३६८), उत्तम फल का कारण उत्तम पात्र है (३६९), उत्तम पात्रों की सेवा सामान्य जन करते हैं (३७१), विनयादि क्रिया का विशेषता से कथन (३७२), जो द्रव्यलिंगी हैं उनकी विनयादि क्रिया का निषेध है (३७२), भावलिंगी का लक्षण विनयादि का कथन (३७३), यथार्थ मुनिपद से संयुक्त साधक की विनयादि नहीं करे तो चारित्र भ्रष्ट होता है (३७४), यतिपने से उत्कृष्ट साधक को जो अपने से हीन जानता है या उससे हीनपने का आचरण करता है तो अनंत संसारी होता है (३७५), यतिपने से उत्कृष्ट होकर यदि कोई गुणहीन की विनयादि करता है तो चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है (३७६), कुसंगति का निषेध है (३७६), अज्ञानी लौकिक मुनि का लक्षण (३७७), भली संगति करना योग्य है (३७८), पंचरत्न सिद्धान्त का मुकुट शुभोपयोगद्वार है (३७९), प्रथम संसार रत्न का कथन (३७९), मोक्षतत्त्व का कथन (३८०), मोक्ष के साधनतत्त्व का कथन (३८१), मोक्ष तत्त्व का साधनतत्त्व सर्व मनोवांछित अर्थों की सिद्धि का स्थान है (३८२), शिष्य के लिए शास्त्र का फल (३८२), ग्रंथकर्ता आचार्यों के कथन की प्रतिज्ञा (३८३), प्रवचनसार ग्रंथ की परम्परागत प्राप्ति और अपनी लघुता का कथन (३८३), जीव की तीन अवस्थाओं के वर्णन की प्रतिज्ञा (३८५), जीव की तीनों अवस्थायें (३८६), बहिरात्मा का लक्षण (३८६), बहिरात्मा का स्वरूप (३८७), अन्तरात्मा (३८९), जघन्य अंतरात्मा का लक्षण (३८९), जघन्य अन्तरात्मा का स्वरूप (३९०), मध्यम अंतरात्मा कौन (३९१), मध्यम अंतरात्मा का लक्षण (३९१), महाव्रती का लक्षण (३९२), उत्तम अंतरात्मा का कथन (३९३), परमात्मा का लक्षण (३९५), नवलब्धि के स्वरूप से परमात्मा का कथन (३९५), सयोगी भगवान् का

प्रस्तावना

प्रवचन के परिप्रेक्ष्य में विचारात्मक दृष्टि

प्रत्येक प्राणी का जीवन अमूल्य है, वह अनेकविध विविधताओं-विचित्रताओं से भरा हुआ भी है। मोहाविष्ट होने से उसका यह जीवन अथाह आकुलताओं का एक ऐसा दरिया है, जहाँ अपरिमित अतृप्त कामनायें व वासनायें हिलोरें लेती रहती हैं तथा अनचाहे ही दु:खानुभूतियों का जरिया बन जाती हैं। अपनी इन कामनाओं को साकार करने के लिए या भोग विषयक वासनाओं से अपनी तृप्ति के लिए मोही प्राणी जो भी प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है, वह अज्ञानमूलक होने के कारण यथार्थ से परे ही होता है।

सामान्यत: मोही प्राणी समुपलब्ध एवं बुद्धिगम्य पर-पदार्थों का कर्ता-भोक्ता बन जाता है और उन्हें अपने अनुरूप बनाने या बनाये रखने के लिए सप्रयत्न क्रियाशील भी रहता है। अपने प्रयत्न को सफल बनाने में मन-वचन-काय के माध्यम से उसका जो आचरण होता है, वह उसके अज्ञानान्धकार को सघन एवं प्रगाढ बनाने में निमित्त भी बनता जाता है। फलस्वरूप अज्ञानमूलक मोह-राग-द्वेषादि भाव उसमें उत्पन्न होते रहते हैं, जिनका अनुभव करते रहना या उनमें ही जीवन जीते रहना उसे दुखद ही होता है। मन-वचन-काय के हलन-चलन या हरकत स्वरूप योग परिस्थितियों के और क्रोधादि भाव स्वरूप कषाय परिणतियों के वशीभूत हुआ संसारी प्राणी किसी भी ज्ञेयवस्तु को या उसकी वास्तविक परिणति को सही-सम्यक् नहीं जान पाता है। यहाँ यह ही संसारी प्राणियों के लिए यथार्थ से परे हो जाने का अभिप्राय है। वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही नहीं जानना व नहीं मानना यथार्थ से परे होना ही तो है। जो सत्य नहीं हो अर्थात् वस्तुस्वरूप से मेल नहीं रखता हो वह ज्ञान या वचन यथार्थ कैसे हो सकता है। यथार्थ ज्ञान और व्यवहार के लिए जरूरी है कि ज्ञाता या वक्ता वैसा ही जाने और बोले अर्थात् वचन-व्यवहार करे जैसा कि वस्तु या पदार्थ का स्वरूप है। वस्तु या उसके स्वरूप को ज्ञान तदनुरूप न जाने और अयथार्थ जानकर अयथार्थ ही वचन व्यवहार करने लगे तो उसके ज्ञान और वचन दोनों ही यथार्थ नहीं होते हैं। किसी के भी ज्ञान और वचनों की प्रामाणिकता के आकलन का आधार वस्तु ही तो है।

जिन वस्तुओं या ज्ञेयपदार्थों के लिए जो वचन प्रयुक्त होते हैं, उनकी प्रामाणिकता के लिए जरूरी है कि वे वचन वस्तु को यथार्थ जानकर ही बोले गये हों। यदि वक्ता यथार्थ ज्ञान से सम्पन्न नहीं होता है तो उसके वचन अप्रमाण ही होते हैं। स्पष्टत: कहा जा सकता है कि वचनों की प्रामाणिकता के लिए वक्ता में यथार्थ ज्ञान का होना अत्यंत अपरिहार्य है। इतना ही नहीं वक्ता का राग-द्वेष से परे होकर जानना अर्थात् पक्षपातशून्य बनकर जानना आवश्यक है, क्योंकि यदि वक्ता यथार्थ ज्ञान से हीन होगा तो वस्तु को अन्यथा ही बतायेगा और रागी-द्वेषी होगा तो अपने अभिलषित के अनुसार ही वस्तु को बताने लग जायेगा, जो यथार्थ नहीं हो सकता है। इस प्रकार वस्तु के यथार्थ ज्ञान के अभाव में अज्ञानी या असत्य जाननेवाला वक्ता सही प्ररूपण कर ही नहीं सकता है तथा रागी-द्वेषी वक्ता कदाचित् सही जानकर भी वस्तु को वैसे ही प्ररूपित करेगा, जिससे उसके रागादि रूप अभीष्ट की सिद्धि होना संभव हो सकती हो। अत: अज्ञानी या रागी-द्वेषी वक्तागण यथार्थ वक्ता हो ही नहीं सकते हैं। भले ही वे सही जानने का दंभ करते हों, मीठा बोलते हों या हित-मित-प्रिय वचन-व्यवहार भी किया करते हों।

जो यथार्थ वक्ता नहीं हैं, उनके वचन पूजा-भक्ति, दया-दान, शम-दम, सत्य-अहिंसा, हितोपदेश-परोपकार आदि के प्ररूपक होने से सुवचन तो कहे जा सकते हैं, किन्तु उन्हें प्रवचन कतई नहीं कहा जा सकता है। मेरी दृष्टि में यथार्थ वक्ता ही प्रवचनशील हो सकता है। वह कभी भी अपने वक्तव्य विषय के बारे में अज्ञानी नहीं होता है, अपितु स्वयं के अनुभव से प्रसूत एवं तर्कसंगत युक्तियों से निपूत अपने ज्ञान द्वारा वक्तव्य वस्तु को अच्छी तरह से जाननेवाला ही होता है। वह खुद को होनेवाली जानकारी में एवं जाननक्रिया में अपने अभिनिवेशों को भी आड़े नहीं आने देता है तथा विना किसी पक्षपात अथवा राग-द्वेष के मात्र उसे जान लेता है। जो जान पाता है, उसे युक्ति के अवलम्बन से परखता है और अपने अनुभव की कसौटी पर कसता भी है। संतुष्ट भी होता है कि मेरे द्वारा जो जाना गया है, उस ज्ञान में तथा ज्ञेय वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। जैसा मैंने जाना है ज्ञेय वस्तु भी वैसी ही है। इस प्रकार विवक्षित ज्ञेय के प्रति अपनी बोधानुभूति से संतुष्ट व्यक्ति ही यथार्थविद् या तत्त्ववेत्ता कहा जा सकता है। यही तत्त्ववेत्ता या यथार्थविद् जब स्वानुभूत विषय या स्व बुद्धिगम्य वस्तु को समझाने लगता है तो उसके अपने इस प्रयास में सहज ही उसके द्वारा जिन वचनों का प्रयोग होता है, वे वचन ही वस्तुस्वरूप का यथार्थ निरूपण करने वाले होने से यथार्थ वचन या प्रवचन होते हैं। इस प्रकार यथार्थ वक्ता

ही प्रवचन का अधिकारी होता है। उसके वचन ही प्रवचन कहे जा सकते हैं। गली-कूचे में भटकने वाले किसी रथ्यापुरुष के तथा अपने ही स्वाभिप्रेत स्वार्थजन्य प्ररूपण में या अयथार्थ पंथ विषयक अभिनिवशों में लिप्त किसी विद्वान् या विज्ञ वक्ता के वचन प्रवचन नहीं हो सकते हैं।

प्रवचन तो उन वचनों को ही कहा जा सकता है, जो वक्ता के यथार्थ ज्ञान और पक्षपात रहित राग-द्वेष विहीन विचारों के वाहक होते हैं, जिनका एकमात्र प्रयोजन वस्तुविषयक सत्य को ही उजागर करने का होता है। जो वचन काल्पनिक हों, अन्धविश्वासों की पुष्टि में तत्पर हों, सत्य से परे हों, विरुद्ध भासित होते हों, वितण्डा या विवाद के जनक हों, हिंसादिक क्रियाकलापों को धार्मिक मान्यता देते हों, कदाचारों के प्रेरक हों, कुरीतियों के समर्थक हों तथा जो मैं कहता हूँ, वही सत्य है, के अहंकार में लिप्त हों तो उन्हें बोलने वाला या बताने वाला वक्ता साधारण हो या विशिष्ट उसके वचन-प्रवचन की श्रेणी में परिगणित नहीं किये जा सकते हैं।

प्रवचन का तात्पर्य

प्रवचन का तात्पर्य है प्रकृष्ट वचन। अपनी परिधि में जो भी प्रकर्षतया उत्कृष्ट या सर्वश्रेष्ट होता हे उसे प्रकृष्ट समझना चाहिये। जीवनानुभूति के सन्दर्भ में प्रकृष्ट अर्थात् प्रकर्षतया पाये जाने योग्य सुख ही होता है उस सुख को देने वाला जो भी है वही सुखद है, सुख का साधन है। इसप्रकार जो वचन प्राणी मात्र के लिये सुख का साधन बन जायें, आत्मा को जानने पहिचानने का माध्यम बन जायें, उन्हें प्रवचन कहा जा सकता है। इतना ही नहीं जिन वचनों को सुनकर विषय भोगों को भोगने की सुध विसर जाये, अपनी असलियत समझ में आने लगे, अपने इस मनुष्य जीवन की सार्थकता समझ में आ जाये और अपना मूल कर्त्तव्य विस्मृत न होने पाये, सम्यक्त्व की दिशा में कदम बढ़ने लगें, सम्यक्त्वाचरण पूर्वक संयमाचरण के लिये मन ललचाने लगे, वैराग्य की वयार मन ही मन संचरित होती रहे, न किसी से राग रहे और न ही द्वेष, मोह की खुमारी उतर जाये, अपनी सुध आने लगे, देव, गुरु एवं धर्म के विषय में समीचीन भावना बनने लगे, उन्हें सही समझकर उनके अनुयायी बनने या बने रहने का इरादा पक्का होने लगे और चरण भी उनका अनुसरण करने को चल पड़ें, जीवन में सदाचरण का मङ्गलाचरण होंने लगे, आकुलता मिटने लगे, समता की सुगंध से बुद्धि प्रसन्न हो जाये, उसमें समानता का प्रभाव जम जाये, समाधि का आनन्द समझ में आने लगे तो समझना चाहिए कि जो वचन सुने हैं, वे

प्रवचन ही हैं। प्रवचन सुना तो कोई भी सकता है, किन्तु प्रवचनों की प्रादुर्भति मात्र विवेकी और वीतरागी व्यक्तित्व से ही संभव होती है।

प्रवचन के पारम्परिक स्रोत

जैन परम्परा में प्रवचन के मूलकर्ता पूर्ण वीतरागी एवं पूर्ण ज्ञानी अर्हत्परमेष्ठी माने गये हैं, क्योंकि उनके निमित्त से निस्सरित वचन दिव्यध्वनि के रूप में प्रवचन ही कहलाते हैं। जिन्हें सर्व विशुद्धियों से सम्पन्न, चतुर्विध ज्ञान के धारी, ऋद्धि-सिद्धि के आधार आचार्य परमेष्ठी गणधर पदधारी मुनिवर समझ लेते हैं तथा सुने-समझे गये जिनोपदेश को द्वादशाङ्ग श्रुत में परिणत कर अपनी बुद्धि में अवधारित कर लेते हैं तथा समवशरण में जब दिव्यध्वनि नहीं खिरती है, तब पात्र श्रोताओं के लिए जिनोपदिष्ट प्रवचनों के संकलन स्वरूप द्वादशाङ्ग वाङ्मय का विशद विवेचन भी अपने वचनों द्वारा करते हैं। सर्वारम्भ परिग्रह के त्यागी महाव्रती गणधर महात्मा एकदेश वीतरागी, परमविवेकी एवं सम्यग्ज्ञानी होते हैं, अत एव वे यथार्थ वक्ता हैं, इसलिए इनके वचन भी प्रवचन ही हैं।

गणधरों के अलावा जो आचार्य सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग श्रुत को द्रव्य-भाव रूप से अपनी बुद्धि में धारण कर लेते हैं, वे श्रुतकेवली कहलाते हैं तथा एकदेशतया श्रुत को धारण करने वाले आचार्य अपने क्षयोपशम ज्ञान की सामर्थ्य के अनुसार यथायोग्य पने अङ्गधारी एवं पूर्वधारी आचार्यों की श्रेणी में आते हैं। द्वादशाङ्ग श्रुत के संवाहक-संरक्षक इन सभी आचार्यों ने अपने प्रवचनों के प्रसाद से सम्यग्ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित रखा। भगवान् महावीर के निर्वाणोपरान्त लगभग ६८३ वर्ष तक अनेक महान् आचार्यों ने द्वादशाङ्ग स्वरूप जिनोपदेश को अपनी स्मृति में संरक्षित रख कर बचाया, किन्तु जब कालदोष एवं क्षयोपशम की हीनता से स्मृति क्षीण होने लगी और अधिकांश श्रुत विस्मृति के गर्त में समाने लग गया तो तत्कालीन आचार्यों को चिन्ता हुई। फलस्वरूप श्रुत को बचाने के यथाशक्य प्रयत्न भी हुये। श्रुतधर आचार्यों के सम्मेलन आदि होते रहे। तथापि द्वादशाङ्ग को बचा पाना संभव नहीं रहा आचार्यो की स्मृति का भ्रंश हो जाने से द्वादशाङ्ग वाङ्मय प्राय: लुप्त होता गया, अन्तत: गुणधर, धरसेन को अपनी स्मृति में शेष रहे श्रुत को लिपिबद्ध कर लिखित रूप में सुरक्षित करने का विकल्प आया और लिखित रूप से श्रुत को संरक्षित करने के लिए उन्होंने यथासंभव प्रयास किया भी। परिणामत: पेज्जदोसपहुदी (कसायपाहुड) और षट्खण्डागमसुत्तं का लिखित शास्त्र सम्पदा के रूप में प्रादुर्भाव हो गया।

इसके बाद तो अपनी-अपनी स्मृति में संरक्षित श्रुत को लिखने का क्रम चल पड़ा और अनेक श्रुतधराचार्यों ने अनेक शास्त्र लिखे तो जिनोपदेश स्वरूप प्रवचनों की वानगी के प्रतीक के रूप में आज भी अपने गौरव से प्रतिष्ठित हैं। जीवन मूल्यों की पहिचान के लिए उनकी उपादेयता आज अपरिहार्य मानी जा सकती है। मानव कल्याण के लिए जिन मूलभूत तत्त्वों एवं प्रयोगात्मक परिचिति के परिज्ञान की आवश्यकता है। उनका यथार्थपरक विवेचन जैन शास्त्रों में उपलब्ध है। वीतरागी एवं प्रखर विज्ञानी जैन महर्षियों की मेधा और साधना का संगीत जैन शास्त्रों में समाहित है। सत्य, अहिंसा, सर्वोदयी समभाव, सुख-शान्ति, निराकुलता, समन्वयात्मक सहिष्णुता आदि के यथार्थ निरूपण से जैन वाङ्मय की महत्ता अपरिहार्य हो गयी है। वर्ग संघर्ष और जातिवाद के जहर को निष्प्रभावी करने के उपाय यहाँ प्ररूपित हैं। जीवन की प्रकृष्टता के लिए जो भी उपदेश स्वरूप सुविशद, तार्किक विवेचन तथा निर्मल आचरण विधान मनुष्य के लिए जरूरी है वह जैन शास्त्रों के वचनों से सहज ही जाना जा सकता है। मेरा स्पष्ट अभिमत है कि जैन शास्त्र वीतरागी सन्तों, विवेक सम्पन्न सम्यग्ज्ञानी महर्षियों द्वारा यथार्थ को निरूपित करने की दृष्टि से ही लिखे गये हैं, अत: वे प्रवचनों की अमूल्य निधि हैं।

प्रवचन विषयक शास्त्रीय अवधारणा

षट्खण्डागमसुत्त की धवला टीका में महर्षि वीरसेनाचार्य ने आगम सिद्धान्त और प्रवचन को एकार्थक प्रतिपादित किया है।[१] गोम्मटसार जीवकाण्ड की जीवतत्त्व प्रबोधिनी टीका में प्रवचन शब्द का निरुक्ति अर्थ आप्त, आगम और पदार्थ बताया गया है।[२] भगवती आराधना की विजयोदया टीका में दो प्रकार से प्रवचन को परिभाषित किया गया है। जीवादि पदार्थ जहाँ अथवा जिसके द्वारा कहे जाते हैं ऐसा जिनागम[३] तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप रत्नत्रय[४] ही प्रवचन हैं। आवश्यकनिर्युक्ति की मलयगिरि वृत्ति में प्रकट, प्रधान और प्रशस्त कथनों को प्रवचन कहकर सामान्यत: श्रुतज्ञान को तथा विशेषत: सूत्र और अर्थ को प्रवचन

१ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो। – (धवला टीका १/१/१/ पृष्ठ २०)

२. प्रकृष्ट वचनं यस्यासौ प्रवचन: आप्त:, प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनं परमागम:, प्रकृष्टमुच्यते प्रमाणेनाभिधीयते इति प्रवचनं पदार्थ:। – (जीवतत्त्वप्रबोधिनी टीका (गो.जी.) गाथा १८)

३. प्रोच्यन्ते जीवादय: पदार्था: अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनं जिनागम:। – विजयो. (भग.आरा.) गाथा ३२

४. रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते। तथा चोक्तं णाणदंसणचरित्तमेगं पवयणमिति। – विजयो. (भग.आरा.) गाथा ४६)

की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[१] इसी प्रकार जीतकल्पसूत्रचूर्णि में उन प्रकट वचनों अथवा प्रधान वचनों अथवा प्रशस्त वचनों को प्रवचन कहा है, जिनके द्वारा जीवादि पदार्थ प्ररूपित होते हैं।[२] धवला टीका के अनुसार जो कहा जा सके ऐसा शब्द समूह वचन है तथा जो वचन अपने आप में प्रकृष्ट अर्थात् प्रकर्षतया उत्कृष्ट प्रयोजन का हेतु हों उन्हें प्रवचन कहते हैं अथवा प्रकर्षता को प्राप्त व्यक्तिविशेष का वचन प्रवचन है।[३] आचार्य वीरसेन ने प्रकर्ष का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रकर्ष से अर्थात् कुतीर्थ्यानालीढपने से जिनवचनों के द्वारा जीवादि पदार्थ यथार्थतया बोले-समझाये जाते हैं, उन वर्णपंक्त्यात्मकवचनसमूह स्वरूप द्वादशाङ्ग अर्थात् द्रव्य श्रुत को भी प्रवचन कहा जाता है।[४] यहाँ वचनों का कुतीर्थ्यानालीढपना ही उनकी प्रकर्षता को सूचित कर रहा है। कुत्सित या मिथ्या तीर्थ (उपदेश) को कुतीर्थ कहा जाता है। कुतीर्थ सदैव संसारवर्धक एवं आकुलता का जनक होता हुआ वस्तुस्वरूप का विरोधी ही होता है। तथा कुतीर्थ्य वह हैं, जिनमें कुतीर्थ समाया हुआ हो अथवा जो कुतीर्थ के संपोषक समर्थक प्रचारक आदि हैं। इस प्रकार कुगुरु-कुदेव और कुशास्त्र को ही मिथ्योपदेश या कुत्सित प्रयोजन के पोषक होंने से कुतीर्थ्य समझना चाहिए। जिससे कुतीर्थ्यानालीढपने का तात्पर्य यहाँ यह सिद्ध हुआ है कि वह ही प्रकर्ष है, जिसको कुतीर्थ्यों का स्पर्श भी नहीं हुआ है अथवा जिसने कुतीर्थ्यों को छुआ तक नहीं है अथवा जिसका कुतीर्थ्यों से कोई संसर्ग नहीं है। निष्कर्षतः कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रों के वचन प्रवचन नहीं हैं। प्रवचन तो प्रकर्ष वचन होते हैं तथा वचन वे ही प्रकर्ष होते हैं, जो कुतीर्थ्यों से अनालीढ अर्थात् अस्पर्शित रहते हैं।

धवला टीका में आचार्य वीरसेन का यह अभिमत प्रतीत होता है कि द्वादशाङ्ग स्वरूप वचन समूह के निमित्त से जीवादि पदार्थों के बारे में प्रमाण और नय की मर्यादा का पालन करते हुए ही शास्त्रीय शब्दबोध संभव होता है। यदि समझने वाला व्यक्ति प्रमाण नय की मर्यादा का उल्लंघन करता है तो उसे समीचीन जीवादि

१. जमिह पगयं पसत्थं पहाणवयणं च पवयणं तं च। सामन्नं सुयणाणं विसेसतो सुत्थमत्थो य॥ – (आव.नि. मलय.वृ. १२६)

२. पगयवयणं ति वा, पहाणवयणं ति वा, पसत्थवयणं ति वा पवयणं। पवुच्चंति तेण जीवादयो पयत्था इति पवयणं। – (जीतक.चू. पृ. २)

३. प्रकृष्टं प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनमिति व्युत्पत्तेः। – (धवला टीका ८/३/४१, पृष्ठ ९०)

४. प्रकर्षेण कुतीर्थ्यानालीढतया उच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेति प्रवचनं वर्णपंक्त्यात्मकं द्वादशाङ्गम्। – (धवला टीका १३/५/५०, पृष्ठ २८३)

विषयक भावभासन स्वरूप बोध की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए आवश्यक है कि विज्ञाता प्रमाण की मर्यादा में रहकर यथायोग्य नयात्मक ज्ञान से अपने अन्तस्तल में जीवादि पदार्थ विषयक भावभासन स्वरूप समीचीन बोध को प्रगट करे ऐसा करने पर ही उसका जीवादि पदार्थों को जानने वाला ज्ञान सक्षम होकर प्रकर्षपने को प्राप्त हो जाता है। यही प्रमाण से अविरोधपने का सही अर्थ है। ज्ञान का प्रकर्ष यही है कि वह प्रमाण का विरोधी न हो और वस्तु को वैसा ही जाने जैसी वह है। इस प्रकार प्रमाणाविरोधपने से विज्ञाता का सम्यग्ज्ञान ही प्रकर्षता का साधन बनता है, जिससे उसे जीवादि पदार्थों का या द्वादशाङ्ग का समीचीन जानना हो जाता है। यहाँ उसका भावश्रुतज्ञान स्वरूप बोध ही वचनों में अन्तर्निहित अभिप्राय को समझने में करण अर्थात् साधकतम साधन बनता है। अतः भावश्रुतज्ञान भी प्रवचन का अर्थ है।[1] इसी भावभासन स्वरूप समीचीन भावश्रुत का सदुपयोग करने वाले होने से देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टि को भी उन्होंने प्रवचन कह दिया है।[2] क्योंकि इन सभी ने अपनी बुद्धि को सर्वप्रथम प्रवचनों से ही परम पवित्र बनाया था और अब भी उनकी बुद्धि प्रवचनों से ही नियोजित है, उनका उल्लंघन नहीं करती है। सम्यग्दृष्टि होने के लिए देशनालब्धि अपरिहार्य होती है, जो प्रवचनों को यथार्थपने जानने पर ही होती है। प्रवचनों के द्वारा ही वह वाचक शब्दों से प्रतिपादित हुए वाच्य पदार्थों का यथार्थ भावभासन करने में समर्थ होता है। अतः असंयत सम्यग्दृष्टि हो, देशव्रती हो या महाव्रती हो, इन सभी में सम्यग्दृष्टित्व, देशव्रतित्व या महाव्रतित्व प्रवचनों के रहस्य को उपलब्ध किये रहने पर ही संभव होता है, अतः प्रवचनों को हृदयङ्गम किये रहने से असंयत सम्यग्दृष्टि आदि सभी को प्रवचन कहा जाना अयथार्थ नहीं है।

प्रवचन के अधिकारी कौन ?

हम पूर्व में ही कह आये हैं कि यथार्थविद् वीतरागी व्यक्तित्व से ही प्रवचनों की प्रादुर्भूति संभव होती है और वे ही प्रवचनों का संधारण यथार्थरूप में कर पाते हैं, अतः मेरी दृष्टि में परमार्थ से उन्हें ही प्रवचन का अधिकारी माना जा सकता है। प्रवचनकर्ता की हैसियत से जैनपरम्परा में अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु

---

१. प्रमाणाविरोधेन उच्यतेऽर्थोऽनेन करणभूतेनेति प्रवचनं द्वादशाङ्गं भावश्रुतम्। – (धवला टीका १३/५/५०, पृष्ठ २८३)

२. पवयणं सिद्धंतो बारहंगाइ, तत्थ भवा देसमहव्वइणो असंजदसम्माइट्ठिणो य पवयणा। – (धवला. ८/३/४१)

परमेष्ठी ही यथायोग्यपने प्रवचन के अधिकारी माने गये हैं, क्योंकि परोक्ष पदार्थों के सन्दर्भ में किये गये वचन की प्रामाणिकता के आकलन का आधार ऋषि वचन ही हो सकते हैं, अज्ञानी रागी-द्वेषी जनों के वचन नहीं। इस प्रकार यहाँ ऋषियों के वचनों की प्रकर्षता द्योतित हो जाती है, जो उनके तत्त्वज्ञ और वीतरागी व्यक्तित्व को ख्यापित करती हुई उन्हें प्रवचन करने का अधिकारी सिद्ध कर देती है।

ऋषियों के वचनों अर्थात् परमागम को समझकर यदि कोई अनुयायी, जो स्वयं ऋषि नहीं है, परमागम को सुनने-समझाने का यथाशक्य उद्यम-अध्यवसाय करता है तो वह भी उपचार से प्रवचन का अधिकारी माना जा सकता है, क्योंकि उसके द्वारा प्रयुक्त वचनों-प्रवचनों की प्रामाणिकता का आधार परमागम या ऋषि वचन ही होते हैं। सुनने अर्थात् श्रोतृत्व धर्म की अपेक्षा से प्रवचन के अधिकारी वे सभी प्राणी हैं, जिनमें मन्दकषाय रूप शुभ परिणति मौजूद होती है और जो संज्ञी पंचेन्द्रिय होने योग्य क्षयोपशम व पुण्य के धनी होते हैं। चारों गतियों के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव यथायोग्यपने प्रवचन सुनने के अधिकारी होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव प्रवचन के अधिकारी होने पर अपने जीवन को संयम के साधन से निराकुल बनाकर उसे सफल बना लेते हैं, जबकि मिथ्यादृष्टि सोचते रह जाते हैं या मात्र श्रद्धा से तो भर जाते हैं पर प्रवचनों के नैतिक सिद्धान्तों का अनुपालन नहीं कर विफल ही रहते हैं। जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण में मनुष्य, देव और तिर्यंच गति के वे सभी भव्य जीव प्रवचन के अधिकारी हैं, जो मन्दकषायस्वरूप शुभपरिणति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव हैं। चाहे वे सम्यग्दृष्टि हों या मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टियों को ही प्रवचन सुनने का अधिकार है, मिथ्यादृष्टियों को नहीं ऐसा कोई नियम समवसरण में नहीं होता है, वहाँ तो श्रोतृत्व की अपेक्षा सभी समानरूप से प्रवचन के अधिकारी हैं। निष्कर्षतः यह फलित हुआ कि प्रवचन करने के अधिकारी ऋषिगण एवं सुनने के अधिकारी सभी पात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय संसारी जन हैं।

प्रवचनों की उपादेयता

जीवन का मूल ध्येय या चरम लक्ष्य दुःखों के परिहारपूर्वक सुख की प्राप्ति ही है क्योंकि एतदर्थ ही हर प्राणी की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। सुखावाप्ति स्वरूप अपने इस महत्त्वपूर्ण कार्य को हर कोई हर कीमत पर करना चाहता है और उसे साकार करता हुआ देखा भी जाता है। जैन दार्शनिकों की समीक्षा से स्पष्ट है कि यथार्थकारणों के होने पर ही किसी कार्य की निष्पत्ति संभव होती है[१]। अभिलक्षित कार्य की

१. कारणानुविधायीनि कार्याणीति वचनात्

सिद्धि होने में प्राणी द्वारा सही दिशा में किये गये सुप्रयत्न भी अवश्य ही परिलक्षित होते हैं। हमारा जीवन ही यहाँ प्रमाणनिकष के रूप में स्वीकृत हो सकता है क्योंकि हम सभी के जीवन में दुःखपरिहार या सुखोपलब्धि स्वरूप कार्य तभी होते हुये देखे जाते हैं जब उनके यथार्थ कारणों एवं सुप्रयत्नों का सद्भाव वहाँ अवश्यमेव होता है।

हमारा असली जीवन आत्मनिष्ठ होता है। वह शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक परिलब्धियों का प्रतीक मात्र नहीं है। स्पष्ट ही है कि इन सबकी जीवन विषयक उपादेयता हम जैसे प्राणियों में तभी तक है जब तक शरीर, मानस एवं भौतिक पदार्थ आत्मा नामक चेतन सत्ता के सहचार में परिणत होते हैं। प्राणियों के जीवन में उनका अपना मूल तत्त्व आत्मा ही तो है जिसके विना प्राणियों में जीवन की कल्पना तक नहीं हो सकती है। जैसे आत्मा के विना प्राणियों में जीवन नहीं माना जाता है वैसे ही उनमें असली सुख की परिलब्धि भी आत्मज्ञान के विना नहीं होती है। आत्मज्ञान के विना सुख हो भी कैसे सकता है क्योंकि सुखपरिणति असलियत में आत्मा के अन्दर ही तो होनी है तथा सांसारिक प्राणियों में जो भी शारीरिक मानसिक या भौतिक सुख माने गये हैं उनका भोक्ता आत्मा ही होता है, शरीरादि नहीं। हमारे जीवन में शरीरादि के बने रहने पर भी जब आत्मा निष्क्रमित हो जाती है अर्थात् प्राणियों का मरण हो जाता है तो सुख का भोगना असंभव हो जाता है जिससे परिज्ञात होता है कि शरीरादि न तो सुख के भोक्ता हैं और न ही कर्त्ता। सुख परिणति आत्मा की होने से आत्मा ही अपने सुख परिणाम का कर्त्ता-भोक्ता होता है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि जो कर्त्ता होता है भोक्ता भी वही होता है। 'करे कोई और भोगे कोई अन्य' यह समीचीन विचार नहीं माना जा सकता है अन्यथा नैतिक एवं स्वस्थ सामाजिक परिवेश बेमानी हो जायेगा उसका कोई भी मूल्य नहीं रह सकेगा। इसलिये यह मानना जरुरी हो जाता है कि जीव ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता भोक्ता है शरीरादि तो निमित्त मात्र हैं। जीव के लिये वास्तविक या यथार्थ सुख तो निराकुलता का होना ही है जो निराबाधता या स्वाधीनता में ही संभव है। पराधीनता में सुख कहाँ ? वह तो आकुलता की जनक एवं स्वयं आकुलता स्वरूप है तथा दुःखमय ही अनुभव में आती है। आकुलता का प्रादुर्भाव पर निमित्त से चेतन आत्मा में ही होता है, शरीरादि में नहीं। आकुलता दुःखरूप है तो निराकुलता सुख स्वरूप तथा आकुलता जिसप्रकार आत्मा में ही उत्पन्न होती है उस ही प्रकार निराकुलता भी पराधीनता के अभाव में आत्मा में ही प्रादुर्भूत होती है। इसप्रकार यथार्थ सुख आत्माश्रित ही होता है, यह बात सिद्ध हो

जाती है। संसारी प्राणी को यह सुख तभी मिल सकता है जब उसे इसका उपर्युक्त प्रकार से समीचीन बोध हो। अनादिकाल से अज्ञानान्धकार में संलिप्त संसारी प्राणी को भी यह बोध आप्त या ऋषि वचनों की धरोहर स्वरूप प्रवचनों से हो जाता है। यदि प्रवचनों का श्रवण, अवबोधन आदि न हो तो प्राणी चतुर्गति चौरासी लाख योनियों में जन्म मरण करता हुआ एवं अनेकविध इन्द्रियजनित सुख-दुःखों को भोगता हुआ संशय-विपर्यय अनध्यवसाय से अपनी बुद्धि को भ्रमपूर्ण बनाये रखने का ही उद्यम करता रहता है फलतः उसमें मोह-राग-द्वेष की निष्पत्तियाँ होते रहने से वह मोही, रागी-द्वेषी होकर संसार या दुःखों के विषम भंवरजाल में उलझता जाता है। सांसारिक भंवरजाल से बाहर निकलने के लिये यथार्थ पुरुषार्थ की प्रेरणा संसारी प्राणियों को प्रवचनों या आप्त वाक्यों स्वरूप परमागम से मिल जाती है और प्राणी अपना हित साधता हुआ अभ्युदय के मार्ग पर चंक्रमण करके मोक्ष सुख को पा लेता है। मेरी दृष्टि में यह ही प्रवचनों की पारमार्थिक उपादेयता है। प्रवचनों की व्यावहारिक उपादेयता भी कम नहीं है प्रवचनों के प्रसाद का पान करने वाला सभ्य-सुजन कतई अनैतिक नहीं हो सकता है उसके जीवन में सदाचार की बहार आयी हुई रहती है। पापाचरण से बचाव के लिये प्रवचन स्वरूप वचनामृतों का सेवन अचूक औषधि है। यदि बाह्य जीवन पापाचार विहीन हो जाये तो उसमें परमार्थ बोध का बीजारोपण भी प्रवचनों के श्रवण या अवबोधन से हो जाता है, यह भी बहुत बड़ी सफलता ही है।

प्रवचन का मूल्य

मुक्तिविषयक पुरुषार्थ की दृष्टि से प्रवचनों का मूल्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तो है ही अपरिहार्य भी है क्योंकि किसी भी जीव को कभी भी मुक्ति की प्राप्ति सम्यक्त्व की प्रादुर्भूति हुये विना नहीं होती है। तथा सम्यक्त्व की प्रादुर्भूति होने में प्रवचनों अर्थात् जिनोपदेश स्वरूप जीवादि तत्त्वविषयक यथार्थ वचनों की महती भूमिका है। प्रवचन स्वरूप यथार्थ वचनों के रहस्य का अवबोधन होना सम्यक्त्व की उपलब्धि में वैसे ही जरुरी है जैसे किसी कृषक को कृषिजन्य किसी उत्पाद विशेष की उपलब्धि होने में तद्विषयक सामग्री भूमि की अर्हता, मौसम की अनुकूलता-प्रतिकूलता, बीज आदि के यथार्थ परिज्ञान का होना आवश्यक होता है।

पूर्णवीतरागी एवं सर्वज्ञ परमात्मा अर्हत्परमेष्ठी से निस्सृत एवं गणधरों द्वारा अवधारित प्रवचन स्रोतस्विनी स्वरूप जिनवाणी गंगा में जब भी किसी विशेष

जिज्ञासु का मन रमण करने लगता है तो तब ही उसके मन में स्वपरभेदविज्ञान की एक अजस्र धारा प्रवाहित होने लग जाती है। जिसमें अवगाहन होने पर साधक की स्व-पर पदार्थों का सही मूल्यांकन करने वाली बुद्धि स्व एवं पर के विकल्पों में न उलझती हुई स्व पदार्थ को ही अपना मानने में संतुष्ट हो जाती है। इतना ही नहीं जब वह अपने स्वयं के परमत्व में अर्थात् परमात्मा होने योग्य अपनी आत्मा की सामर्थ्य में संतुष्ट हो जाता है और एक मात्र अपनी सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी और अविनाशी शाश्वत शुद्धात्मा को ही जानना चाहता है तो वह समस्त पर-सम्बन्धी विकल्पों से परे होकर अपने ही सीमित विकल्पों की परिधि में पहुँच जाता है। जहाँ उसे अपने यथार्थ जीवन वृत्त का बोध हो जाता है और उसकी बुद्धि अपनी परिधि में परिनिष्ठित स्व विषयक नाना विकल्पों से परे होने के लिये अपने ही जीवन वृत्त के केन्द्र में टंकोत्कीर्ण, सदाशिव स्वरूपी एवं बंध मुक्ति के परिणामों-विकल्पों से अस्पर्शित-अप्रभावित अपने शुद्धात्मा को जानने में सफल होना चाहती है। यदि साधक अब तक हो रहे इन्द्रियज्ञान की पराधीनता से मुक्त होकर अपने अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा स्वानुभूति कर लेता है तो वह स्वानुभूति के इस पुरुषार्थ से जीवादि सप्त तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान से सनाथ होता हुआ सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सचमुच ही मुक्ति पाने का अधिकारी हो जाता है। इसप्रकार मुक्ति विषयक प्रयोजन की पूर्ति के लिये अपरिहार्य सम्यक्त्व की प्रादुर्भूति होने में प्रवचनों के रहस्यावबोधन की अपरिहार्यता सिद्ध हो जाती है, यही प्रवचन का पारमार्थिक मूल्य है। प्रवचन सुनने-सुनाने की विधि अपना कर प्रवचनों की निधि से यदि हमारे जीवन में नैतिकता आ जाये और हमारा जीवन लोभ-लालच स्वरूप कषाय परिणतियों से निजात पाने के लिये समर्पित होकर सत्य का अनुसरण करने लगे, जीव दया स्वरूप अहिंसक आचरण से सनाथ हो जाये तो मेरी दृष्टि में यही प्रवचनों का सामाजिक मूल्य है।

प्रवचन का सार तत्त्व क्या है ?

शब्दब्रह्ममय द्रव्यश्रुत अर्थात् जिनागम जिनोपदेश स्वरूप वचनों का संकलन होने से प्रवचन ही है। सारभूत तत्त्व की दृष्टि से यदि हम जिनागम में उसके मुख्य प्रतिपाद्य की गवेषणा करें तो हमें ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण जिनागम में संसारी और मुक्त इन द्विविध आत्माओं की ही प्ररूपणा किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इतना ही नहीं प्रत्येक प्राणी अर्थात् हर संसारी आत्मा के सुख-दुःख की यथार्थ विवेचना करने में तथा दुख परिहार या सुखावाप्ति के उपायों का परिचय कराने में

भी जिनागम की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। जिनागम के प्रणेता आप्त पुरुष होते हैं वे प्राणियों को उनके जीवन मूल्यों की यथार्थ परिचिति तो कराते ही हैं उन मूल्यों से सभी को अपने-अपने जीवन को संवारने की अर्थात् दु:खरहित यथार्थ सुख पाने की सार्थक प्रेरणा भी देते हैं। उनके अनुसार सुख स्वाधीनता में है अतः वह स्वयं को स्वयं से यथार्थ जानने पर, स्वयं को ही अपना मानने पर तथा स्वयं में ही लीन रहने पर हासिल किया जा सकता है। स्वयं को भूलकर मात्र पर पदार्थों को जानने से कोई भी, कभी भी, कहीं पर भी सुखी नहीं हो सका है। इस सत्य का परिचय कराना ही जिनागम का सारभूत प्रयोजन है।

जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सब को जानता है वह एक आत्मा को जानता ही है। यहाँ ध्वनित होता है कि किसी भी ज्ञेय पदार्थ के परिपूर्ण यथार्थ को जानने में और निराकुल सुख पाने में आत्मज्ञान की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। आत्मज्ञान सचमुच ही सर्वतोभद्र है उसके विना शास्त्रज्ञान केवल दिखावा मात्र ही होता है। मुक्ति विषयक सार तत्त्व की उपलब्धि कोरे शास्त्रज्ञान से असंभव है। सर्वज्ञ के स्वानुभूति स्वरूप आत्मज्ञान सतत वर्तता ही है संसारी प्राणी के लिये सर्वज्ञ बनने में स्वात्मानुभूति स्वरूप आत्मज्ञान का होना अपरिहार्य होता है। किसी के भी जीवन में मुक्तिमार्ग का आरम्भ स्वानुभूति से ही होता है तथा संयम के परिपालन से जब स्वानुभूति की प्रकर्षता-अविरलता बढती जाती है तो मुक्त्यर्थ पुरुषार्थ में प्रगति होकर मुक्तिविषयक उपायों अर्थात् मुक्तिमार्ग का विकास होता रहता है। मुक्तिमार्ग या तद्विषयक पुरुषार्थ की पूर्णता भी स्वानुभूति की अविरल-अविच्छिन्न दशा में अर्थात् सघन स्वानुभूति के काल में ही होती है। सतत-सघन स्वानुभूति की दशा में ही मुक्ति की प्राप्ति भी हो जाती है तथा मुक्ति लाभ के बाद मुक्त जीव अनंत काल तक स्वानुभूति दशा में ही बना रहता है। इस प्रकार मुक्ति एवं तद्विषयक पुरुषार्थ का प्रमुख प्राणतत्त्व स्वानुभूति को माना जा सकता है।

जिनागम के पठन-पाठन एवं प्रवचनों के श्रवण, मनन व निदिध्यासन द्वारा मुक्तिलाभ पाकर अपने को कृतार्थ कर लेना ही हर साधक-अध्येता का परम प्रयोजन होता है। एतदर्थ जब कोई जिज्ञासु शास्त्राभ्यास से मुखरित प्रवचनों के प्रसाद से अपनी आत्मा की अनंत सामर्थ्य को जानने के लिए लालायित होता हुआ इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय सुख के व्यामोह से बाहर निकलना चाहता है अर्थात् आत्मपरिचिति के लिए इन्द्रियज्ञान जन्य व्यापार को तिलाञ्जलि देने लगता है और क्षयोपशम जन्य अपने सम्पूर्ण ज्ञान व्यापार को आत्मोन्मुखी बनाकर एक मात्र

निज शुद्धात्मा को जान लेता है तो उसका वह जानना ही उसके लिए अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप स्वानुभूति का सुखद वरदान होता है। यह स्वानुभूति ही मुक्तिविषयक पुरुषार्थ की धुरी है। इससे ही मुक्ति मिलती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि स्वानुभूति द्वारा अपने शुद्धात्मा को जान लेना ही द्वादशांग के सार को जान लेना है। अत: शुद्धात्मा का मार्ग प्रशस्त करना ही सारे जिनागम का सार तत्त्व है, यह प्रतीति हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही तो कहा है –

"जो हि सुएणहिगच्छई अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुय केवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा॥"[1]

आचार्य अमृतचन्द्र ने इन गाथाओं की टीका करते हुए सुविशदतया कह दिया है कि जो श्रुतज्ञान से एकमात्र अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है, वह परमार्थ से श्रुतकेवली है और जो सर्वश्रुत को जानता है, वह व्यवहार से श्रुतकेवली है।[2] यहाँ यह भी सुस्पष्टतया समझना चाहिए कि शुद्ध आत्मा को जानने वाला मुनि ही द्वादशाङ्ग स्वरूप सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत को जानने वाला होता है। मतलब यह निकला कि परमार्थश्रुतकेवली हुए विना कोई भी व्यवहार श्रुतकेवली नहीं हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द की निम्नांकित गाथा का पर्यवबोध भी यही रहस्य अभिव्यञ्जित कर रहा है। गाथा यह है, स्वयं रहस्यावबोधन कीजियेगा।

"जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥"[3]

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका प्रवचनसार

(क) आचार्य कुन्दकुन्द – इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की दिव्यदेशना में सारभूत प्रेरकतत्त्व यह माना जा सकता है कि निज आत्मा को यथार्थतया जानो, उसे ही अपनी मानों तथा उसमें ही रम जाओ। यही मुक्ति का मार्ग है और निराकुल-निराबाध सुख को पाने का एकमात्र उपाय भी। सम्पूर्ण जैनवाङ्मय इसी प्राणतत्त्व से परिव्याप्त होने के कारण अमूल्य धरोहर है। जिसकी

---

१ समयपाहुण गाथा ९-१०

२ आत्मख्याति टीका (समयपाहुड) गाथा ९-१०

३. समयपाहुण गाथा १५

रक्षा के लिए जैनाचार्यों ने चिन्ता की और जिनोपदेश स्वरूप जैन वाङ्मय, जो अब तक स्मृति के बल पर सुरक्षित होता आ रहा था, को अपनी लेखनी का विषय बनाया। श्रुत संरक्षण विषयक इतिहास की दिगम्बर परम्परा के अनुसार कहा जा सकता है कि जिनवाङ्मय स्वरूप द्रव्य श्रुत को लिपिबद्ध करके या लिखकर चिरंजीवी बनाने के शुभकार्य का प्रारंभ विक्रम की प्रथम शताब्दी में ही हो गया था। अपनी-अपनी गुरु परम्परा में सुरक्षित अङ्ग-पूर्व गत द्रव्य श्रुत का अवधारण जिन श्रमणों नें किया था। उनकी अपनी स्मृति की क्षीणता का क्रम जारी रहने से तथा श्रुतावधारण करने में समर्थ शिष्यों की अनुपलब्धता हो जाने से उन्होंनें अपनी स्मृति में अवशिष्ट श्रुत को लिखकर सुरक्षित करने का महनीय कार्य किया किन्तु श्रुत की संरक्षा आंशिक रूप से ही हो सकी। यह प्रयास करने वाले सभी श्रमणों-आचार्यों को श्रुतधराचार्य की श्रेणी में परिगणित किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द श्रुतधराचार्यों के गगनमण्डल में अध्यात्मविद्या के प्रद्योत को प्रकाशित करने वाले अध्यात्म भास्कर के रूप में एक सुप्रतिष्ठित महा मनीषी एवं ख्यातिलब्ध दिगम्बर जैन श्रमण माने गये हैं।

उनके द्वारा रचित वाङ्मय में सर्वमान्य कृतियाँ ये हैं – समयपाहुड, पवयण-पाहुड, नियमपाहुड, पंचत्थिकायसंगहो, बारस अणुवेक्खा, दंसणपाहुड, चरित्त-पाहुड, सुत्तपाहुड, बोहपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड, सीलपाहुड, सिद्धभत्ति, सुरभत्ति, चरित्तभत्ति, जोइभत्ति, आइरियभत्ति, णिव्वाणभत्ति, पंचगुरुभत्ति और तित्थयरभत्ति या थोस्सामि थुदि। रयणसार को भी उनकी कृति समझा जाता है, किन्तु कुछ ही विद्वान् इसे मान्यता देते हैं।

जैन जगत् को अपने आलोक से गौरवप्रदान करती हुई यह विपुल साहित्य सम्पदा जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द के वैदुष्य को ख्यापित कर देती है, वहीं वह जिज्ञासु पाठक या श्रोता को झकझोर कर रख देती है और उसकी जिज्ञासा को मुक्तिमार्गा-वलम्बन के लिए सार्थक मार्गदर्शन देने में निमित्त बन जाती है। सुखोपलब्धि या मुक्ति हासिल करने हेतु स्वानुभूति करने का प्रयास ही यहाँ सम्यक् पुरुषार्थ प्रतिपादित हुआ है। कुन्दकुन्द प्रणीत वाङ्मय में व्याप्त अध्यात्मविद्या या आत्मसाधना आत्मोपकारार्थियों के लिए सचमुच ही अनुपम खजाना है।

सिद्धभत्ति, सुदभत्ति आदि भक्ति विषयक अपनी लघु रचनाओं में कुन्दकुन्दाचार्य अत्यन्त विनम्र, विनयशील, विशुद्धभावों के धनी एवं देव-शास्त्र-गुरुओं की परम्परा में असीम बहुमान प्रदर्शित करने वाले महापुरुष प्रतीत होते हैं तो दंसणपाहुण आदि

में वे मिथ्याचारविषयक भ्रमों और शिथिलाचारों का निषेध करने वाले कठोर अनुशासक-प्रशासक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। समयपाहुण आदि में उनकी छवि हमें एक महान् दार्शनिक-चिन्तक के रूप में दृष्टिगोचर होती है। उनके द्वारा रचित सम्पूर्ण वाङ्मय में ही उनका तात्त्विक एवं आध्यात्मिक उपदेश मुखरित होता हुआ दिखाई देता है, जिससे उन्हें अध्यात्म के पुरोधा महर्षि कहा जाना सार्थक हो जाता है।

"वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं"[१] उन्होंने अपने श्रुतज्ञान में अपनी शास्त्रप्ररूपणा का स्रोत श्रुतकेवली को ही बता दिया है। इतना ही नहीं **बोधपाहुड**[२] में उन्होंने श्रुतज्ञानी भद्रबाहु को द्वादशाङ्ग श्रुत का ज्ञाता अर्थात् श्रुतकेवली बताकर उनका जयघोष भी किया है और स्पष्ट कर दिया है कि केवली भगवान् ने जो कहा था वही भाषासूत्रों में शब्दविकार रूप से परिणमित हुआ है। इसका मतलब यह है कि जिनेन्द्र की अर्थमूला निरक्षर दिव्यध्वनि ही जब गणधरादि के निमित्त से शब्दों में परिणमित अभिव्यञ्जित होकर शब्दविकार रूप से प्रगट हुई और मेरे शब्दविचार का हेतु बनी तो शब्दविचार से जो ज्ञान मुझे हुआ वह ही यहाँ (बोधपाहुड में) भद्रबाहु के शिष्य अर्थात् मेरे द्वारा कहा जा रहा है। उन्होंने स्पष्ट रूप से श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना गमकगुरु भी कहा है, जिससे यह बात ज्ञात हो जाती है कि भद्रबाहु उनके साक्षात् गुरु नहीं थे।

आचार्य जयसेन ने पञ्चास्तिकाय की टीका तात्पर्यवृत्ति में कुन्दकुन्द को श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तिदेव का शिष्य कहा है।[३] नन्दिसंघ की पट्टावलि में आचार्य जिनचन्द्र को कुन्दकुन्द का गुर बताया गया है।[४] आचार्य माघनन्दि इनके दादागुरु कहे जा सकते हैं, क्योंकि पट्टावलि में माघनन्दि, जिनचन्द्र और पद्मनन्दि यह क्रम प्ररूपित हुआ है। यहाँ यह संभावना भी की जा सकती है कि कुमारनन्दि और जिनचन्द्र एक ही व्यक्ति के नाम हों। नन्दिसंघ में मुनिदीक्षा लेने के समय उनका नाम श्रीकुमारनन्दि रखा गया हो तथा आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के समय जिनचन्द्र नाम दे दिया गया हो। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द के गुरु के उपर्युक्त दोनों नाम कुमारनन्दि या जिनचन्द्र एक ही व्यक्ति के रहे हों। यदि ऐसा है तो जयसेनाचार्य के कथन का नन्दिसंघ की पट्टावलि से सामञ्जस्य बैठ जाता है।

---

१. समयपाहुण गाथा १
२. बोधपाहुण गाथा ६१-६२
३. पंचास्तिकायसंग्रह, जयसेनवृत्ति का आरंभ, पृष्ठ १
४. जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग-१, किरण ४, पृष्ठ ७८

आचार्य कुन्दकुन्द विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकर सीमन्धर स्वामी के समवसरण में गये थे, इसका कोई उल्लेख स्वयं कुन्दकुन्द ने कहीं भी नहीं किया है। उनके टीकाकार अमृतचन्द्र भी इस विषय में सर्वथा मौन ही हैं। क्यों ? जब यहाँ तीर्थंकर, केवलियों और श्रुतकेवलियों का सर्वथा अभाव था, तब कुन्दकुन्द का विदेह क्षेत्र में जाना तथा वहाँ समवशरण में विराजमान तीर्थंकर सीमन्धर स्वामी की दिव्यध्वनि को साक्षात् सुनने का सौभाग्य पाना कोई साधारण घटना या वृतान्त तो नहीं है। यह ऐसी भी घटना नहीं है, जिसे उजागर करने से कोई नुकसान होता हो और उजागर नहीं करने से कोई फायदा। मेरी दृष्टि में यदि इस घटना का उल्लेख कुन्दकुन्द द्वारा स्वयं अपने वाङ्मय में कर दिया गया होता तो तत्त्वप्रभावना में वृद्धियोग ही बनता। अस्तु। जो होने योग्य था, वही हुआ किन्तु इतनी महत्त्वपूर्ण घटना का यत्किञ्चित् भी उल्लेख कुन्दकुन्द वाङ्मय में न होना शायद यही दर्शित करता है कि कुन्दकुन्द ने अपना लेखनकार्य विदेहगमन से पूर्व ही पूरा कर लिया होगा और विदेह से प्रत्यागमन के बाद वे अत्यंत उदासीन होकर अन्तरोन्मुखी आत्मस्थ वृत्ति वाले हो गये होंगे। शायद इसलिए ही उनके साहित्य में इस घटना का समावेश नहीं हो सका है। कुन्दकुन्द ने ही जब अपने विदेह गमन के बारे में कुछ नहीं लिखा तो विशुद्ध अध्यात्मबोध के पक्षधर उनके टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि का इस विषय में मौन रह जाना भी अयुक्तिक या असंगत नहीं लगता है, किन्तु अध्यात्म के परम पक्षधर जयसेनाचार्य, जो कुन्दकुन्द वाङ्मय के सुप्रसिद्ध टीकाकार भी हैं, ने प्रसिद्धकथा न्याय से अर्थात् कथाओं पर विश्वास करके कुन्दकुन्द के विदेहगमन को मान्यता ही नहीं दी है। उनके द्वारा विदेहक्षेत्र में जाना, समवसरण स्थित सीमन्धरस्वामी के दर्शन करना, उनकी दिव्यध्वनि को सुनना, श्रुतपदार्थों में से शुद्धात्मतत्त्वादिसार को ग्रहण कर वापिस आना इत्यादि को भी ससम्मान स्वीकार कर लिया है।[१]

कुन्दकुन्द विरचित षट्पाहुडों पर टीका लिखने वाले श्रुतसागरसूरि ने कुन्दकुन्द के विदेहगमन की पुष्टि तो की ही है, उन्हें सीमन्धरस्वामी की देशना से लब्ध श्रुतज्ञान को भारतवर्ष में प्रचारित करने वाला कलिकाल सर्वज्ञ भी बता दिया है। उनकी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

''**श्रीमत्पद्मनंदिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामकपञ्चकविराजितचतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगर-**

१ पञ्चास्तिकाय सग्रह, जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीका का प्रारभ

वन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्प्राप्तश्रुतज्ञानसम्बोधितभारतवर्ष-भव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे।''[1]

कुन्दकुन्द के विदेहगमन के विषय में सर्वाधिक प्राचीन एक साहित्यिक उल्लेख हमें विक्रम की दसवी सदी में हुए देवसेनाचार्य का भी मिलता है। जहाँ उन्होंने यह भावना व्यक्त की है कि यदि पद्मनन्दिनाथ सीमन्धरस्वामी के दिव्यज्ञान से विशेष बोध हमें नहीं देते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे जान पाते।[2]

इस प्रकार कुन्दकुन्द के विदेहगमन की घटना को हम इसलिए स्वीकार कर सकते हैं कि इसका समर्थन तीन महान् आचार्यों, देवसेन, जयसेन और श्रुतसागर ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। यहाँ प्रामाणिकता का आधार आचार्य स्वयं ही हैं। वीतरागी श्रुतमनीषी इन आचार्यों की लेखनी पर अविश्वास किया भी कैसे जा सकता है। इन आचार्यों ने श्रुति परम्परा का ही तो अवलम्बन लिया है। आचार्य जयसेन ने तो ''प्रसिद्धकथान्यायेन'' शब्द लिखकर स्पष्ट ही कर दिया है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन के बारे में मेरा यह मत 'प्रसिद्ध कथायें भी प्रामाणिक मानी जा सकती हैं' इस न्याय पर आधारित है। आचार्य देवसेन के दर्शनसार की उपर्युक्त गाथा भी उन्हें परम्परा से ही प्राप्त हुई है, क्योंकि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि पूर्वाचार्यों की गाथाओं को संकलित करके ही मैंने यह ग्रंथ लिखा है।[3] कुन्दकुन्द के विदेहगमन विषयक तथ्य को उजागर करने वाली यह गाथा मुख्य रूप से भावना प्रधान ही लगती है। भावना के प्रवाह में ही श्रुतसागरसूरि भी कुन्दकुन्द के विशेषणों की वह छटा उपस्थित करते हैं, जिससे हमें उनके व्यक्तित्व की जानकारी भी मिल जाती है। कुन्दकुन्द के विदेहगमन की पुष्टि तो वे करते ही हैं, उन्हें कलिकाल सर्वज्ञ कहने की अपनी भावना को भी नहीं रोक सके हैं। मेरी दृष्टि में इन महर्षियों की भावना निरर्थक नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि सहज और निःस्वार्थ भावना कुटिल या अल्पबुद्धि की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती है। वीतरागी सन्तों की सहज सरल वृत्ति और निःस्वार्थ साधना ही उनकी सद्भावना एवं उनकी पवित्रता को प्रसिद्ध करने में पर्याप्त होती है।

---

१. कुन्दकुन्द भारती, प्रस्तावना, पृष्ठ ३

२ जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥ – दर्शनसार, गाथा ४३

३. देखें, दर्शनसार की प्रशस्ति।

श्रुतसागर सूरि के उपर्युक्त उल्लेख से कुन्दकुन्द के पाँच नामों का अभिज्ञान होता है। नन्दिसंघ से सम्बन्धित शक सम्वत् १३०७ के विजयनगर स्थित एक अभिलेख में समाविष्ट श्लोक से भी उनके पाँच नामों की ही अभिव्यक्ति होती है। श्लोक यह है –

आचार्यो कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा॥[१]

दिगम्बर पट्टावलियों के संबंध में लिखे अपने एक लेख में डॉ. हार्नले ने भी कुन्दकुन्द के पांच नामों का ही उल्लेख किया है।[२] किन्तु श्रवणबेलगोला स्थित शिलालेखों में आगत निम्नाङ्कित श्लोकों से कुन्दकुन्द के दो नामों का ही समर्थन होता है। यथा –

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकौण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥[३]
श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्रसञ्जातसुचारणर्द्धिः॥[४]

बारसअणुवेक्खा की अंतिम गाथा में उल्लेख है कि इसके रचयिता का नाम कुन्दकुन्द है। जयसेनाचार्य ने समयपाहुण के कर्ता के रूप में पद्मनन्दि का जयकार किया है।

इतनी जानकारी के बाद अब हम यह सत्य भी निर्विवाद रूप से स्वीकार कर सकते हैं कि उनकी सारी कृतियाँ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रणीत होने के विरुद से विख्यात हैं तथा पढी जाती हैं। प्रामाणिकता की दृष्टि से उनकी कृतियों के अध्ययन प्रसङ्ग में कुन्दकुन्दाचार्य के अतिरिक्त अन्य नामों की कोई महत्ता या आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। मुनिदीक्षा के समय रखे गये उनके नाम 'पद्मनन्दि' का उल्लेख जरूर उनके टीकाकार ने किया है। निष्कर्षतः यहाँ हम यह सकते हैं कि साहित्य प्रणयन की दृष्टि से उनके दो नामों कुन्दकुन्दाचार्य एवं पद्मनन्दि को ही मान्यता मिल सकी है तथा अन्य नाम यथा वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य, उनके ही हैं यह प्रमाणित कर पाना सरल नहीं है क्योंकि शिलालेखों में वक्रग्रीव नाम का उल्लेख

१. जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग-१, किरण ४, पृष्ठ ९० से उद्धृत
२. देखें, प्रस्तावना प्रवचनसार, पृष्ठ २ (प्रो डॉ. ए.एन. उपाध्याय)
३. जैन शिलालेख सग्रह, पहला भाग, अभिलेख स. ४०, पृष्ठ २४
४. वही, पृष्ठ ३४

होने पर भी उसका संबंध कुन्दकुन्द से ही है, यह सिद्ध नहीं होता है। तमिलवेद के रूप में ख्यात कुरल काव्य के रचयिता एलाचार्य हैं, किन्तु वे कुन्दकुन्द ही हैं। इसमें सन्देह बना हुआ है। कुन्दकुन्द ने गिद्धपंखों की पीछी का उपयोग किया था इस कथन की भी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं लगती है, क्योंकि यह प्रसिद्धि तो उनके शिष्य उमास्वामी के बारे में है और वे ही गृद्धपिच्छाचार्य कहे गये हैं। यथा –

"तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्देगणीन्द्र सञ्जातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥"[१]

इसमें किसी को कोई विवाद नहीं है कि कुन्दकुन्द का दीक्षा नाम पद्मनन्दि था। यह नाम ही उनके व्यक्तित्व का परिचायक भी बना होगा पर कौण्डकुण्ड ग्राम के मूल निवासी होने के कारण उन्हें कौण्डकुन्द भी कहा जाने लगा होगा तथा आचार्य पद प्राप्त करने के बाद तो वे कौण्डकुन्दाचार्य के रूप में ही प्रसिद्ध होते रहे होंगे। 'कौण्डकुन्दे' यह द्रवेणियन ध्वनि परक उच्चारण है, जो संस्कृतध्वनि परक उच्चारण में परिवर्तित होकर कौण्डकुन्द या कुन्दकुन्द हो गया। उनके जन्म स्थान 'कुन्दकुन्द' पुरा के आचार्य के रूप में उनकी पहिचान ही उन्हें कुन्दकुन्दाचार्य के अभिधान से अलंकृत करने का हेतु बनी और उनका प्रमुख नाम 'कुन्दकुन्दाचार्य' ही हो गया। इस प्रकार 'मुनि पद्मनन्दि' और कुन्दकुन्दाचार्य ये दो नाम ही उनके व्यक्तित्व के परिचायक होकर प्रचलित रहे, यह माना जा सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के पारिवारिक-कौटुम्बिक जीवन की कोई भी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। उनके वाङ्मय से हमें उनकी जो भी झलक मिलती है, उससे उन्हें एक महान् दार्शनिक माना जा सकता है, आध्यात्मिक व्यक्तित्व के तो वे बेमिसाल महर्षि हैं ही। इतना ही नहीं नग्न दिगम्बर श्रमण की चर्या का आजीवन पालन करके उन्होंने वीतरागी साधना को महत्त्वाधायी गरिमा प्रदान की है। पर से निर्वृत्ति एवं स्व में प्रवृत्ति के लिए अपरिहार्यतया अपनाने योग्य दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति ही है, अतः उसके सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा को चिरंजीवी बनाने के लिए उन्होंने जो भी उपदेश श्रमणों के अनुशासनार्थ दिया है, उससे वे एक क्रांतिकारी युगदृष्टा श्रमण सिद्ध होते हैं। उनके श्रमणत्वावच्छिन्न व्यक्तित्व को भुला पाना कभी भी किसी के लिए संभव नहीं हो सकता है। सचमुच ही वे अपने आध्यात्मिक विकास के लिए महाव्रतादिक के पालनकर्ता श्रमण बने

१ त.सू. प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द शास्त्री) से उद्धृत

रहने को ही श्रेयस्कर समझते थे। श्रमणत्व मुक्तिलाभ होने पर भले ही छूट जाता हो, किन्तु मानव जीवन में वह कतई छोड़ने योग्य नहीं होता है।

अल्पवय में ही उन्होंनें जिनश्रमण धर्म में दीक्षित होकर मुनिधर्म अङ्गीकार कर लिया था। ईसा पूर्व ८वें वर्ष में वे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे, उस समय उनकी उम्र ३३ वर्ष थी, लगभग ५२ वर्ष तक वे आचार्य रहे और ८५ वर्ष की वय में उनका देहावसान हुआ।[१] उन्होंनें अपना आचार्य पद अपने शिष्य उमास्वामी या उमास्वाति को देकर सल्लेखनामरण पूर्वक देहत्याग किया था।[२] यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि पं. परमानन्द शास्त्री[३] और डॉ. (पं.) पन्नालाल साहित्याचार्य[४] ने कुन्दकुन्दाचार्य की कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन प्रतिपादित की है तथा दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि विक्रम सम्वत् ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठा के समय उनकी आयु ४४ वर्ष थी।

आचार्य कुन्दकुन्द के बारे में उपर्युक्त दोनों प्रकार के ही निष्कर्षों को समीक्षण-वीक्षा का परिणाम माना जा सकता है। उनके समय का निर्धारण करने में पर्याप्त मतभेद हैं। पं. नाथूराम प्रेमी जहाँ कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तृतीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध करते हैं[५] तो डॉ. के.बी. पाठक उनका समय शकसम्वत् ४५० (५२८ ईस्वीय) बताते हैं।[६] प्रोफेसर डॉ. ए. चक्रवर्ती पाठक के मत से सहमत नहीं हैं, उन्होंने डॉ. हार्नले द्वारा प्रकाशित सरस्वती गच्छ की दिगम्बर पट्टावलियों में प्ररूपित समय अर्थात् ईसापूर्व ०८ में आचार्य पद धारण करने तथा ईसापूर्व ५२ में उनके जन्म होने के समय को प्रामाणिक मान लिया है तथा पौराणिक प्रमाणों के आधार से उसे सिद्ध भी किया है।[७] पंडित जुगल किशोर मुख्तार वीर निर्वाण संवत् ६८३ के बाद ही कुन्दकुन्द का होना मानते हैं, उससे पहले नहीं। उन्होंनें डॉ. पाठक के मत का निरसन कर दिया है तथा प्रोफेसर डॉ. ए.चक्रवर्ती के मत को मान्यता

१ (क) जैन हितैषी भाग १०, पृष्ठ ३७८ (डॉ. सुषमा गांग के शोधप्रबंध 'कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों मे उनकी दार्शनिक दृष्टि' से उद्‌धृत) (ख) प्रवचनसार की प्रस्तावना पृष्ठ १० (डॉ ए.एन उपाध्ये)।

२. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड २, पृष्ठ १०१

३. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ८५

४. कुन्दकुन्दभारती, प्रस्तावना पृष्ठ ६

५ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड २, पृष्ठ १०७

६ वही, पृष्ठ १०७-१०८

७ वही, पृष्ठ १०८

नहीं दी है। उनके अनुसार कुन्दकुन्द वीरनिर्वाण सम्वत् ६०८ से ६९२ (ईस्वीय सन् ८१ से १६५) के मध्य हुए हैं।[1] डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में[2] उपर्युक्त सभी मतों की विस्तृत समीक्षा करने के बाद पाँच तथ्य अन्वेषित कर उनके आधार पर ससन्दर्भ विस्तृत विमर्श करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का आरम्भ बताया है। उनके द्वारा समीक्षणार्थ स्वीकृत पाँच तथ्य ये हैं –

१. कुन्दकुन्द का जन्म जैनधर्म में हुये दिगम्बर-श्वेताम्बर संघभेद के बाद ही हुआ।

२. कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं।

३. इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार कुन्दकुन्दपुरा के पद्मनन्दि को दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों अर्थात् षट्खण्डागम एवं कषायपाहुण का ज्ञान गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ था। उन्होंनें षटखण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर टीका लिखी थी।

४. जयसेनाचार्य और बालचन्द्र के उल्लेखों से कुन्दकुन्द को शिवकुमार महाराज के समकालीन मानना।

५. तमिलवेद के रूप में प्रसिद्ध 'कुरल' काव्य के प्रणेता आचार्य कुन्द-कुन्द हैं।

(ख) प्रवचनसार

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में पवयणपाहुड जैन-वाङ्मय की अमूल्य धरोहर है। जहाँ इस ग्रन्थ में दार्शनिक सिद्धान्तों की तलस्पर्शी-तार्किक विवेचना है तो वहीं हमें इसमें आध्यात्मिक साधना को जीवन में उतारने की सटीक प्रेरणा भी मिल जाती है। द्रव्यानुयोग विषयक प्ररूपणाओं का अधिगम कराने वाला यह शास्त्र सचमुच ही चरणानुयोग विषयक उपदेशों-प्रेरणाओं का खजाना ही है। इसकी विषय वस्तु भले ही तीन अधिकारों ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन और चरणानुयोग चूलिका में विभक्त है, तथापि यह ग्रन्थ जिज्ञासु पाठक को सर्वात्मना मोक्षमार्ग का ही अधिगम कराता रहता है तथा स्पष्ट करता है कि

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड २, पृष्ठ १०८-१०९

२. उपर्युक्त, पृष्ठ १०-२३

मोक्षमार्ग को पाने में एवं उसमें बने रहने के लिये साधक में शुद्धोपयोग का होना बहुत जरूरी है यदि शुद्धोपयोग स्वरूप अतीन्द्रियज्ञान प्रगट न हो तो मुक्तिमार्ग का होना ही असंभव होता है। शुद्धोपयोग ही तो मुक्तिमार्ग की संजीवनी है जिससे वह फलता-फूलता हुआ अर्थात् विकसित होकर पूर्णता को प्राप्त हो जाता है शुद्धोपयोग ही साधक को मुक्ति की अवस्था में सदैव बनाये रखने में अपनी अपरिहार्य आवश्यकता को सिद्ध कर देता है। मुक्ति में शुद्धोपयोग अविच्छिन,अनन्त आपूर्ण और परमानन्द स्यन्दी होकर मानों शाश्वत ही हो जाता है। शुद्धोपयोग से संसार बीज के सर्वथा दग्ध हो जाने के उपरान्त ही मुक्ति लाभ होता है। इसप्रकार शुद्धोपयोग के कारण ही मुक्ति से पुनरागमन नहीं होता है। शुद्धोपयोग ही आत्मोपलब्धि-आत्मानुभूति का एकमात्र हेतु है। मुक्ति में आत्मानुभूति का ही तो वर्चस्व है। सचमुच ही प्रवचनसार का प्रणयन स्वानुभूति के पुरुषार्थ को सही दिशा प्रदान करने के लिये ही हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

ग्रन्थ का प्रारंभ मङ्गलाचरण से होता है। जिसमें भावना की तकनीक का उपयोग कर उसे गौरवप्रदान कर दिया गया है। मनुष्य क्षेत्र में होने वाले सभी अरहंतों को एक साथ और एक-एक को अलग-अलग भी अपनी वंदना का आलम्बन बना लेना भावना के बल पर ही तो संभव है। यहाँ यह भावना भी कितनी सुन्दर व सार्थक है जिसमें आचार्य स्वयं भावना भा रहे हैं कि मैं अरहंतादिक के विशुद्ध दर्शन ज्ञान की प्रधानता वाले आश्रम को अच्छी तरह पा करके उस चारित्र स्वरूप साम्यभाव को प्राप्त करूँ जिससे मुझे निर्वाण की प्राप्ति हो जाये।

उनके अनुसार चारित्र ही धर्म है तथा वह धर्म मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा का अपना साम्य भाव ही तो है। जीव या कोई द्रव्य जब भी जिस परिणाम से परिणमता है तब वह उस परिणाममय ही होता है इसलिये धर्म परिणाम से परिणत आत्मा को ही धर्म जानना चाहिये। इससे यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा जब शुभ-अशुभ परिणामों से युक्त होता है तो शुभ-अशुभ ही होता है तथा शुद्ध परिणामों से शुद्ध ही होता है। शुद्धोपयोग संयुक्त आत्मा जब शुद्ध वीतराग परिणाम रूप धर्म से परिणमित होता है तो निर्वाणसुख पा जाता है। शुभोपयोगी आत्मा स्वर्गसुख को ही पा सकता है तथा अशुभोपयोगी अनेकानेक दु:खों से पीड़ित होता हुआ कुमनुष्य, तिर्यञ्च एवं नारकी होकर संसार में घूमता-भटकता रहता है। यहाँ शुद्धोपयोग को उपादेय, शुभोपयोग को हेय तथा अशुभोपयोग को अत्यंत हेय बताया गया है। उन्होंने शुद्धोपयोग से प्राप्त सुख को अतिशयकारी, आत्मोत्थित, विषयातीत,

अनुपम, अनन्त और अव्युच्छिन्न कहा है। शुद्धोपयोग से परिणत आत्मा ही श्रमण होता है तथा श्रमण वह है जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, सूत्र और पदार्थों का ज्ञाता होता है, संयम और तप से संयुक्त होता है तथा रागादि दोषों से रहित वीतरागी होता है। शुद्धोपयोगी श्रमण ही चारों घातिया कर्मों से रहित होकर सर्वज्ञ, सर्वलोकाधि-पतियों द्वारा पूजित तथा स्वयंभू बन जाता है। अतीन्द्रियज्ञान सम्पन्न शुद्धोपयोगी आत्मा में ही निराकुल ज्ञान और सुख परिणमित होते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान के कारण ही तो शुद्धोपयोगी श्रमण के शारीरिक सुख-दुःख का अभाव है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान के कारण ही तो भगवान् को कुछ भी परोक्ष नहीं है, सब कुछ उनके केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ही है। आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा जा सकता है क्योंकि केवलज्ञान लोकालोकगत सभी ज्ञेयों को जानता है, अर्थात् उस ज्ञान में सारा लोकालोक ज्ञेय होता है। इस अपेक्षा से ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है तथापि ज्ञान प्रदेशों की अपेक्षा आत्मप्रमाण ही होता है, हीनाधिक नहीं। ज्ञान और आत्मा परस्पर सापेक्ष दो पदार्थ भी नहीं हैं दोनों में परस्पर एकत्व और अन्यत्व भी है। ज्ञान ज्ञेय में नहीं जाता है और न ही ज्ञेय ज्ञान में आते हैं। ज्ञान पदार्थों को जानता है यह उसकी निर्मलता का ही प्रतिफलन है। आत्मा ज्ञान से जानता है यहाँ आत्मा और ज्ञान में कर्तृकरणता तो है पर उनमें परस्पर भेद नहीं है, दोनों को ही तादात्म्य रूप से एक ही जानना चाहिये। द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप सभी ज्ञेय केवलज्ञान में प्रत्यक्ष होते हैं। सद्‌भूत पर्यायों के समान असद्‌भूत पर्यायें भी जानी जाती हैं अतः उनका कथञ्चित् प्रत्यक्षत्व सिद्ध किया गया है। यदि अतीन्द्रिय केवलज्ञान सबको न जाने तो उसे क्षायिक कौन कहेगा। क्षायिक ज्ञान में ही तो यह सामर्थ्य है कि वह चित्र-विचित्र, सम-विषम, सद्‌भूत-असद्‌भूत सभी अर्थों या ज्ञेयों को युगपत् जान लेता है।

केवलज्ञानियों की सभी क्रियायें जैसे खड़े होना, बैठना, विहार करना, धर्मोपदेश देना आदि अपने भवितव्य काल में नियत होती हैं, उनका कोई भी फल अर्हन्तों के नहीं होता है। यद्यपि तीर्थङ्करों-अर्हन्तों के पुण्य प्रकृतियों का विपाक होता है तथापि वह पुण्यविपाक उनके लिये अकिञ्चित्कर ही होता है। कर्मोदयवशात् केवली के होने वाली ये सभी क्रियायें औदायिकी तो हैं पर मोहादि परिणामों से रहित होने के कारण वे नूतन कर्म बंध नहीं करती हैं, बल्कि कर्म क्षय में ही कारण होती हैं।

सबको जानने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान क्रमप्रवृत्त नहीं होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान

ही अतीन्द्रिय सुख का कारण है। दोनों ही यहाँ उपादेय माने गये हैं। केवलज्ञानियों के केवल अतीन्द्रिय सुख की ही प्रचुरता है। यहाँ आचार्य भगवन्त ने इन्द्रियसुख के साधन स्वरूप इन्द्रियज्ञान की हेयता प्रतिपादित कर उसकी निन्दा भी की है। मनुष्येन्द्र, असुरेन्द्र या सुरेन्द्र कोई भी हों वे इन्द्रियों के द्वारा दुखी होते हुये दुःख को सहन न कर पाने की स्थिति में ही रम्य विषयों में रमण करते हैं अतः जब तब उनके विषयों में रमणता है तब तक वे दुःखी ही सिद्ध होते हैं यदि ऐसा न माना जाये तो वे विषय भोगों को भोगने का व्यापार क्यों करते हैं। इन्द्रिय सुख या इन्द्रिय दुःख दोनों ही रूप से आत्मा ही परिणमित होता है देह या जड़ इन्द्रियाँ नहीं। यदि यह निश्चित हो जाये कि आत्मा ही स्वयं सुखी होता है तो फिर इन्द्रियों और विषयों से वैसे ही मतलब नहीं रहता है जैसे अंधकार में देख सकने वालों को दीपक से कोई प्रयोजन नहीं रहता है।

अतीन्द्रिय ज्ञान से जायमान अतीन्द्रिय सुख को पाने के लिये संसारी आत्मा को उसके साधन स्वरूप शुभोपयोग को भी अपनाना होता है। देव, यति, गुरु की पूजा, सदाचरण स्वरूप सुचारित्र, दान और उपवासादि सत्क्रियाओं में लगा हुआ आत्मा ही शुभोपयोगी होता है। यह सही है किन्तु शुभोपयोग का फल इन्द्रिय सुख ही है शुभोपयोगी आत्मा यदि आत्म स्वरूप को भूल कर स्वानुभूति के पुरुषार्थ को उपेक्षित कर देता है तो विषयसुखों के महासागर में पड़ जाता है जो स्वभावतः दुख देने वाले ही होते हैं। शुभोपयोग से उपार्जित पुण्य कर्म का फल सभी सांसारियों को देहादि की पुष्टि पूर्वक भोगों में ही प्रवृत्त रखता है वे सुखी से लगते हैं, होते नहीं। सचमुच पुण्यशाली महापुरुष विषयभोगों में फंसाने वाले पुण्य को दुःख का मूल कारण ही मानते हैं तभी तो वे पुण्य के वैभव में मुग्ध होकर या अंधे होकर उसमें प्रवृत्त नहीं रहते हैं और आत्मा को भूलते नहीं हैं अत एव अंततः पुण्य के फल को छोड़कर शुद्धात्मा की शरण में त्राण पाते हैं, उसकी साधना में रत हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में शुभोपयोग जनित इन्द्रिय सुख दुःख ही होता है क्योंकि वह पराधीन होता है, बाधासहित होता है, विच्छिन्न होने से सतत रहने वाला भी नहीं है, बंध का ही कारण है तथा तृप्तिकारक न होने से विषम माना गया है।

पुण्य और पाप दोनों ही संसार के कारण हैं, दुखदायी हैं यथार्थ सुख की अपेक्षा से सचमुच ही उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है - ऐसा जो नहीं जानता है वह मोहाच्छन्न होता हुआ घोर संसार में ही भटकता रहता है।

पुण्य-पाप दोनों को संसार का हेतु और दुःख का बीज जानता हुआ शुभोपयोगी जीव परद्रव्यों में रागद्वेष नहीं करता है और विशुद्धतया शुद्धोपयोगी होकर देहजनित दुःखों को क्षय कर लेता है। यदि इसके विपरीत कोई पापारम्भ को छोड़कर शुभ चारित्र में लग भी जाता है और मोहादिभावों को नहीं छोड़ता है तो उसे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है। मोहक्षय का उपाय उसे ही होता है जो स्व-पर भेद विज्ञानी होता है। शुभोपयोग की भूमिका में स्व को जानने का लक्ष्य मुख्य होना चाहिये तभी तो शास्त्र वचनों से अरहंतादिक को यथार्थ जानने पर अपनी आत्मा को जानने का उद्यम संभव हो जाता है। जो द्रव्य गुण पर्याय की अपेक्षा से अरहंत को जानता है वह ही अपनी आत्मा को जानता है तथा उसका ही मोह लय (क्षय) को प्राप्त होता है। अपनी आत्मा को तात्त्विक रूप से जानने वाला व्यपगत मोही जीव जब रागद्वेष नहीं करता है तो अपने शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है। यही शुद्धात्मानुभूति है। जो मोक्ष पाने के लिये अवश्यंभावी है। आज तक जितने भी अरहंत हुये हैं वे स्वशुद्धात्मानुभूति के द्वारा ही घाति कर्मों का क्षय करने वाले हुये हैं तथा यथायोग्यपने उपदेशादि करके मुक्त हुये हैं उन सभी को हमारा नमस्कार है।

अरहंतों का उपदेश ही जिनागम है। जिसमें त्रिविध मोह को बंधकारक बताया गया है। जो शास्त्रवचनों से जीवादि पदार्थों को यथार्थ रूप में जान लेता है उसके ही शुद्धोपयोग का पुरुषार्थ होकर मोह का क्षय होता है अत: जिज्ञासु को शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन अवश्य करना चाहिये; क्योंकि आगमज्ञान से ही स्व-पर विवेक सिद्धि संभव होती है अत: जिनोपदेश को पाकर जो भी स्व-पर भेद विज्ञानी मोह, राग, द्वेष का परिहार कर लेता है वह शीघ्र ही सर्वविध दु:खों का क्षय करके मोक्ष पा लेता है। मोक्ष के लिये साधना करने वाला श्रमण मोह का नाश करने वाला होने से निहत मोहदृष्टि है, आगमज्ञान में चतुर है तथा वीतराग चारित्र में अभ्युत्थान को प्राप्त हुआ महात्मा ही है, उसे ही यहाँ धर्म कहा गया है। इसप्रकार ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन द्वारा श्रमणत्व अर्थात् मुनिधर्म की प्रतिष्ठा को ही गौरवान्वित किया गया है।

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन में पदार्थ या वस्तु को द्रव्यमय कहा गया है। द्रव्य गुणस्वरूप हैं तथा उन गुणों की पर्यायें होती हैं। इसप्रकार वस्तु को गुण पर्यायवान् द्रव्य ही समझना चाहिये। किन्तु जो केवल पर्यायों में मूढ़ होकर वस्तु स्वरूप को पर्याय मात्र ही जानते हैं वे पर्यायमूढ़ कहलाते हैं उन्हें अर्थात् पर्यायमूढ़ों को परसमय मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है। जो अपनी मनुष्यादि पर्यायों में रत रहते हैं आत्मा को नहीं जानते हैं वे परसमय कहे गये हैं तथा समस्त परद्रव्यों की संगति से रहित होकर

जो अपने द्रव्य मात्र की संगति से आत्म स्वभाव को जान लेते हैं अर्थात् उसमें ही रत रहते हैं, वे स्वसमय हैं।

यहाँ आचार्य देव नें चौंतीस गाथाओं में द्रव्य के लक्षण को प्ररूपित कर उसकी विस्तृत समीक्षा की है। अपने अपरित्यक्त स्वभाव से जो सदा उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्त रहकर गुणों और पर्यायों वाला होता है वह ही द्रव्य है। उनके ही शब्दों में देखिये -

"अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वधुवत्तसंवुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं त्ति वुच्चंति।।"

आचार्य अमृत चन्द्र ने द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व सामान्य के अन्वय वाला प्रतिपादित किया है। अस्तित्व दो प्रकार का होता है - स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। अपने गुणों उनकी अनेक पर्यायों और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के कारण द्रव्य सदैव ही सद्भाव रूप बना रहता है उसका यह अस्तित्व उसके अपने स्वभाव से ही होने के कारण स्वरूपास्तित्व कहलाता है। स्वरूपास्तित्व से द्रव्य में उसके अपने गुणपर्यायों का सद्भाव अभिन्नपने है यह सिद्ध हो जाता है तथा प्रत्येक द्रव्य अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा स्वरूपास्तित्व वाला ही होता है। स्वरूपास्तित्व से प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्यादि से भिन्न सिद्ध होता है तथा प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न ही होता है जिससे स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा द्रव्यों मं अनेकत्व का परिज्ञान होता रहता है। स्वरूपास्तित्व द्रव्य के विशेष स्वभाव रूप सद्भाव का परिचायक है। सादृश्यास्तित्व द्रव्य का वह स्वभाव है जिससे सभी द्रव्यों का सद्भाव एक जैसा (सदृश) ही ज्ञात होता है यह सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से अपना-अपना होता है तथा द्रव्यों में एकत्व का परिचायक भी होता है। सादृश्यास्तित्व के द्वारा द्रव्य के सत्पने को मुख्य करने पर विवक्षित द्रव्यों में एकत्व मुख्य हो जाता है और अनेकत्व गौण। अत: सभी द्रव्य सादृश्यास्तित्व के कारण एक जैसे या सदृश या समान ही जाने जाते हैं।

जैन मान्यता के अनुसार सभी द्रव्य अनादि अनन्त हैं अत: न उनका आरंभ है और न ही अन्त। उनकी सत्ता भी अर्थान्तर रूप नहीं है अर्थात् द्रव्य और सत्ता दो पृथक् पदार्थ नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं से सत् है। द्रव्य में मौजूद उसके लक्षण स्वरूप उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का त्रितयत्व परस्पर अविनाशी ही है। अत: तीनों द्रव्य में सदैव पाये जाते हैं। उत्पाद के विना व्यय और व्यय के विना उत्पाद कभी

भी नहीं होते हैं तथा उत्पाद और व्यय ध्रौव्य के बिना नहीं माने गये हैं उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं, पर्यायें नियमतः द्रव्य में होती हैं इसलिये ये तीनों द्रव्य ही हैं; द्रव्यान्तर नहीं। प्रत्येक द्रव्य एक ही समय में अर्थात् एक-एक करके प्रत्येक समय में अर्थात् सर्वदा अर्थात् हर पर्याय में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से समवेत होते हैं। अतः उसका त्रितयत्व वास्तविक है और द्रव्य का ही आत्मभूत लक्षण है।

द्रव्य में और स्वरूपास्तित्व या सादृश्यास्तित्व स्वरूप उसकी सत्ता में पृथक्त्व नहीं है पर अन्यत्व है। इसे समझाने के लिये आचार्य ने पहिले पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण स्पष्ट किया है जहाँ विभक्त प्रदेशत्व होता है वहाँ पृथक्त्व माना गया है और जहाँ अतद्भाव मात्र है वहाँ अन्यत्व समझना चाहिये। द्रव्य गुणों का आधार है अतः गुणी है। गुण-गुणी में परस्पर विभक्तप्रदेशत्व का अभाव है अतः उनमें पृथक्त्व नहीं है। तथापि गुण-गुणी में अन्यत्व माना जा सकता है क्योंकि जो गुण हैं उनमें उनका अपना-अपना परिणमन होता है वह अन्य अन्य रूप ही है प्रत्येक गुण की विद्यमानता द्रव्य में अखण्डपने सदैव होती है कोई भी गुण कभी भी अन्य गुण रूप नहीं हो सकता है सदा ही अपनी विशेष योग्यता के कारण अन्य अन्य ही जाना जाता है। जो एक गुण है वह दूसरे सहवर्ती गुण रूप नहीं है न ही कभी हो सकता है अतः उनमें परस्पर अतद्भाव कहा गया है। गुण गुणी में अतद्भाव होने से ही उनमें अन्यत्व माना गया है। ग्रन्थ में द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत् की विवेचना उपस्थापित करके सत्ता गुण के विस्तार को द्रव्य, गुण पर्यायों में समझाया गया है। उनमें परस्पर जो अतद्भाव है वह सर्वथा अभाव नहीं हैं अर्थात् ऐसा नहीं है कि जहाँ द्रव्य है वहाँ गुण पर्यायों का अभाव होता है तथा जहाँ गुण पर्यायें हैं वहाँ द्रव्य का अभाव है। वस्तुतः द्रव्य सर्वथा अमुक गुण या पर्याय मात्र नहीं है और अमुक गुण या पर्याय मात्र ही सर्वथा द्रव्य नहीं है, यह बताना ही अतद्भाव शब्द का तात्पर्य है। गुण गुणी में अतद्भाव तो है पर परस्पर उनकी विद्यमानता का अभाव नहीं है। सत्ता और द्रव्य में परस्पर गुण गुणी भाव ही है।

द्रव्य के सदुत्पाद और असदुत्पाद के होने में विरोध नहीं है। अन्यत्व और अनन्यत्व में भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी नाना धर्मों का सद्भाव सप्तभङ्गी न्याय से सिद्ध हो जाता है जिससे वस्तु सत्-असत्, अन्यत्व-अनन्यत्व आदि के रूप में ही हर समय सिद्ध होती है।

वस्तु स्वरूप की अनभिज्ञतावशात् जीव में पैदा होने वाले विरोध विष के मोह

को उतार देने में सप्तभङ्गी न्याय समर्थ है इससे जीव अपनी बुद्धि नियोजित कर सत्य को समझने में सक्षम हो जाता है।

उदाहरण स्वरूप जीव के अन्यत्व और अनन्यत्व को ऐसे समझा जा सकता है जैसे किसी जीव की नरनारकादि पर्यायों में एक ही जीव पाया जाता है। ऐसा नहीं होता है कि मनुष्य पर्याय में जीव अन्य हो और उसकी ही नारक पर्याय में कोई अन्य। इस अपेक्षा से कहा जा सकता है कि जीव की अपनी नरनारकादि पर्यायों में जीव अनन्यत्व स्वरूप वाला होने से अनन्य नहीं है किन्तु जीव की मनुष्यादि पर्यायें अन्य-अन्य क्रियाओं अर्थात् जीव में होने वाले अन्य-अन्य परिणामों का फल हैं। मनुष्य या नारक पर्याय को पाने के लिये जीव अन्य अन्य परिणाम वाला होता है, अन्य अन्य ही प्रकार से उसको कर्म का बंध होता है और आगे अन्य अन्य प्रकार से उनका फल अर्थात् अन्य अन्य रूप से ही उसके मनुष्यादि पर्यायें होती हैं इस प्रकार ज्ञात होता है कि एक ही जीव अपनी नरनारकादि पर्यायों में अन्यत्व स्वभाव वाला होने से अन्य अन्य भी है जीव के स्वभाव का पराभव करके मानो नाम कर्म ही जीव को नरनारकादि रूप अन्य अन्य पर्याय वाला कर देता है। नरनारकादि पर्यायों में कर्म जीव के स्वभाव का घात नहीं करता है किन्तु जीव स्वयं अपने मोहरागादि रूप सदोष परिणामों के कारण कर्मानुसार परिणमन करता है इसप्रकार उसे स्वभाव की उपलब्धि नहीं होती है।

जीव के द्रव्यपने से अवस्थितत्व अर्थात् नित्यपना होने पर भी पर्यायों के कारण अनवस्थितत्व अर्थात् अनित्यपना भी घोषित होता है। कर्मोदय से मलिन हुआ आत्मा कर्म संयुक्त परिणाम अर्थात् भावकर्म रूप मोहरागादि स्वरूप अशुद्धभावों को प्राप्त होता रहता है जिससे कर्म उससे चिपक जाते हैं अर्थात् बंध जाते हैं। इस रीति से जीव के कर्मबंध होता है। यहाँ यह भी सच है कि आत्मा स्वयं अपने परिणामों का ही कर्त्ता है। आत्मा के परिणाम आत्ममय होने से आत्मा ही हैं, पुद्गल कर्म नहीं। आत्मा कर्त्ता है और उसके परिणाम कर्म। इसप्रकार आत्मा जड़ कर्मों अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का कर्त्ता नहीं है अपने मोहादि परिणाम स्वरूप भाव कर्म का ही कर्त्ता होता है। आत्मा सदैव चेतना रूप ही परिणमता है। संसारदशा में वह चेतना त्रिविधतया परिणमित होती है यथा ज्ञान चेतना, कर्मफल चेतना और कर्म चेतना। ये त्रिविध परिणाम चेतना के ही हैं। जो यथायोग्यपने संसारी जीवों के होते हैं। वस्तुतः ज्ञान चेतना ही है जो कर्म और कर्मफल की तरफ से संसारियों में कर्म चेतना और कर्मफल चेतना कही जाती है। ये तीनों परिणाम

वस्तुतः आत्मा ही हैं। जब जीव कर्म चेतना और कर्मफल चेतना के इस यथार्थ को जानकर परद्रव्यों के सम्पर्क को छोड़ देता है और उनका कर्ता भोक्ता नहीं बनता है तो उसे दुःखों से मुक्त्यर्थ प्रेरणा मिल जाती है। कर्ता, कर्म, करण और फल विषयक सारा पुरुषार्थ आत्माधीन होने से आत्मा ही है ऐसा निश्चय करके ही ज्ञानी या श्रमण शुद्धात्मा को प्राप्त करता है, यह जानना चाहिये।

द्रव्यों का विशेष प्रज्ञापन भी यहाँ अपने वैशिष्ट्य के साथ प्ररूपित हुआ है। जीव और अजीव द्रव्यों की अवधारणा, सभी अजीव द्रव्य भौतिक या मूर्त नहीं हैं, पाँचों अजीव द्रव्यों का लक्षणादि विवेचन, जीवों और पुद्गलों को अपनी क्रियावती शक्ति से क्षेत्रान्तर रूप परिणमन होना, अनंत और अखण्ड आकाश में तद्व्यतिरिक्त पांच द्रव्यों के अवस्थान-अवगाहन की धारणा, लोक एवं अलोक का विभाग, सभी द्रव्यों का प्रदेशाप्रदेशवत्त्व की अपेक्षा अस्तिकाय-अनस्तिकाय का प्ररूपण, कालाणु का अप्रदेशत्व, काल का द्रव्यपने व पर्यायपने कथन, आकाश में एक प्रदेश का परिमाण या लक्षण, द्रव्यों के प्रदेश प्रचयों का वर्णन, तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय की धारणा, काल द्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय नहीं है इत्यादि विषय ज्ञेयपने की दृष्टि से यहाँ प्ररूपित हुये हैं।

षड् द्रव्यात्मक लोक को जीव अपनी ज्ञान शक्ति से जानता है। जीव द्रव्य से अतिरिक्त पंचविध सभी द्रव्य मात्र ज्ञेय रूप ही हैं जीव द्रव्य ज्ञेय रूप तो हैं ही ज्ञान रूप भी है। जीव की अचिन्त्य ज्ञान शक्ति स्वाभाविक होने पर भी पुद्गल के संबंध से दोष पूर्ण होकर चतुर्विध प्राणों से संयुक्त हो जाती है। संसार दशा में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास जीवपने के हेतु होकर भी जड़ पुद्गल ही माने गये हैं। जीव में चतुर्विध प्राणों की संतति तब तक चलती रहती है जब तक वह देहादि पुद्गलों में ममत्व करता रहता है। तथा जब इन्द्रियविजयी होकर उपयोगात्मक आत्मा का ध्यान करता है व कर्मों से राग द्वेष नहीं करता है तो प्राणों की सन्तति समाप्त हो जाती है। यथायोग्य चतुर्विध दश प्राणों से जीनेवाला जीव नामकर्म के उदयादि से संरचित नर, नारक, तिर्यञ्च और देवगति की पर्यायों को प्राप्त होता रहता है। जीव और पुद्गलों की परस्पर संकीर्णता होने पर भी भेदविज्ञान के द्वारा उनके यथार्थ स्वरूप का एवं पृथगस्तित्व का बोध हो जाता है और मोह शिथिल होने लगता है। मैं ज्ञानमय हूँ, मोह मेरा नहीं है। यह उपयोग जब निरुपराग होता है तो शुद्धोपयोग कहलाता है तथा सोपराग होने पर अशुद्धोपयोग। शुद्धोपयोग परद्रव्यों से मुक्त होने का कारण है तो अशुद्धोपयोग परद्रव्यों के संयोग का। हाँ शुभोपयोग

से पुण्य का संचय होता है और अशुभोपयोग से पाप का। ये दोनों ही अशुद्धोपयोग हैं। जो अरहंतादि जिनेन्द्रों को जानता है, सभी जीवों पर अनुकम्पाभाव रखता है, उस जीव के शुभोपयोग होता है। इसके विपरीत जो अरहंतादि की उपेक्षा करके विषय-कषायों में लिप्त रहता है। कुशास्त्रों-कुविचारों एवं कुसंगति में रुचिवन्त होकर रहता है, उतावला या उग्र हो जाता है तथा कुमार्गों में रत रहता है तो उसके अशुभोपयोग होता है।

परद्रव्यों के संयोग से बचने के लिए उनके कारणों का विनाश जरूरी होता है एतदर्थ जिज्ञासु शरीरादि समस्त परद्रव्यों में मध्यस्थ होकर अर्थात् सभी परद्रव्यों के प्रति उदासीन होकर रहता है। मैं समस्त परद्रव्यों से एवं उनके प्रति अपनी पराधीन वृत्ति से मुक्त हूँ, परद्रव्यों पर मेरा वश नहीं चलता मैं तो अपने स्वभाव का ही स्वामी हूँ – ऐसे चिन्तन से वह शुभ-अशुभ दोनों ही व्यापारों से निवृत्त होकर अपने स्वरूप में ही अपने उपयोग को विश्रान्ति देने का पुरुषार्थ करता है। इसप्रकार मात्र अपने स्वभाव का अनुसरण करने से अपने निश्चल स्वरूप में ही अपने प्रगट ज्ञान को लीन करके शुद्धोपयोगी हो जाता है। इस प्रकार परद्रव्यों से संयोग करने वाले कारणों को नष्ट करने का अभ्यास उसे हो जाता है।

जब आत्मा पुद्‌गलमयी नहीं है और न ही पुद्‌गलकृत पिंड स्वरूप कर्म-नोकर्म का कर्ता है तो फिर परमाणु स्वरूप पुद्‌गल द्रव्यों से कर्मादिक पिण्ड पर्यायों का कर्ता कौन है। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि पुद्‌गलों में होनेवाले परस्पर पिण्ड रूप बंध का कर्ता पुद्‌गल स्वयं ही है, क्योंकि परमाणु जो स्वयं अप्रदेशी या मात्र एक प्रदेशी अशब्दस्वरूप है, वह पिण्ड परिणति को प्राप्त हो जाता है। स्निग्ध अथवा रुक्ष गुणों के अविभागिप्रतिच्छेद प्रत्येक परमाणु में भिन्न-भिन्न संख्या में होते हैं, वे अपनी परिणमन योग्यता से घटते-बढते भी रहते हैं। किसी भी अजघन्य गुणवाले स्निग्ध अथवा रूक्ष परमाणु का बंध अपने से द्वयधिक स्निग्ध अथवा रुक्ष परमाणु या परमाणुओं के साथ हो जाता है। अविभागिप्रतिच्छेदों के अधिक होने का नियम दो से लेकर अनन्त पर्यन्त हो सकता है, किन्तु बंध किसी परमाणु का किसी परमाणु से तभी होगा, जब उनमें मात्र दो ही अविभागिप्रतिच्छेदों का अन्तर रहेगा। हीन गुण वाला परमाणु तदधिक गुण परमाणु सदृश परिणम जाता है। इस प्रकार यहाँ किस प्रकार से पुद्‌गल पिण्ड के प्रति आत्मा के कर्तृत्व का निषेध प्ररूपित हुआ है, वैसे ही आत्मपरिणामों के प्रति पुद्‌गलपिण्ड के कर्तृत्व का अभाव भी यहाँ बता दिया गया है।

आत्मा को अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द, अनिर्दिष्टसंस्थान और अलिङ्गग्राह्य कहा गया है, अतः उसे मात्र चेतना गुण स्वरूप ही जानना चाहिए। अमूर्त आत्मा के स्निग्ध-रूक्षत्वादि का सर्वथा अभाव है, फिर उसका मूर्त पुद्गल पिण्डों से बंध होने में क्या कारण है, इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि स्वयं अरूपी आत्मा जब रूपादि द्रव्यों को जानता है तथा पंचेन्द्रियों और मन से भोगे जाने योग्य नानाविध पौद्गलिक पदार्थों विषयों को पाकर मोह-राग-द्वेष करने लगता है अर्थात् अपने ही मोहादि भावों से उपरक्त होकर विषयपने को प्राप्त हुये पदार्थों को जानता है तो वह जड़ कर्मों से बंध जाता है। यहाँ स्निग्धादि स्पर्शगुणों के साथ पुद्गलों का बंध और रागादि के साथ जीव का बंध है, दोनों के परस्परावगाह को जीव और कर्म का बंध कहा गया है। जीव की तरफ से बंध का सार-संक्षेप यह है कि मोहादि परिणामों में अनुरक्त आत्मा ही कर्म बाँधता है तथा मोह-रागादि परिणामों से रहित होने पर वह कर्मों से मुक्त होता है।

जिन परिणामों से बंध होता है, वे परिणाम मोह-राग-द्वेष ही हैं, उनमें मोह और द्वेष अशुभ परिणाम कहलाते हैं तथा राग शुभ परिणाम रूप भी होता है और अशुभ परिणाम स्वरूप भी। शुभपरिणाम को पुण्य और अशुभ परिणाम को पाप कहा जाता है। इन दोनों से बंध ही होता है तथा शुभाशुभ परिणामों से भिन्न परिणाम, जिसे शुद्धोपयोग या वीतराग परिणति स्वरूप आत्मा का अपना परिणाम ही दुःखों अर्थात् आस्रवादि विकारों के क्षय का कारण कहा गया है।

स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्यों से निवृत्ति प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है तथापि स्व-पर भेदविज्ञान मूलक बुद्धि के अभाव में जीव की प्रवृत्ति परद्रव्यों में होती रहती है और वह अपने को भूले रहता है। जब तक ऐसा होता है तब तक उसके इस अज्ञान भाव को ही उसके बंध स्वरूप दुःख का मूल कारण जानना चाहिए।

अज्ञानदशा में भी आत्मा अपने स्वकीय भावों का ही कर्ता है, परकीय पुद्गल पिण्डों का कर्ता वह कतई नहीं है, क्योंकि जीव पुद्गलों के बीच में रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मों-नोकर्मों को न ग्रहण करता है और न ही छोड़ता है। वह तो खुद ही कर्मधूलि से कदाचित् ग्रहण कर लिया जाता है या छोड़ दिया जाता है। सचमुच में अर्थात् अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा कहा जाता है कि अज्ञानी आत्मा का पुण्य-पापादिरूप रागादि परिणाम उसका कर्म है, वह राग परिणाम का कर्ता है, अतः उसी को ग्रहण करने वाला एवं छोड़ने वाला है।

जो जीव अपनी अज्ञानदशा में अशुद्ध नय की प्ररूपणा में मुग्ध होकर रागी-द्वेषी आत्मा को ही जानता रहता है, वह देह द्रविणों में 'मैं एवं मेरेपने' का ममत्व नहीं छोड़ पाता है। ऐसा जीव निश्चित ही श्रामण्य अर्थात् यतिपने को छोड़कर उन्मार्ग अर्थात् मिथ्यामार्ग को प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत यदि कोई अज्ञानी जीव शुद्धनय की प्ररूपणा का आलम्बन लेकन यह धारणा पुष्ट करता जाता है कि मैं पर का नहीं हूँ, परपदार्थ भी मेरे नहीं हैं, मैं तो ज्ञानस्वरूपी ही हूँ। इस जगत् में मेरा कोई भी न होने से मैं अकेला-एकाकी ही हूँ तो उसके आत्मा का ध्यान हो जाता है अर्थात् जब वह इसप्रकार से अपनी आत्मा को ध्याता है तो वह आत्मध्यान का कर्ता होता है। परिणामतः उसे यह प्रतीति हो जाती है कि मेरे संयोग में देह-धनादिक, सुख-दुःख एवं शत्रु-मित्र जन आदि जो भी हैं, वे ध्रुव नहीं हैं, ध्रुव तो मेरा आत्मा ही है।

इस प्रकार आगम के आधार पर युक्तियों का आलम्बन लेकर जो विशुद्ध परिणामी सागार या अनगार शुद्धोपयोग को जान लेता है, वह उसमें ही अपनी सम्पूर्ण बुद्धि को समर्पित करके परम शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है तो उसके मोह की दुर्ग्रन्थि क्षय को प्राप्त हो जाती है तथा निहत मोहग्रंथि अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव श्रामण्य अर्थात् यतिपने में दत्तचित्त होकर अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है।

आज तक जितने भी तीर्थङ्करादि श्रमण हुए हैं, वे सब इस प्रकार से ही सिद्ध परमात्मा बने हैं, उन सबको हमारा नमस्कार उनके बताये हुए मार्ग को पाने के लिए है।

चारित्र अधिकार में मुनि के उत्सर्ग एवं अपवादं चारित्र का व्याख्यान है। अधिकार का आरंभ सकल चारित्र को अपनाने की प्रेरणा से होता है, यदि दुःखों से छूटना चाहते हो तो श्रमणधर्म अर्थात् अनगार चारित्र को अपनाओ। एतदर्थ जिज्ञासु सर्वप्रथम बन्धुवर्ग से अनुमति लेता है, उनमें मुख्यतः माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि से विमोचित होकर श्रामण्य का आचरण करने-कराने में निपुण आचार्यवर्य की शरण में जाता है और प्रणतिपूर्वक उनसे प्रार्थना करता है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्य – इन पंचाचारों को अंगीकार करने के लिए मैं आपकी शरण में उपस्थित हूँ, कृपया दीक्षादान के लिए मुझे स्वीकार करें, ताकि मैं कृतार्थ हो सकूँ।

दीक्षा लेने की अपनी भावना के वशीभूत होकर वह कहता है कि अब मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरों के लिए नहीं हूँ और न ही दूसरे मेरे हैं। इस लोक में अब मेरा कुछ भी नहीं है। मेरी मति दीक्षा लेकर श्रामण्य की साधना के लिए दृढ हो गयी है।

यथाजात स्वरूप जितेन्द्रिय जिनलिङ्ग धारण करना मेरा लक्ष्य बन गया है, क्योंकि मोक्ष के लिए तत्कारण स्वरूप यही जिनलिङ्ग ही तो ऐसा है, जो परापेक्षी नहीं है तथा समस्त आरंभ परिग्रह की मूर्च्छा से रहित है। योग और उपयोग की शुद्धि के लिए परम आलम्बन है। मुझे ज्ञात है कि यह जिनलिङ्ग यथाजात स्वरूप होने से नग्न ही होता है, हिंसादि सर्व सावद्य रहित होने से शुद्ध होता है, प्रतिकर्म शून्य होने से देह संस्कार या शृंगार विहीन स्वरूप वाला होता है, इसमें केश और श्मश्रु हाथ से ही उपाड़े-उखाड़े जाते हैं।

गुरु की कृपा होने पर जब वह जिनलिङ्ग धारण कर लेता है तो उनके ही चरणों में बैठकर अति विनय से नमस्कार करता हुआ लिङ्ग की सुरक्षा हेतु सर्व सावद्य योग के प्रत्याख्यान में कारणभूत व्रतक्रिया को गुरुमुख से सुनता है। गुरु के उपदेश और आगम में बताये अनुसार अपनी आत्मा को जानने का सतत पुरुषार्थ करते रहने से वह कायोत्सर्ग करके सामायिक अर्थात् समयलीनता स्वरूप शुद्धोपयोग को पाकर समदृष्टि श्रमण हो जाता है।

इस प्रकार सामायिक संयम में आरूढ वह श्रमण जब निर्विकल्प दशा से च्युत होता है तो सोचता है कि शुद्धोपयोग ही मुझे आत्मलाभ के लिए श्रेयस्कर है, जो मुनिदशा में ही प्रचुरता से हो सकता है, अतः मुनि बने रहने में ही मेरा हित है। परिणामतः अट्ठाईस मूलगुणों को वह निष्ठापूर्वक पालता है और अपने को मुनिपने में स्थापित किये रहता है। सावधानी रखते हुए भी प्रमाद हो जाने से प्रमत्त हो जाता है तो छेदोपस्थापना संयम से पुनः छेदोपस्थापक होकर संयम की साधना में तत्पर हो जाता है।

जब कोई श्रमण संयम के परिचालन में छेद (दोष) होने पर स्वयं ही उसका परिहार करके संयम में पुनः स्थापित होता है तो वह स्वयं ही छेदोपस्थापक है। तथा जब कोई दूसरा दीक्षादाता गुरु अथवा अन्य कोई श्रमण (मुनि) उसे छेद से बचने का मार्ग प्रशस्त करके पुनः संयम परिपालन में दृढ कर देते हैं तो छेदोपस्थापक दूसरे भी होते हैं।

अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग के भेद से संयम का छेद दो प्रकार का कहा गया है। कायचेष्टा विषयक दोष बहिरङ्ग छेद हैं तथा उपयोगपरक दोष अंतरंग छेद। वे दोष जो केवल काय चेष्टा वशात् सहज हो जाते हैं, उनके होने में उपयोग की कोई भी भूमिका नहीं होती है तो ऐसे बहिरङ्ग छेदों का परिहार आलोचना क्रिया से ही हो जाता है, किन्तु जिन दोषों के होने में उपयोग की भूमिका होती है, उन दोषों से संयम का छेद

साक्षात् ही हो जाता है, अत: इन दोषों का प्रक्षालन कर पुनः संयम में प्रतिष्ठापित होने के लिए श्रमण को प्रायश्चित्तादि की जिनेन्द्रोक्त व्यवहारविधि के ज्ञाता आचार्य के समीप जाकर और विहित दोषों की आलोचना करके उनके द्वारा बताये गये प्रायश्चित्तादि का अनुष्ठान करना आवश्यक हो जाता है।

श्रामण्य के निर्वाह में परद्रव्यों का प्रतिबंध (अनुराग या आसक्ति) छेदायतन माना गया है, अत: श्रमण का कर्तव्य है कि वह दीक्षा दाता गुरु के साथ संघ में रहे या गुरु विरहित वास में रहे तो समस्त चेतन-अचेतन परद्रव्यों के प्रति अनुरागी होकर न रहे। छेदविहीन श्रमण होकर ही श्रामण्य की साधना से अपने मनुष्यभव को सार्थक करे। जो श्रमण श्रामण्य को सफल बनाने की अभिलाषा रखता है, उसे श्रामण्य की पूर्णता का आयतन उसका स्वद्रव्य ही है, इसलिए मूलगुणों के पालन में सावधान श्रमण सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी अपनी आत्मा में ही विचरण करे और स्वानुभूति के अभ्यास से परिपूर्ण श्रामण्य होने का गौरव अर्जित कर अनंतसुखी बने। परद्रव्य विषयक सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुराग भी श्रामण्य के परिपालन में दोषकारक है, इसलिए श्रमण प्रासुक आहार प्राप्त करने में, इन्द्रियदर्प का क्षय करने वाले अनशनादि तप में, गिरि-कन्दरादिक निवास स्थान में, शरीरवृत्ति के हेतुभूत आहार-नीहारादि के लिये किये गये विहार में, श्रामण्य पर्याय के सहकारी कारणपने से स्वीकृत अपनी देह में, सन्मार्गानुयायी परिचित-अपरिचित श्रमणों से तथा आत्मबोध से वंचित करने वाली और लौकिक रागवर्धक विकथाओं में अनुराग वृत्ति करता हुआ न रहे, इनसे राग पोषण की इच्छा भी नहीं करे।

वस्तुत: शयनासनगमन आदि क्रियाओं के करने में श्रमण की चर्या यदि अयत्नाचार पूर्वक होती है तो उसे सदैव हिंसा ही माना गया है, क्योंकि अयत्नाचारी श्रमण के निमित्त से जीव मरें या जियें उसे तो निश्चित ही हिंसा का दोष लग जाता है, इतना ही नहीं वह षट्काय की विराधना करने वाला वधक ही माना गया है तथा यत्नपूर्वक समिति, गुप्ति आदि का पालन करने वाले श्रमण के परजीवों की हिंसा मात्र हो जाने से बंध नहीं होता है। वह तो जल में भिन्न कमल की भाँति निरुपलेप ही रहता है।

श्रमण को यह भी नहीं सोचना चाहिए कि अशुद्धोपयोग के सद्भाव या असद्भाव में शुभक्रियानिरत काय-व्यापार की चेष्टा से हिंसा होती भी है और नहीं भी होती है। जीव तो अपने आयु क्षय के कारण मिलने पर ही मरते हैं, कोई भी उन्हें

नहीं मार सकता है, अत: हम तो शुभोपयोग से धर्मप्रभावना का कार्य कर रहे हैं; ऐसा सोचने से आरंभ परिग्रह में आसक्ति हो जाती है और आरंभ-परिग्रह के प्रति अनुरक्ति होने से श्रमण में होने वाला अशुद्धोपयोग निश्चित ही बंधकारक होने से दोषोद्भावक हो जाता है, जो एकान्तत: हेय ही है। उसका प्रतिषेध श्रमणत्व के लिए जरूरी है।

अन्तरङ्ग छेद से बचने के लिए उपधि प्रतिषेध अर्थात् सर्वारम्भ परिग्रह का त्याग अपरिहार्य बताया गया है। जिस श्रमण के पास परिग्रह है, उसके मूर्च्छा कैसे नहीं है ? आरंभजनित दोष और तज्जन्य असंयम उसके अवश्य होता है। अत: परद्रव्यानुरागी श्रमण आत्मसाधना को कैसे कर सकता है। असंयमी के भी आत्म साधना संभव है क्या ? नहीं। जब तक भिक्षु (साधु) के निरपेक्ष रूप से परिग्रह का त्याग नहीं होता है, तबतक उसके आशयविशुद्धि का अभाव ही है तथा अविशुद्ध आशय वाले श्रमण के कर्मों का क्षय नहीं होता है। यहाँ मुनि के उत्सर्ग रूप चारित्र को प्ररूपित करके आचार्य पंचमकाल जन्य संहननादि की हीनता को ध्यान में रखते हुए अपवाद चारित्र का भी प्ररूपण करते हैं।

देशकालादि की अपेक्षा से अपहृत संयम स्वरूप अपवाद मार्ग की प्ररूपणा प्रवचनसार में है। इस काल में परमोपेक्षा संयम को पालने की शक्ति का अभाव होने पर संयम, शुचिता और ज्ञान के उपकरण किसी अपेक्षा से श्रमण द्वारा ग्राह्य होते हैं। जिस उपकरण विशेष या आहार के ग्रहण करने या छोड़ने में भावसंयम और बहिरङ्ग द्रव्य संयम का छेद न हो उस बहिरङ्ग साधन मात्र उपधि (परिग्रह) को स्वीकार लेना ही अपवाद है तथा सर्वविध उपधि का त्याग करके मुनिधर्म पालना उत्सर्ग है। अपवाद में भी संयम, शुचिता और ज्ञान के उपकरण स्वरूप वह अप्रतिषिद्ध उपधि ही श्रमण द्वारा ग्राह्य है, जो अल्प हो, असंयमीजनों द्वारा वांछनीय-प्रार्थनीय न हो और मूर्च्छा पैदा करने वाली न हो। अपवादमार्गी श्रमण यह न भूले कि जब मुझे श्रामण्यपर्याय की सहकारी देह में भी मूर्च्छा करना हितकर नहीं है तो फिर अन्य उपधि में मूर्च्छा तो की भी कैसे जा सकती है। मुनिधर्म की सिद्धि के लिए उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं। अपवादतया स्वीकृत उपकरण भी उत्सर्ग के लिए ही हैं, उत्सर्ग को बचाने या बनाये रखने के लिए अपवाद का उपदेश है। उत्सर्ग मार्ग भूलकर अपवाद को स्वीकार करके प्रमादी या लोकानुसारी हो जाना समीचीन नहीं है। वस्तुत: संयम की साधना हेतु जिनको उपकरण बताया गया है, वे चतुर्विध हैं – १. सर्वविधसंग के परित्याग से नग्न शरीर रूप द्रव्यलिङ्ग २. गुरु के

सिद्धोपदेश स्वरूप वचन ३. सूत्राध्ययन या परमागम का वाचन ४. विनय का परिणाम।

यहाँ शरीरमात्र परिग्रह के पालन की विधि निर्दिष्ट है। श्रमण के युक्ताहार-विहार को श्रमण धर्म के योग्य होने पर अनाहारादि के तुल्य ही समझाया गया है। उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों मार्गों में परस्पर मैत्री ही मुनिधर्म की रक्षक मानी गयी है, इससे मुनिपद में श्रमण की स्थिरता होती है तथा दोनों मार्गों को परस्पर निरपेक्षता से अपनाने पर विरोध पैदा हो जाने से उसका मुनिपद अस्थिर हो जाता है।

श्रमण के लिए मुक्तिमार्ग में टिके रहने का या आगे बढने का ही एकमात्र कार्य होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी आत्मा ही मुक्तिमार्ग होने से अपनी आत्मा में एकाग्र होकर रहना मुनि का मुख्य कर्तव्य सिद्ध होता है। श्रामण्य और मुक्तिमार्ग को एकार्थक ही माना गया है। श्रमण मुक्तिमार्ग में अवस्थित होता ही है अर्थात् एकत्वस्वभावी निज आत्मा को प्राप्त हुआ श्रमण पुन:-पुन: स्व स्वरूप रमणता का ही प्रयत्न बनाये रखता है, एतदर्थ उसे जिनागम ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलम्बन होता है। आगम की अवहेलना करके कोई श्रमण नहीं रह सकता है, यह जरूरी है कि श्रमण जीवादि पदार्थों के चिन्तन-मनन में उसके आश्रय से होने वाले भेदविज्ञान मे अपनी बुद्धि को व्यस्त रखे, क्योंकि जीवादि पदार्थों में एकत्व का निश्चय करने वाले श्रमण को ही एकत्व की उपलब्धि होती है। जीवादि पदार्थों का यथार्थ निश्चय आगम से ही होता है, अत: श्रमण के लिए आगमचेष्टा ही ज्येष्ठ अर्थात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। ''आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा'' का मधुरतम संस्कार हर श्रमण के मन मे जागरित रहना चाहिए। श्रमण आगमचक्षु कहा गया है, उसे चित्र-विचित्र अर्थात् अनेकविध गुण-पर्यायों से युक्त जीवादि पदार्थों का जानना आगम के अनुसार ही होना चाहिए। अत: श्रमण आगम से जीवादि पदार्थों को जानकर तदनुरूप ही उन्हें जानते रहते हैं। आगमज्ञान से हीन श्रमण स्व-पर पदार्थो को नहीं जानता है तथा उन्हे न जानता हुआ श्रमण कर्मों का क्षय कैसे या क्यों करे ?' यह प्रश्न उपस्थापित कर आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमण के लिए आगम की अपरिहार्यता बता दी है, इतना ही नहीं, वे कहते हैं जिस श्रमण के लिए आगमपूर्वक दृष्टि या श्रद्धान का अभाव है, उसके संयम ही नहीं है तथा श्रमण असंयमी कैसे हो सकता है, अत: मुनि को आगम पर अटूट विश्वास होना चाहिए। इस प्रकार आगम ज्ञान, तत्त्वश्रद्धान और संयमतत्व इन तीनों का एक साथ श्रमण में होना तो जरूरी है ही। इनसे सम्पन्न

श्रमण को मोक्षमार्ग में बने रहने के लिए आत्मज्ञान का पुनः-पुनः होते रहना भी अत्यंत अपरिहार्य माना गया है। इसके विना श्रमण के कर्मों की निर्जरा नगण्य ही होती है, किन्तु आत्मज्ञानी श्रमण को उसकी प्रचुरता है। अज्ञानी श्रमण लाखों करोड़ों वर्षों में त्रिगुप्ति रूप तपश्चरण से जितने कर्म खिपाता है, ज्ञानी उन्हें श्वासोच्छ्वास मात्र समय में ही खिपा देता है। आत्मज्ञान ही मुक्ति पाने का परम आलम्बन है। मोक्षमार्ग में स्थित श्रमण यदि देहादि में परमाणु के बराबर भी मूर्च्छा रखता है तो सर्व आगमों का ज्ञाता अर्थात् सर्वागमधर होकर भी सिद्धि को नहीं पाता है, जिससे सिद्ध हो जाता है कि आगमज्ञान, तदनुरूप तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम का पालन आत्मज्ञान से ही सार्थक होकर सिद्धि प्रदाता बन जाता है। आत्मज्ञानी श्रमण पंच समितियों का पालनकर्ता, तीनों गुप्तियों से सम्पन्न, पंचेन्द्रियद्वारों को बंद करने वाला, कषायों को जीतने वाला, सम्यग्दर्शन-ज्ञान से पूर्ण और संयमी ही कहा गया है। समतावान् श्रमण वह है, जिसे शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, प्रशंसा-निंदा, कांच-कंचन और जीवन-मरण समान भासित होते हैं। वह किसी में भी राग-द्वेष नहीं करता है।

आगम में श्रमणों को शुद्धोपयोग और शुभोपयोग से युक्त बताया गया है तथा शुद्धोपयोगी श्रमण आस्रव से रहित (अनास्रवी) और शुभोपयोगी आस्रव सहित होते हैं।

जो श्रमण श्रामण्य परिणति को प्रतिज्ञापूर्वक निवाहते हैं, किन्तु कषायकण के जीवित रहने से शुद्धात्म स्वभाव में प्रवृत्ति करके शुद्धोपयोगी हो पाने में असमर्थ रहते हैं, वे शुद्धोपयोगभूमि के उपकंठ पर अर्थात् समीप ही हैं, जिन्होंने कषाय की शक्ति को कुण्ठित कर दिया है, पर आतुरचित्त वाले हैं, उन्हें श्रमण मानें या नहीं। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि उनके शुभोपयोग का श्रामण्य के साथ एकार्थसमवाय होता है, अतः शुभोपयोगी श्रमण ही कहा जाता है, किन्तु उनकी बराबरी शुद्धोपयोगी श्रमणों के साथ नहीं हो सकती है।

शुभोपयोगी श्रमण वह है, जिसके श्रामण्य के बने रहने पर शुभोपयोग सहित चर्या होती है। शुभोपयोग के लिए उसमें अरहंतादिक के प्रति भक्ति और प्रवचनशीलों में वात्सल्य का परिणाम विद्यमान रहता है। वह श्रमणों के आने पर उनके प्रति वंदन-नमन, अभ्युत्थान, अनुगमन आदि विनीत प्रवृत्तियों को अपनाता है। उसके लिए श्रमणों के श्रमापनयन हेतु वैयावृत्यकरण भी निंदित नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान के लिए उपदेश देना रत्नत्रय की आराधना आदि की इच्छा रखने वालों को शिष्य बना लेना, उनका पोषण-संरक्षण करना, सरागियों को जिनेन्द्र पूजा करने के लिए उपदेश देना आदि चर्या शुभोपयोगी मुनि की होती है। वह चतुर्विध श्रमणसंघ का उपकार हिंसादिक की विराधना से रहित होकर करता है, इसलिए उसके शुभराग की प्रधानता होने से वह सरागी ही कहलाता है। सागार-अनगार चर्या से युक्त जनों का जो भी उपकार वह अपनी अनुकम्पा से कर सकता है तो करे, किन्तु इससे वह अल्पलेपी अर्थात् कर्मबंध करने वाला ही होता है।

रोग, भूख-प्यास आदि से आक्रान्त किसी श्रमण को देखकर शुभोपयोगी मुनि अपनी शक्ति के अनुसार उसकी वैयावृत्ति करे तथा ऐसे ही गुरु-बाल-वृद्ध एवं ग्लान श्रमणों की वैयावृत्ति करने के निमित्त लौकिकजनों को भी कहे तो उसकी यह प्रवृत्ति निंदनीय नहीं है, तथापि इसमें वह अत्यंत सावधानी से ही प्रवृत्ति करे अन्यथा उसके गृहस्थ होने का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि स्पष्ट ही कहा गया है कि वैय्यावृत्ति के लिए उद्यत कोई श्रमण यदि षट्काय के जीवों को खेद उत्पन्न करता है तो वह श्रमण नहीं रहता अगारी अर्थात् गृहस्थ हो जाता है।

उपर्युक्त वैय्यावृत्यादि की प्रशस्त चर्या गृहस्थों को ही मुख्यपने से करनी चाहिए, मुनि के लिए यह कर्तव्य गौण होता है।

प्रशस्त राग रूप शुभोपयोग वस्तु या पात्र की विशेषता से फलदायी होता है। मुनि यदि अपने मूल प्रयोजन को साधने के लिए सर्वज्ञ प्रणीत वस्तु व्यवस्था के अनुरूप श्रमणधर्म का पालन करते हुए शुभोपयोगी होता है तो उसके शुभोपयोग का फल पुण्य संचयपूर्वक मोक्षोपलब्धि ही है, किन्तु जो श्रमण केवल लोकानुरंजन एवं धर्मप्रभावना के लिए अल्पज्ञ-संसारियों के बताये अनुसार व्रत, नियम, अध्ययन, दान आदि से शुभोपयोगी होते हैं तो उनके शुभोपयोग का फल मोक्षशून्य पुण्यापसद की प्राप्ति ही बताया है। पुण्यापसद अर्थात् पुण्य का कुत्सित फल कुदेवों या कुमनुष्यों में उत्पत्ति होना है।

जो विषय-कषायों की पूर्ति हेतु शुभोपयोगमयी परिणाम करते हैं, उन्हें शास्त्रों में पापरूप ही कहा है, वे संसार से पार कराने वाले संसार निस्तारक नहीं होते हैं। इसके विपरीत जो पापभाव छोड़कर सभी धार्मिकों एवं धर्म कार्यों में समभाव रखते हैं, मूलगुणों का ही उपसेवन अर्थात् परिपालन करते हैं, वे श्रमण सुमार्ग के भागी होकर अशुभोपयोग से रहित होते हैं तथा शुभोपयोगी या शुद्धोपयोगी होकर लोगों

को संसार से पार उतारने वाले होकर संसार निस्तारक होते हैं। उनमें भक्ति करने वाला भी प्रशस्त माना गया है। जो श्रमण नहीं है, श्रमणाभास हैं, उन्हें लक्षित करके यहाँ जो कहा गया है, वह इस प्रकार है –

१. जो संयम, तप, सूत्र अर्थात् शास्त्र अध्ययन से युक्त होकर भी यदि जिनेन्द्रोक्त आत्मप्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है, वह श्रमण नहीं है।

२. यदि कोई श्रमण द्वेषवशात् किसी शासनस्थ मोक्षमार्गी श्रमण को देखकर उसका अपवाद करता है और अभ्युत्थान आदि क्रियाओं से उसका सन्मान नहीं करता है तो वह भ्रष्ट चारित्र वाला श्रमण है।

३. संयमादि गुणों से हीन होकर भी जो 'मैं श्रमण हूँ' – ऐसा सोचकर अपने से अधिक गुण वालों द्वारा अपनी विनय कराना चाहता है तो वह अनंत संसारी है।

४. संयमादिक के पालन में अधिक गुण वाला होकर भी यदि कोई श्रमण अपने से हीनाचारी श्रमण के प्रति अभ्युत्थानादि क्रियाओं में वर्तता है तो वह मिथ्यात्व युक्त होकर प्रभ्रष्टचारित्र वाला हो जाता है।

५. यद्यपि कोई श्रमण सूत्रार्थ का निश्चायक है अर्थात् यथार्थतः सूत्रों-शास्त्रोपदेशों के रहस्य को जानने वाला है, कषायों को शान्त करके शमितकषायी है और उत्कृष्ट तपस्वी है। फिर भी यदि वह लौकिक जनों की संगति करता है तो असंयत (असंयमी) ही हो जाता है।

६. निर्ग्रन्थ दीक्षा में प्रव्रजित एवं संयम तप आदि से संयुक्त होकर भी यदि लौकिक कार्यों में मतलब रखता है तो वह लौकिक ही कहा गया है।

शुभोपयोगी श्रमण श्रमणाभास न हो जाये, इसलिए उसे यह प्रेरणा दी गयी है कि वह लौकिक जनों की संगति न करे यदि वह दुःखों से परिमोक्ष चाहता है तो उसे समान गुण वाले अथवा अपने से अधिक गुण वाले श्रमण के साथ ही अधिवास करना चाहिए।

इसके बाद इस ग्रंथ के अंत में संसार तत्त्व, मोक्ष तत्त्व, मोक्ष तत्त्व के साधनत्व अर्थात् शुद्धोपयोगी श्रमण, शुद्धोपयोगी श्रमण का अभिनंदन एवं शिष्यजनों की अपेक्षा शास्त्रज्ञान का फल बताने वाली पाँच गाथायें हैं, इन्हें इस शास्त्र के मुकुट स्वरूप पञ्चरत्न की उपमा दी गई है, जिसका औचित्य या महत्त्व तत्त्वबोध की प्रेरणा को यथार्थ दिशा प्रदान करना है।

प्रवचनसार की टीकायें

आचार्य कुन्दकुन्द की प्रतिष्ठा, मुक्ति विषयक पुरुषार्थ हेतु उनके वाङ्मय की अपरिहार्यता और उत्कृष्टता को लक्षित कर निर्द्वन्दपने कहा जा सकता है कि उनका वाङ्मय अवश्य पठन-पाठन एवं अधिगम की दृष्टि में जीवित रहा होगा। फिर भी लगभग हजार वर्षों तक उस पर टीका साहित्य का प्रणयन न होना विचारणीय प्रतीत होता है। एतदर्थ यह कहा जा सकता है कि –

१. कुन्दकुन्द वाङ्मय के पढने या समझने वाले सीमित रहे होंगे। जो होंगे वे भी अध्यात्मप्रियता के कारण स्वाधिगम व्यापार में ही मस्त या व्यस्त रहे। उन्हें आत्महित ही श्रेयस्कर लगा, समाजहित नहीं। अत: उनका रुझान टीका साहित्य के सृजन का नहीं बना या नगण्यवत् ही बना।

२. अधिगम की दृष्टि से तब कुन्दकुन्द वाङ्मय इतना सहज और सरल रहा कि उसका पाठक सहज ही अपने लक्ष्य को सार्थ करने में सफल होता रहा। फलत: यह जिज्ञासा ही नहीं हुई कि अधिगम के लिए उनके वाङ्मय को विस्तार देकर व्याख्यायित किया जाये।

३. कुन्दकुन्द वाङ्मय के अभ्यास में निरत बुद्धि पाण्डित्य प्रदर्शन की कामना से अछूती रही, जिससे बुद्धिजीवियों का रुझान एतदर्थ नहीं हुआ।

४. भाषिक विवेचन और दार्शनिक ऊहापोह ही पाण्डित्य प्रदर्शन का आलम्बन बनता है, जिसके लिए टीका ग्रन्थों का प्रणयन आवश्यक हो जाता है। कुन्दकुन्द वाङ्मय तब इसके लिए उपयोगी नहीं माना गया।

५. यह भी संभावना की जा सकती है कि लगभग सहस्र वर्ष के अन्तराल में कुन्दकुन्द वाङ्मय पर टीका साहित्य का प्रणयन हुआ हो और वह अपने कारणों से काल कवलित हो गया हो, हमें उपलब्ध न हो सका हो।

६. यह भी संभव है कि अध्यात्मपरक इस वाङ्मय को तब बुद्धिजीवी रचनाकारों ने युगीन आवश्यकता के अनुरूप अपना-अपना अस्तित्व और वर्चस्व कायम रखने की होड़ में शामिल ही न किया हो, प्रत्युत तत्त्वार्थसूत्र पर टीकायें लिखकर उन्होंने जैन दार्शनिक मूल्यों की प्रतिष्ठा को वृद्धिंगत करते हुए ही जैनत्व के अस्तित्व और वर्चस्व को बचाया।

७. दार्शनिक वैशिष्ट्य एवं अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ की अपेक्षा से कुन्दकुन्द वाङ्मय का अपरिहार्य औचित्य है। यह वच: सम्पदा अमूल्य धरोहर है। जब इसे समझना

दुरुह या टेढी लकीर हो गया तो आवश्यकतानुसार कुन्दकुन्द वाङ्मय पर टीका साहित्य का प्रणयन होने लगा।

यहाँ हम पवयणपाहुड की टीकाओं का सामान्य उल्लेख करना ही उपयुक्त मान रहे हैं। डॉ. ए.एन. उपाध्याय ने स्व सम्पादित प्रवचनसार की प्रस्तावना में प्रवचनसार के टीकाकारों का सविमर्श प्ररूपण किया है। जिज्ञासु पाठक वहाँ से अपनी जिज्ञासाओं को शान्त कर सकते हैं। जो टीकायें हमें उपलब्ध हो सकी हैं, वे हैं –

१. आचार्य अमृतचन्द्र विरचित तत्त्वदीपिका टीका – ईसा की दसवीं शताब्दी में समुद्‌भूत आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह पर अत्यंत सारपूर्ण टीकाओं का प्रणयन किया। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसार और लघुतत्त्वस्फोट (शक्तिमणितकोष) उनकी स्वतंत्र रचनायें है। अमृतचन्द्रसूरि जैनविद्या के मनीषी विद्वान् ही नहीं, लोकेषणा से कोशों दूर रहने वाले वीतरागी व्यक्तित्व के धनी नग्न दिगम्बर महामुनि थे। संस्कृत-प्राकृत भाषाविद् अमृतचन्द्रसूरि जैन न्यायविद्या में पारङ्गत थे, उनकी रचनाओं में सिद्धान्तों की प्ररूपणा न्यायशास्त्रोक्त शैली में हुई है। सर्वत्र ही सरसता, सहजता, प्रौढता, तार्किकता आदि का दिग्दर्शन होता है। प्रवचनसार का यथार्थवबोध कराने में अप्रतिम प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वदीपिका टीका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्राय: सभी टीकाकारों ने इसका अनुकरण किया है तथा सभी मनीषियों, साधकों एवं अध्यात्मरसपिपासुओं ने इससे भरपूर लाभ उठाया है। तत्त्वप्रदीपिका में निरूपित विषय अध्यात्म को मुख्य करके भी आगम की अवहेलना नहीं करता है। सभी जगह यथार्थ को सतार्किक रूप से प्रस्तुत करने में आचार्य अमृतचन्द्र की लेखनी सिद्धहस्त-सी प्रतीत होती है, वे इतने रसमग्न हो जाते हैं कि दुरुह दार्शनिक सिद्धान्तों की प्ररूपणा के प्रसङ्ग में भी गाने लगते हैं, उनकी जिजीविषा काव्यध्वनि में व्यक्त होने लगती है। गद्यमय टीका में भी सरस काव्यों का प्रणयन करने की दृष्टि से अमृतचन्द्रसूरि एक बेजोड़ निदर्शन हैं और उनकी रचनायें हैं अनुपम खजाना। द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के उपदेशों की परस्पर सार्थकता प्ररूपित करते हुए उनके दो छन्द यहाँ उपस्थापित करके ही हम संतोष कर रहे हैं –

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः, द्रव्यस्य सिद्धिश्च चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वाति कर्माविरता परेऽपि, द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ।।

२. **आचार्य जयसेन रचित तात्पर्यवृत्ति टीका** – ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुए आचार्य जयसेन ने कुन्दकुन्द वाङ्मय अर्थात् समयसार-प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह पर सरल संस्कृत में टीकायें लिखी हैं। ये आचार्य जयसेन 'धर्मरत्नाकर' के कर्ता आचार्य जयसेन (विक्रम संवत् १०५५) से भिन्न हैं। प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका प्रशस्ति में उन्होंने अपने आपको गुणसमूहों के आश्रय स्वरूप गणी श्री सोमसेन का शिष्य बताया है। उन्होंने प्राभृत ग्रन्थों को पुष्ट करने वाले अर्थात् प्राभृतशास्त्रविद् अपने पिता की भक्ति का लोप हो जाने के भय से स्वयं को भीरु बताया है। इतना ही नहीं यहाँ यह भी ध्वनित होता है कि जो निरन्तर ही आर्य यानि योग्य या आदरणीय-सम्माननीय क्रम से की जाने वाली आराधना से सर्वज्ञ की अर्चना करता है। वह श्रेयस अर्थात् कल्याण के लिए इन प्राभृत ग्रंथों से पुष्ट होता है। आचार्य जयसेन कृत टीकाओं के संदर्भ में कुछ विशेषतायें यह हैं –

१. गाथा में निहित अर्थ को स्पष्ट करने हेतु वे गाथा के प्राकृत पदों या वाक्यों को पदान्वय या खण्डान्वय शैली में अपना कर गाथा का खुलासा करते हैं।

२. वे सरल और सटीक संस्कृत भाषा में ही गाथा का हृदय खोल कर रख देते हैं। इतना ही नहीं पाठक को प्रेरित करते हुए भावार्थ लेखन भी उन्हें प्रिय है।

३. विषयवस्तु की स्पष्टाभिव्यक्ति के लिए उदाहरणों का प्रयोग करना तथा दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) में परस्पर संबंधाभिव्यक्ति से आशय को स्पष्ट कर देना उनकी खूबी है।

४. पारिभाषिक-लाक्षणिक शब्दों का खुलासा यथायोग्य तरीके से करना उन्हें सुकर है।

५. अपने लेखन में निहितार्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करने हेतु वे उद्धरणों को भी प्रस्तुत करते हैं।

६. आचार्य जयसेन ने अमृतचन्द्रसूरि कृत टीकाओं को ध्यान में रखा है, उनके दार्शनिक-सैद्धान्तिक अवदान के वे कायल हैं, किन्तु टीका करते हुए उन्होंनें उनका पूर्णत: अनुकरण नहीं किया है। उनके समय मूलग्रंथों की जो प्रतियाँ उन्हें मिलीं, उनमें आगत सभी गाथाओं को उन्होंने अपनी टीका में शामिल किया। अमृतचन्द्र की टीका से अतिरिक्त गाथाओं पर भी उन्होंने टीका लिखी।

७. पूर्व टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि का अनुसरण करते हुए उन्हें यह आभास जरूर हुआ होगा कि शायद मूल गाथाओं की संख्या में घटा-बढी हो गयी है। अमृतचन्द्रसूरि के समय जो मूलगाथायें कुन्दकुन्द के पाहुडों में प्रसिद्ध थीं, उन पर ही अमृतचन्द्र ने टीका लिखी – ऐसा मानकर ही उन्होंने यह कहीं नहीं लिखा कि अमृतचन्द्र ने कुछ गाथायें छोड़ दी हैं। प्रत्युत अमुक प्रकरण या पातनिका में अमृतचन्द्र की टीका में कितनी गाथाये हैं, यह उल्लेख ही उन्होंनें किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे अमृतचन्द्र के प्रति आस्थावान् थे। एक वीतरागी सन्त अपने पूर्ववर्ती महान् प्रतिभाशाली वीतरागी सन्त के प्रति अनास्थावान् हो भी कैसे सकता है।

उन्हें प्रक्षेपांशों का भय रहा होगा, तभी तो उन्होंने समुदाय पातनिका आदि में गाथाओं की संख्या का ब्यौरेवार उल्लेख करके मूल ग्रंथ में गाथाओं को मिला देने या घटा देने की प्रवृत्ति को रोकने का ऐतिहासिक कार्य किया है। दार्शनिक तथ्यों के प्रति शुद्धिकरण की दिशा में भी इस प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है।

८. जयसेनाचार्य का परम आध्यात्मिक होंना उनकी बहुत बड़ी विशेषता है, वे हर पहलू को आध्यात्मिक रहस्यों की तरफ मोड़ देते हैं। स्वकीय चित्स्वरूप या रागादि विकल्पोपाधिरहितनिजशुद्धचैतन्य या सदा चिदानन्दस्वरूपनित्यनिरञ्जन निजपरमात्मस्वरूप इत्यादि नैकविध वैशिष्ट्य से अपने शुद्धात्मा की अनुभूति करने हेतु ही वे पाठकों को उत्प्रेरित करते दिखाई पड़ते हैं। निश्चय और व्यवहार – इन दोनों अध्यात्मनयों का सार्थक निर्वाह करने में वे सिद्धहस्त हैं। इस तरह आगम और अध्यात्म दोनों को ही परिपुष्ट करने वाला विवेचन उनकी टीका में है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका भी उपर्युक्त विशेषताओं का अपवाद नहीं

है। ज्ञान, ज्ञेय और आचरण विषयक सभी सिद्धान्तों का स्पष्टावबोधन सरल संस्कृत में करा देने मे यह सक्षम है।

३. बालचन्द रचित कन्नड़ तात्पर्यवृत्ति – आचार्य अमृतचन्द्र एवं जयसेन के अनुकरण पर इन्होंने समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय की टीकायें कन्नड़ भाषा में की हैं। इनकी ख्याति अध्यात्मी बालचन्द्र के रूप में हो गयी थी। सिद्धान्तचक्रवर्ती नयकीर्ति इनके गुरु थे। ईसा की तेरहवीं सदी के प्रारंभ में हुए अध्यात्मी बालचन्द्र ने अपनी उक्त टीकाओं में जयसेनाचार्य को प्राथमिकता दी है। मुनिराज जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर भी इन्होंने कन्नड़ में टीकायें लिखी हैं।

४. प्रभाचन्द्रकृत प्रवचनसार सरोज भास्कर टीका – डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार प्रवचनसारसरोजभास्कर टीका के रचनाकार वे ही हैं, जिन्होंने प्रमेय-कमलमार्तण्ड आदि दश टीकाग्रंथों का प्रणयन किया[१]। यदि यह प्रमाणित मान लिया जाये तो प्रवचनसार सरोजभास्कर टीका ११वीं शताब्दी की रचना ठहरती है। जो कि जयुपर में विद्यमान पाण्डुलिपि को देखने के बाद सही नहीं लगता है। अत: इस टीका में न तो प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसा पाण्डित्य ही दिखाई देता है और न ही भाषा की सशक्तता-प्रौढता तथा अमृतचन्द्र एवं जयसेन के कथनों का ही सार-संक्षेप इसमें है।

डॉ. ए.एन. उपाध्याय ने लिखा है कि प्राकृतभावत्रिभंगी के लेखक श्रुतमुनि ने अपने ग्रंथ की प्रशस्ति में लिखा है कि मेरे अणुव्रतगुरु बालचन्द्र, महाव्रतगुरु अभयचन्द्रसिद्धान्ती थे तथा अभयसूरि एवं प्रभाचन्द्र उनके शास्त्र-गुरु थे।[२] उनके अनुसार प्रभाचन्द्र ईसा की चौदहवीं सदी के प्रथमपाद में हुए होंगे। टीका का यथार्थबोध तो पाण्डुलिपि का समीचीन सम्पादन आदि होकर प्रकाशित होने पर ही होगा। मुझे विश्वास है कि कोई शोधार्थी जयपुर में विद्यमान इस पाण्डुलिपि (कृति) को प्रकाश में लाने का शुभकार्य करेगा।

५. पाण्डे हेमराज की हिन्दी बालबोध टीका – हिन्दी भाषी क्षेत्र में प्रवचनसार की यह टीका महत्त्वपूर्ण मानी गयी और संस्कृत-प्राकृत से अनभिज्ञ जनों के लिए पथप्रदर्शक बनी। इसके कारण हैं – १. भाषा का सहज, सरल और

---

१. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृष्ठ ५०

२. प्रवचनसार प्रस्तावना का पृष्ठ १०४ (डॉ. ए.एन. उपाध्याय)

प्रभावोत्पादक होना। २. गाथानुसारी अर्थ करके भावार्थ द्वारा विषयवस्तु को स्पष्ट करने की शैली का अपनाया जाना। ३. अपनी टीका का आधार अमृतचन्द्र की तत्त्वदीपिका को बना लेना। ४. ग्रंथ या गाथा में प्रतिपादित विषयों को बिना किसी स्खलन के तर्कनिष्ठ शैली में सोदाहरण प्रस्तुत कर देना। ५. अध्यात्म की अलख जगाने में पीछे नहीं रहना इत्यादि।

आगरा निवासी पाण्डे हेमराजजी पंडित रूपचन्द्रजी के शिष्य थे। उन्होंने यह टीका शाहजहाँ के शासनकाल में लिखी जो विक्रम संवत् १७०९ में माघ सुदी पंचमी रविवार के दिन पूर्ण हुई। टीका लिखने की प्रेरणा देने वाले उनके स्वाध्यायी साथी कंवरपाल थे, जिन्होंने हेमराजजी से कहा था कि समयसार के रहस्य को उजागर करने वाली सरस हिन्दी टीका पांडे राजमल्ल की है ही, अब यदि प्रवचनसार की भी टीका हिन्दी में हो जाये तो अगम अगोचर पदों का अर्थ अल्पबुद्धि भी विचार कर सकेंगे। पाण्डे हेमराजजी ने उनके निवेदन को स्वीकार कर प्रवचनसार को अमृतचन्द्र की सकलतत्त्वप्रकाशिनी तत्त्वप्रदीपिका को हृदयंगम किया और जब वह उनके मन को भा गयी तो भव्यजीवों के हितार्थ जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि को प्रमाण करके प्रवचनसार की भाषा टीका उन्होंनें की।

६. पण्डित देवीदास रचित **"प्रवचनसार भाषा कवित्त"** – बुन्देलखण्ड के महान् कवि पण्डित देवीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक ग्रन्थ प्रवचनसार को हृदयङ्गम करके उसका रहस्योद्घाटन करने के लिए अपनी बुन्देली भाषा में एक पद्यमयी टीका को लिखा है। जिसका नाम है – "प्रवचनसार भाषा कवित्त"। यद्यपि पण्डितजी ने इसे प्रवचनसार भाषा[1] ही लिखा है, तथापि हमने उसके नामकरण में कवित्त पद का समावेश कर उसे अधिक सार्थक बना दिया है, क्योंकि ग्रन्थ का नाम पढकर ही उसके पद्यमय होने का आभास भी हो जाना चाहिए। कवि ने स्वयं भी अपनी कृति को कवित्त बंध टीका माना है। एतदर्थ चौपई छन्द में उनकी अभिव्यक्ति यह है –

प्रवचनसार कौ सु यह टीका भाषा बालबोध अति नीका।
जाके पढत सुनत सुख पायो करि सु कवित्त बंध समुझायो ॥[2]

कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मैं तो भगवान् की भक्ति करने वाला उपासक

---

१ अधिकार समाप्ति सूचक वाक्यों मे देखें

२. प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/९९

मात्र हूँ, संस्कृत-प्राकृत के अर्थ भेदों को नहीं जानता हूँ। व्याकरण पढी नहीं है और शब्द परिज्ञान के लिए नाममाला भी नहीं देखी है। पिंगलादि शास्त्र पढने वाला आसिकी (रसिया) मैं हुआ नहीं हूँ। लोग मुझ पर हंसेंगे यह भय भी मुझे नहीं है। बनारसीदासजी की रचना बनारसी बिलास देखकर पूर्व पुण्य के उदय से काव्य करना मुझे आ गया है।[1] मैं अपनी असमर्थता को जानता हूँ, इसलिए मेरे कहने में चूक हो जाये तो उसे जिनागम के प्रमाण से ही सही करके मानना।[2] उन्होंनें यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पाण्डे हेमराजजी की बालबोध टीका समझ कर ही यह कवित्तबद्ध टीका लिखी गयी है। कितना बहुमान है, उन्हें उनका और पूर्ववर्ती आचार्यों का। यह उनके ही शब्दों में देखिये –

प्रवचनसार यो गरंथ जाके करतार
कुंद कुंद मुनिराज भये पराक्रत के।
जाकौ सब्द काढि करिकैं सुसंस्कृत कीनौ
अमृतचंद्र नैं सु धारी महाव्रत के॥
तिन्हि की परंपरा सौं पांडे हेमराजजी ने
बालबोध टीका देखि कह्यौ सोइ प्रत के।
जाकौ भेद पाइ देवीदास पुनि भाषा धर्‍यो
माखन तैं होत जैसें करतार घ्रत के॥[3]

प्रवचनसार की महिमा का बखान करते हुए कवि की भावना का दिग्दर्शन कितना सार्थक है –

सुनै जाकी महिमा प्रकासवंत होत हियो
फूलै जैसें कमल उदोत भऐ रवि के।
जाकी पक्षपात करैं अनैं पक्षपात छूटे
उपदेस दीवे कौं समर्थ यहै भवि के॥
जाकौ रस चाखे जाने मिथ्यामत भाव नाखे
भये जे विलोकी सुद्ध आतमा की छवि के।
ऐसौ यो गरंथ मोख के सु चलिवे कौ पंथ
वसै निसि वासर हिये में भाषा कवि के॥[4]

---

१ प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/१३७
२ वही, ३/१३६
३ वही, ३/९८
४. वही, १/३१

"ग्रंथ यो खजानौं आनौ चरनानजोग कौ"[1] लिखकर कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रवचनसार में बताये गये चारित्र स्वरूप धर्म को हम अपनी स्वरूप रमणता के पुरुषार्थ से ही पा सकते हैं, मात्र द्रव्यानुयोग की कोरी बातों से कुछ होने वाला नहीं है। द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित धर्म आत्मा के अपने उपयोग को कहा गया है जो निज में निज के प्रयोग से हासिल होता है। प्रवचनसार का प्रमेय अपार है, उसे अतीन्द्रिय ज्ञान की ललक और झलक से ही समझना संभव है। इस संदर्भ में कवि का संकेत स्पष्ट है –

प्रवचन जलधि अपार अति परमारथ पथ हेत।
मति भाजन तिन्हि कैं तिसौ जो जैसौ भरि लेत॥[2]

प्रवचनसार का शुभारंभ मोह क्षोभ रहित आत्मा के समता परिणाम को धर्म बताने से होता है। शुद्धोपयोग रूप धर्म परिणाम ही यहाँ उपादेय बताया गया है। उसके फल का कथन कर कवि शुद्धोपयोगी मुनि का बखान अपनी शैली में कितनी चतुराई से कर रहा है, इस छन्द से स्पष्ट हो जाता है –

जानत आगम के सु प्रमान
भली विधि भेद पदारथ केरे।
राग विरोध विमोह विनासि
विवर्जित कर्म सुभासुभ भेरे॥
जे सम एक सदा सुख में
दुःख में उर सुद्धपयोग जगेरे।
संजिमवंत तपी निहचंत
सु ते मुनिराज वसौ उर मेरे॥[3]

शुद्धोपयोग के फलस्वरूप जब केवलज्ञान हो जाता है तो स्वयंभू भगवान् के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता का कथन हो अथवा केवलज्ञान में लोकालोक प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान के कारण ही आत्मा सर्वगत है, ज्ञान ज्ञेय में जाता नहीं और ज्ञेय ज्ञान में आता नहीं इत्यादि विषयों के निरूपण का अवसर हो सर्वत्र ही कवि की प्रतिभा अपना कमाल दिखाती है। जिस उपचार से ज्ञेय पदार्थों में ज्ञान है, उसी उपचार से ज्ञान में ज्ञेय है, इसको कवि ने कितनी सहजता से समझा दिया है। देखें –

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, १/३८
२. वही, १/३७
३. वही, ३/५०

जो सकलज्ञेय प्रमान भरि जिहि ग्यांन मांहि न आवही।
जो ग्यान सद्गुरु कहत कैसें सर्वगत सु कहावही॥
जो अखिल तत्त्व समूह में बरतै सु केवल ग्यान है।
जो सर्वगत कहिये न क्यों करि सर्व लोक प्रमान है॥[1]

ज्ञान बंध का कारण नहीं है। ज्ञेय पदार्थों को जानने पर जो राग-द्वेष परिणति होती है, वही बंधकारक है। केवली के कर्म का उदय है, योग क्रिया भी है, पर राग-द्वेष न होंने से उनके बंध नहीं है। यह कथन यहाँ कितना सहज है, स्वयं देखिये–

पूरब जो कृत कर्म उदै फल
इष्ट अनिष्ट पदारथ कोई।
तौ पुनि या जग में निहचै करि
कै पुनि बंध कौ हेतु न सोई॥
बंध कौ हेतु मिलै जब मोह
सु राग विरोध जथारथ दोई।
यौ निरधारे सुनौ भविसार सु
ग्यान न बंध कौ कारनु होई॥[2]

तथा,

किरिया जिनवर देव के उदै काल तिहि वार।
त्रिविध रूप अस्थान तह आसन कर्म विहार॥
आसन कर्म विहार धर्म उपदेसत भारी।
सो सबकों निश्चै प्रमान करिकैं हितकारी॥
मायाचार मझार सहज वरतै जिम तिरिया।[3]

इन्द्रिय सुख का कारण होने से इन्द्रिय ज्ञान हेय है और अतीन्द्रिय सुख का कारण अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है। इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है और अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष। शुद्धोपयोग अतीन्द्रियज्ञान के विना नहीं होता है। शुद्धोपयोग के काल में साधक का ज्ञान अतीन्द्रिय ही होता है। केवलज्ञान नितरां शुद्धोपयोग की दशा है, इसलिए

---

१ प्रवचनसार भाषा कवित्त, १/६७
२ वही, ३/७९
३ वही, १/८०

केवली के जो सुख है, वह अतीन्द्रिय और पारमार्थिक ही है। आत्मा जब इन्द्रियों से जानता है, तब तक उसे स्वाभाविक दुख ही है, अतः इन्द्रियज्ञान सुखरूप नहीं है। मुक्त जीवों के न शरीर है और न ही इन्द्रिय ज्ञान, किन्तु उनके अनंत सुख होता है, जिससे ज्ञात हो जाता है कि शरीर और इन्द्रिय ज्ञान सुख का कारण नहीं है। आत्मा ही ज्ञान और सुख का धारी है, इसे कवि दृष्टान्त पूर्वक इस प्रकार समझा रहा है –

गगनमझार जैसें सूरज सहज रूप
अधिक प्रभा समूह तैं प्रकासकारी है।
सदाकाल गर्म है सु तप्यौ लोह कैंसो पिंड
देव नाम कर्म उदै देव पद धारी है।।
जैसें सुद्ध आतमा सुभाव ही सौं लोक विषैं
ग्यान रूप सुख रूप पूज्यपद भारी है।
तीनि गुन युक्त है सु मुक्ति पांचों इंद्रिनि सौं
देवीदास कहै जाकौ वंदना हमारी है।।[1]

शुभोपयोग सचमुच ही शुद्धोपयोग की पूर्व भूमिका है। अतएव उसका स्वरूप निदर्शन यहाँ किया गया है –

देव अरहंत जानैं गुरु निरग्रंथ मानैं
तिनही की भगति विषैं सु काल तीन हैं।
निश्चै करि औषधि अहार अभै श्रुतज्ञान
यही चार दान प्रवर्ति आमैं लीन है।।
उपवास आदि जो क्रिया मझार रंचनीक
गुन वा महा व्रत कौं धरैं तन छीन हैं।
लखौ बड़भागी ऐसें धर्म अनुरागी जीव
जग मैं सुभोपयोगी परम प्रवीन हैं।।[2]

शुभोपयोग का फल इन्द्रिय सुख की प्राप्ति है किन्तु इन्द्रिय सुख वस्तुतः दुःख ही है यदि ऐसा नहीं होता तो इन्द्रादि देव स्वर्ग में सुखी क्यों नहीं होते ? यह प्रतिपादित करते हुये कवि कह रहा है –

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/१०६
२. वही, १/१०८

जे अनिमादि कहै वसु रिद्धि
सुदेवनि कैं सब स्वर्गनि मांहीं।
तौ पुनि ते सुखिया जग में
सु अतिन्द्रिय सुख सरूप सु नाहीं ।।
पीडित इंद्रिनि के दुख सौं
सु मनोग्य विषैं रस सौं लपटाहीं।
पूरन होति नहीं तिन्हि की
तृसना सु भरैं जब लौं सुख चांही ।।[१]

शुभ और अशुभ उपयोग का फल क्रमशः पुण्य और पाप है और दोनों दुःख ही हैं। पुण्यवान् जीव सुखी नहीं है, यह बताकर पुण्य को दुःख का कारण कहा गया है। कवि की स्पष्टोक्ति इस प्रकार है -

इन्द्र अवर चक्रेसुर पदवी सुभोपयोगफलधारी।
तह करतूति भोग तन इंद्रिनि की उतपति अधिकारी ।।
सेवत विषय सुखी से लागत मनवांछित जगमांहीं।
पोषन करें सरीर आदि पर निज करि सुखी सु नांहीं ।।[२]

तथा,

जो परिनाम सुभोपयोगमय
पुण्य कर्म उपजावन हारौ।
जे सुर आदि जीव संसारी
सो सबकौ जिहि विषैं पसारौ ।।
उपजावै तिन्हि सु विषयनि की
तृसनां जहाँ दुःख अधिकारौ।
तार्थे हेय रूप आगम में
कह्यौ मोख मारगतैं न्यारौ ।।[३]

पुण्य और पाप दोनों ही समान हैं क्योंकि दोनों से ही जीव संसार में घूमता है। पुण्य से सुगति गमन है तो पाप से दुर्गतिगमन। दोनों जगह विषयभोगों को भोगने की दुविधा है। दोनों का ही फल हेय रूप दिखाते हुये कवि ने लिखा है -

१ प्रवचनसार भाषा कवित्त, १/११०
२ वही, १/११२
३ वही, १/११३

पुन्य के जोग सौं भोग मिलैं पुनि
भोग तो पाप कौ पुंज भिया रे।
पाप की रीति सौं नीति लटी गति
नीच परै मरिकैं सु जिया रे॥
त्यागवौ जोग उभै करनी निज
पंथ तजै इनिकौ रसिया रे।
कर्म तौ एक सरूप सवै रचि
कैं सु भलौ पुनि कौनै लिया रे॥[1]

शुद्धोपयोगी कैसा होता है ? इस बात को भेदविज्ञान मूलक यथार्थ पुरुषार्थ के फल से हुई साधक की दशा को मुख्य करके समझाते हैं -

पाप अरू पुन्य जानै एक ही प्रकार करि
सुभासुभ रीति दुरनीत में न दवै है।
इष्ट वा अनिष्ट दो प्रकार जे पदारथ हैं
जापै रागदोष भाव सौं न परिनवै है॥
विमल सरूप मानै आपनौं सहज जानै
भयौ सांचौ सुद्ध उपयोगवंत तवै है।
जाकी देह तैं न उतपत्य होत दुख खेद
सो तौ संत पराधीन वेदना न सवै है॥[2]

मोह की सेना को जीतने के लिये द्रव्य गुण पर्याय से अरहंत को जानकर अपनी आत्मा को जानना जरूरी है मोह का नाश होने पर ही आत्म लाभ संभव है। एतदर्थ कवि की काव्योक्ति का प्रभाव देखने लायक है -

पहिचानैं अरहंत के दरव सुगुन परजाई।
जानैं जो जिय आपनौं आप स्वरूप-सु ताई॥
आप स्वरूप सु ताई निरखि निश्चैकरि जैसौ।
वीतराग सर्वग्यदेव तिन्हि कौ पद तैसौ॥
मोहकर्म को नास होहि यह उद्यिम ठांनै।
लखै सुद्ध अरिहंत सुद्ध निज गुन पहिचानै॥[3]

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, १/११७
२ वही, १/१२०
३. वही, १/१२३

तथा,

मोह विनास भयै यह जीव
सही सु जिनेसुर मारग लागै।
आप सरुप जथारथ वेदि
उमेद भरयौ अपनैं रस पागै॥
राग विरोध प्रमाद उभै विधि
भाव महा दुख कारन त्यागै।
निर्मल ब्रह्म स्वरूप लहै सु
भयौ निहचंत निरंतर जागै॥[१]

मोक्षमार्ग की प्राप्ति इसी उपाय से है अन्य कोई उपाय न है, न था और न ही होगा। पंचमकाल के अंत तक इसी उपाय से ही जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होगी। जिनेन्द्रप्रणीत शब्द ब्रह्म में सभी पदार्थों का सही निरूपण है अत: उसका शब्द ब्रह्ममय उपदेश लाभ ही हमारे पुरुषार्थ का नियन्ता हो सकता है उससे ही हमें भेदविज्ञान की सिद्धि होती है और भेदविज्ञान बुद्धि से ही हम ज्ञानी होकर वीतराग चारित्र को प्राप्त हो पुरुषार्थी धर्मान्मा श्रमण हो सकते हैं। श्रमण के प्रति कवि की धारणा का चित्रण यहाँ इस प्रकार हुआ है -

मिथ्या मोहदिष्टि हनि तिनिकैं
जगी सुग्यान दिष्टि घट केरी।
आगम विषैं प्रवीन उद्यमी
सावधान डर रहित अधेरी॥
वीतराग चारित्र आचरत
साधक मुकति पंथ विधि हेरी।
अैसें मुनि सुधर्म महिमा जुत
तिनकौं नित प्रनाम है मेरी॥[२]

ज्ञेय तत्त्व प्ररूपणा में द्रव्यलक्षण की समीक्षा जितनी सूक्ष्मता से आचार्य कुन्द कुन्द और अमृत चन्द्र ने की है उतनी ही प्रखर प्रतिभा से कवि ने सारे प्रकरण को हृदयग्राही बना दिया है यहाँ स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व की सरलतम

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, १/१२४
२. वही, १/१३५

विवेचना से सत्ता की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् की प्ररूपणा द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत् के भेद से अपना वैशिष्ट्य प्रगट कर देती है। अन्यत्व अनन्यत्व आदि विरोधी धर्म एक वस्तु में कैसे रह सकते हैं इसका परिहार प्रस्तुत करते हुये कवि ने लिखा है –

दरवदिष्टि करिकैं सबै वस्तु स्वरूप सु एक।
पुनि परजाय सुदिष्टि करि सो परकार अनेक ।।[1]

सप्तभंगी सिद्धान्त, जो वाणी के दोषों का प्रक्षालन कर देता है, के सन्दर्भ में कवि लिखता है कि -

द्रहतैं कमलापति सु उर गंगा सम निकसाई।
दरव छ गुन मरजादयुत सरस्रुति रही समाई ।।[2]

इन दोनों ही छन्दों के भाव गाम्भीर्य को समझना सुकर नहीं है। सप्तभङ्गी का स्वरूप समझाते हुये कवि की विवेचना कितनी सशक्त है। यह इस छन्द से स्पष्ट हो जाता है -

अपने चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप
पर की अपेक्षा वही नासति बखानियै।
एक ही समै सौ अस्ति नासति सुभाव धरै
ज्यौं है त्यौं न कह्यौ जाइ अवक्तव्य मानियै ।।
अस्ति कहै नासति अभाव अस्ति अवक्तव्य
यौं ही नास्ति कहैं नास्ति अवक्तव्य जानिये।
एक बार अस्ति नास्ति कह्यौ जाई कैसें तार्थे
अस्ति नास्ति अवक्तव्य ऐसौं परवानियै ।।[3]

द्रव्य सामान्य का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करने के उपरान्त जीव-अजीव आदि सभी द्रव्यों का वर्णन इस पद्यमयी टीका में सहज और सरल हो गया है। परद्रव्यों से जुदी आत्मा को जानने की विधि का प्ररूपण भी यहाँ हुआ है। पुद्गल बंध, भावबंध और द्रव्यकर्मों के बंध की पद्धति भी यहाँ स्पष्ट हो गयी है। शुभोपयोग,

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, २/४१
२. वही, २/४२
३ प्रवचनासर भाषा कवित्त, २/४३

अशुभोपयोग की पुनः की गयी व्याख्या भी अपना वैशिष्टय रखती है शुद्धात्मा को जानने से मोह की गांठ खुल जाती है। मोह ग्रंथि के भंग हो जाने से क्या होता है, यह बताते हुये कवि के वचन इस प्रकार हैं –

> बंधी चिरकाल ही की भेदज्ञान चैंहुटी सौं
> 　　अति ही विषम तिनि मोह गांठि छोरी है।
> पंच इंद्री जनित सुख और दुःख एक ही से
> 　　देखि समदिष्टि के दुहुं सौं तार टोरी है।।
> जती की अवस्था विषैं अनइष्ट सौं प्रतीति
> 　　करैं जे न इष्ट वस्तु सौं न प्रीति जोरी है।
> अचल अबाधित अनंत आत्मीक सुख
> 　　लहैं मुक्ति मांहि कर्म सकति मरोरी है।।[१]

मोह की शक्ति टूटने पर ही शुद्धात्मा की प्राप्ति संभव है तथा शुद्धात्मा की प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है। ऐसा मोक्षमार्गी श्रमण होता है। मोक्षमार्ग में शुद्धात्मा की प्रवृत्ति ही मुख्य है। इसका प्ररूपण इस भाषा कवित्त में कितना भाववाही है स्वयं उनके शब्दों में पढिये -

> सम्यक् दरस ग्यान चरन प्रवर्त्ति सुद्ध
> 　　आत्मा स्वरूप मोख मारग बतायौ है।
> सामान्य सु केवली कहे सु और तीर्थंकर
> 　　जसु मुनि जे सु मुक्तिगामी तिनि पायौ है।।
> अैंसे मोख के सु अभिलाषी जती कर्म हनि
> 　　हूं हैं सिद्ध अैसो मोखपंथ दरसायौ है।
> सोई महामुनि कौं सु और मोखमारग कौं
> 　　देवीदास हाथ जोरिकैं सु सीस नायौ है।।[२]

तथा,

> सुद्ध आतमा कौं साधि निजग्यान कौं अराधि
> 　　जैसैं भव्यजीव जे अनंत मुक्ति गये हैं।
> तैं ही भांति तीर्थंकर आदि और सुद्ध रूप
> 　　जानि आप अनुभौ करें विसुद्ध भये हैं।।

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, २/१५८　　　　　　२ वही, २/१६२

तैसें ही सु सबकौ जनैया जो सु जान्यौ हम
पर द्रव्य सौं ममत्व भाव त्यागि दिये हैं।
होइ कैं सु निश्चल स्वरूप पाइकैं सु एक
वीतराग भाव तिहि रूप परिनवै हैं॥[1]

चरणानुयोग सूचक चूलिका स्वरूप चारित्राधिकार को पंडित जी ने ३ भागों में बांटा है। यथा आचार विधि, मोक्षमार्ग अधिकार और शुभोपयोगाधिकार।

प्रवचनसार में मुनि के आचारतत्त्व का प्रज्ञापन ३१ गाथाओं में है जिसे यहाँ ४२ विविध छन्दों में प्रसाद गुण सम्पन्न मनोहारी शैली में विवेचित किया है। मुनि बनने की भावना करने वाला परिवार जनों के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वहण कर विनम्रभाव से समवेत होता हुआ गुरु दीक्षा लेने हेतु गुरु से निवेदन करता है तथा दीक्षा लेने पर संयम की रक्षार्थ व्रतादि क्रियाओं की पालन विधि को गुरुमुख से सुनता है और सामायिकलीन होकर साधु बनता है। साधु के अट्ठाईस मूलगुणों का पालन अवश्य होता है वे मूलगुण निम्न छन्द में कवि ने कितनी सहजता से लालित्यमयी भाषा में गिना दिये हैं। स्वयं देखिये -

पंच महाव्रत पालै समिति प्रकार पंच
पंच इंद्री कौ निरोधि लौंचि कच खोवै है।
क्रिया पदावासक सु पालै पुनि छांडै वस्त्र
तजै दंतधोवन नहीं सु तन धोवै है॥
ठाढ़ैं लघु भोजन करै तथा सु एक बार
भूमिसैन थोरौ पीछिली सु रैन सोवे है।
मूलगुन कहे आठ बीस ये जिनागम में
तिन्हि की प्रवर्ति सौं जतित्वपनौं होवे हैं॥[2]

छेदोपस्थापना संयम की विवेचना करने में कवि अत्यंत निपुण है। अतरंग बहिरंग संयम की रक्षार्थ मुनि क्या करे इसे सहजता से बताते हुये वे लिखते हैं -

जे समिता रस लीन महा मुनि
आप विषै अपनौं रसु चाखैं।
कै गुरु पूज्य सु पास रहैं,
अथवा सु विहार करै मल नाखैं॥

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, २/१६३ २. वही, ३/१४

इष्ट अनिष्ट विषैं पर रूप
जुरै तसु जो गुन ही अभिलाषैं।
अंतर जो बहिरंग सु संयम
कौ सु विनास न होहि सु राखैं ॥[१]

मुनित्व धर्म की पूर्णता आत्मा के सम्बन्ध से है। मुनि को पर द्रव्य संबंधी सूक्ष्म राग भी निषिद्ध माना गया है। अत: राग का पक्ष प्रबल किये विना मुनिचर्या का पालनकर शुद्धोपयोगी मुनि को अपने संयम की सुरक्षा करना चाहिये। यदि मुनि ऐसा नहीं करता है तो कवि कहता है -

जो मुनि बाहिज के तुस तुल्य
परिग्रह सौं अनुराग करे है।
तौ तिन्हि कौ चितु होहि न सुद्ध
महा अति चंचलता सु धरै है॥
निर्मल जो उपयोग स्वरूप सु
है परिनाम मलीन परै है।
सो बसु कर्मनि कौं हनिकैं
पुनि क्यों भवसागर पार तरै है ॥[२]

उत्सर्ग मार्ग पर चलना मुनि का वास्तविक धर्म है तथापि अपनी भूमिका एवं हीन सामर्थ्य के कारण अपवाद मार्ग का अवलम्बन है तो वह मुनित्व का विरोधीपना नहीं है मुनित्व को बचाये रखने का सहारा मात्र है। शरीरमात्र परिग्रह का होना मुनि को निषिद्ध नहीं है फिर आहार-विहार आदि की चर्या किस विधि से हो इसका विशेष कथन भी यहाँ उपलब्ध होता है। दोनों ही भागों में चारित्र की स्थिरता का कारण मैत्रीभाव है आचार विधि की प्ररूपणा पूर्ण होने पर कवि कहता है कि जो इसे सुनकर श्रद्धान करता है वह गृही मुनीश्वर हो जाता है। उनके ही शब्दों में देखिये –

जाकैं सुनैं सु सर्दहै ग्रही मुनीश्वर होई।
यहाँ भई आचार की विधि संपूरन सोई ॥[३]

चारित्रधारी मुनिराजों के प्रसङ्ग में मोक्षमार्ग की प्ररूपणा प्रवचनसार में यह

१ प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/२०

२. वही, ३/२९

३. वही, ३/४५

बताने के लिये है कि मोक्षमार्ग पर चलने वालों के लिये आगम बहुत महत्त्वपूर्ण है उसके निर्देश को माने विना रत्नत्रय न तो हो सकता है और न ही सुरक्षित रह सकता है। 'आगम चक्खू साहू' का रहस्य ही यहाँ मुख्यता से है। कवि की पंक्तियाँ हैं -

सिद्धि के निमित्त मोखपंथ के जती कैं नैन।
हेयाहेय जानिवे को आगम सु जैन हैं।।[1]

आगम के आलोक में ही साधु सुरक्षित है सुखदायी हो सकता है यही भावना इस छन्द में देखी जा सकती है -

यह लोक विषैं जाकौं प्रथम ही सु सिद्धान्त
जानिकर तत्त्वनि की सरधा न आई है।
जती की क्रिया स्वरूप संजिम न होहि तिन्है
निश्चै करि वीतराग देव नै बताई है।।
संजिम भये विना सु कैसें कह्यौ जातु जती
जती कौ सु हूवौ सो तौ मुकति की साई है।
आगम को ग्यान सरधान होहि तत्त्वनि कौ
संजिमी सु होई सोई साधु सुखदाई है।।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार आगम ज्ञान, तत्त्व श्रद्धान और संयम भाव इन तीनों की एकता के विना मुनि को मोक्षमार्ग का अभाव है। उक्त तीनों की एकता आत्मज्ञान में समाविष्ट भी है और सहकारी भी है। इनका अवधारक चतुर्गति जलधार को तैरकर मुक्ति पा जाता है। शुभोपयोगी मुनि के विधि निषेध परक कार्यों और उनके फलों की चर्चा शुभोपयोगाधिकार में ४१ छन्दों में पंडितजी ने बड़ी गंभीरता से की है वे शुद्धोपयोगी मुनि के परमभक्त हैं तो शुभोपयोगी मुनि को भी भला समझते हैं उनके प्रति अपनी भक्ति भी प्रदर्शित करते हैं किन्तु जो आगम की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं उनकी खैर-खबर लेने से भी नहीं चूकते हैं। उन्हें चेता भी देते हैं कि इसप्रकार आगम से भ्रष्ट होकर शुभ का आचरण कर भी लोगे तो उसका फल संसार है कदाचित् अनंत संसार भी हो सकता है। शुभोपयोग की प्रवृति यदि आत्मज्ञान के लिये कारण न बने तो वह मुनि को विपरीत फल देने वाली होती है। वह फल उत्तम मनुष्य और देव के पद पाने रूप भी हो सकता है नीच-पापी देव और

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/४९
२. वही, ३/५१

मनुष्य होने के रूप में भी हो सकता है। कारण की विपरीतता में उत्तम फल की सिद्धि नहीं होती है इसे कवि इसप्रकार कह रहा है -

पाप सरूप सु भोग विषैं
सुकषाय जिनागम में निरधारे।
पापिय जीव जिनैं पुनि ये सु
उभै विधि पाय लगै बहु प्यारे।।
आपुन कौं निज मानत जे हम
हैं जग के सु विषैं गुरु भारे।
बूड़त आपु सु भक्तनि के नर
क्यों कर हौंहि सु तारनहारे।।[1]

तथा उत्तम पात्र में कारण विपरीतता रूप नहीं होता है तो देवीदास जी उन्हें इसप्रकार आदर देते हैं -

एक सरूप प्रवर्त्ति सदा तिनि
की निहचै रत्नत्रयधारी।
ग्यान अनेक समूह सु सेवक
पाप क्रिया तिहि के परिहारी।।
जे न धरैं नय पक्ष महा मुनि
धर्म विषैं समदिष्टि पसारी।
आपु तरैं अरू औरहिं तारत
ते तिनकों तसलीम हमारी।।[2]

श्रमणाभास स्वरूप द्रव्यलिङ्गी मुनि एवं भाव लिङ्गी श्रमण के प्रति भी ऐसा अभिप्राय यहाँ अभिव्यक्त हुआ है। मुनि के लिये कुसंगति का निषेध है। लौकिकमुनि कुसंगति से बच नहीं सकता है। लौकिक मुनि कैसे होते हैं; इसे बताते हुए लिखा है-

तिन्हि निरगंथ स्वरूप होहि करि धरि सु दिक्ष्या।
तप संजिम संजुक्त लेत भोजन करि भिक्ष्या।।
संबंधी संसार जंत्र मंत्रादि पसारौ।
जो यह लोक विषैं करैं सु जोतिष वैदारौ।।

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/७८ २. वही, ३/७९

इहि भांति है सु अभ्यांन मुनि ते लौकीक कहावही।
तिनकी संगति वरजी परममुनि कौं गुरु समझावही ॥[१]

शुभोपयोगीवृत्त के लिये भली संगति करने का उपदेश भी शुभोपयोगी मुनि के लिये यहाँ इस प्रकार दिया गया है -

तार्थें संगति भली आप समतूल जती की।
कैं आपुनतैं गुन सिवाहि संगति अति नीकी॥
जे मुनि हैं निहचंत मोख सुख के अभिलाषी।
तिन्हि कौं उभै प्रकार यह सु सत संगति भाषी॥
ज्यौं छोह विषैं धरिये सु जल तिहि समान होइ अनुसरै।
कर्पूर उसीरादिक मिलैं सीतलता अधिकी धरै॥[२]

चारित्राधिकार के अंत में पंचरत्न स्वरूप पांच गाथाओं का रहस्य भी कवि ने अपने कवित्तों में प्रगट कर दिया है।

पंडित देवीदास जी की भावना प्रवचनसार के रहस्य को समझने की अत्यंत प्रगाढ़ दिखती है तभी तो वे इस ग्रंथ को समझने में सहकारी आत्मा की त्रिविध अवस्थाओं के वर्णन स्वरूप बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा का मार्मिक विश्लेषण आगम के आलोक में उपस्थापित कर देते हैं और मूल ग्रंथ के प्रमेय से अतिरिक्त प्रमेय के रूप में ३५ विविध छन्दों में अपने इस विवेचन को विधि व्यवस्था का नाम देकर वे प्रवचनसार पर भाषा कवित्त लिखने की पूर्णाहुति कर देते हैं।

तदनन्तर कवि ने अपनी लघुता प्रदर्शित करके बुद्धिवंत जनों से प्रार्थना भी की है कि मैंनें तुकबंदी करने में जो भी त्रुटि कर दी हो उसे वे सुधार देवें और मुझे क्षमा करें।

उन्होंने कवित्तबंध स्वरूप यह टीका ग्रंथ लिखने के लिये प्रेरणास्रोत बने अपनी शैली (गोष्ठी) के सहकारी भाइयो के नामों का उल्लेख भी किया है।

कमलापति लल्ले छगन गंगाराम प्रजाद।
तिन्हि कै उपदेसे सु यह करयौ ग्रंथ अहलाद॥[३]

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/८९

२. वही ३/९०

३. वही, ३/१४२

अपना परिचय देते हुये उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि यह ग्रंथ उन्होंने विक्रम संवत् १८२४ में सावन सुदी आठैं को सोमवार के दिन पूरा किया।[१]

ग्रंथ समाप्ति पर छंदों की संख्या विषयक दो छंद उपलब्ध होते हैं[२]। जिससे ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ में ग्यारह प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है जिनकी कुल संख्या ४२१ है। यथा - सवैया इकतीसा-१४७, कवित्त-६३, छप्पय-४४, सवैया तेईसा-४१, चौपाई या चौपही-३६, दोहरा या दोहा-८०, कुण्डलिया-१४, अडिल्ल-८, गीतिका-३, शाकिनी-१ और सोरठा-१।

यह भी कहा है कि ३२ वर्ण का अनुष्टुप् श्लोक गिनने पर कुल श्लोक संख्या १५०० है।

उपर्युक्त संख्या विषयक श्लोक में छन्दों की संख्या त्रुटिपूर्ण लगती है क्योंकि श्लोक में निर्दिष्ट सभी छंदों की संख्या का योग ४३८ होता है ४२१ नहीं। दोनों छन्दों की परस्पर संगति भी नहीं बैठती है तथा मुझे उपलब्ध हुईं दोनों प्रतियों में छंदों की संख्या कुल ४४९ है जैसे - सवैया इकतीसा-१४५, कवित्त-६१, छप्पय-४१, सवैया तेईसा-४३, चौपई या चौपही-२१, दोहरा-११०, कुण्डलिया-१४, अडिल्ल-९, गीतिका-३, शाकिनी और सोरठा-१-१। इसप्रकार उपलब्ध प्रतियों में पाये गये छन्दों की संख्या का उपर्युक्त संख्यानिर्देशक छन्द में उक्त संख्या में मिलान करें तो जो अन्तर ज्ञात होता है वह इसप्रकार है -

छंद	पाण्डुलिपि प्रतियों में उपलब्ध	श्लोक में निर्दिष्ट	अन्तर
सवैया इकतीसा	१४५	१४७	२ कम
कवित्त	६१	६३	२ कम
छप्पय	४१	४४	३ कम
सवैया तेईसा	४३	४१	२ अधिक
चौपाई	२१	२३	२ कम
दोहरा	११०	८०	३० अधिक
अडिल्ल	०८	०८	०१ कम

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/१४५ २. वही, ३/१४८-१४९

यह जो अंतर है वह असामान्य लगता है कवि ने गिनने में गलती करके छंद बना दिया है। अन्यथा कुछ छंदों का लुप्त हो जाना या तीस दोहा छंदों का प्रक्षेपण हो जाना गले उतरने जैसी बात नहीं लगती है। अस्तु। विचारणीय तो हो ही गया है यह।

समग्रता की दृष्टि से प्रवचनसार भाषा कवित्त का मूल्यांकन करें तो ज्ञात होता है कि यह रचना दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करने में, मूल ग्रंथ का मन्तव्य उजागर करने में, पुरा टीकाकारों का अवदान स्वीकार कर विषय-वस्तु को स्पष्ट करने में, अध्यात्म के प्रति रूझान पैदा करने में तथा मोक्षमार्ग विषयक पुरुषार्थ को विधि निषेधपरक उपदेशों से नियन्त्रित करने में सफल रचना सिद्ध होती है। कवि निर्भीकता से यथार्थ को कहने का माद्दा रखता है उसके मन में किसी की निन्दा-आलोचना करने का भाव नहीं है। राग-द्वेष के विना प्रवचनसार की टीका करने के लक्ष्य में कवि को सफल माना जा सकता है विविध छन्दों में पद्यमयी भावाभिव्यक्ति टीका के सौन्दर्य में अभिवृद्धि का कारण बन गयी है। भाषा अत्यंत शुद्ध, समर्थ प्रभावशील और प्रसादगुण सम्पन्न है। प्रवाहशीलता छंद लालित्य, अलंकारों का निर्वहण पद-पद में दिखाई देता है। हिन्दी काव्य विधा के लक्षण शास्त्रियों का यह दायित्व बन जाता है कि वे इसका काव्यशास्त्रीय समीक्षण करें। देवीदास विलास जो उनकी प्रकीर्णक-विविध रचनाओं का संग्रह है उसकी भी उपेक्षा काव्यशास्त्रीय समीक्षण में नहीं होना चाहिये।

प्रस्तुत कृति के बारे में अब और अधिक न लिखकर मैं एक लोकोक्ति का उल्लेख कर रहा हूँ - " हाथ कंगन को आरसी क्या और पढ़े लिखे को फारसी क्या? इसके माध्यम से मुझे यह कहना है कि प्रस्तुत कृति को जानने के लिये आपको अब किसी दर्पण की आवश्यकता नहीं है। अब जब कृति ही आपके हाथ में है तो स्वयं पढ़कर जान लीजिये न सब कुछ। क्या कोई हाथ में कंगन होने पर उसे दर्पण में झलकाकर दर्पण की झलक से कंगन को जानने की कोशिश करता है ? नहीं न, उसे तो दर्पण के विना ही अच्छी तरह से जाना जाता है। ठीक यही बात आप यहाँ भी समझ लीजिये। अब बहाने मत करिये; दर्पण में मत झांकिये, यह मत कहिये कि हमें प्राकृत-संस्कृत का ज्ञान नहीं है प्रवचनसार कैसे समझें। पंडित देवीदासजी ने १९वीं सदी में ही प्रवचनसार के समग्र प्रमेय को पद्यमयी टीका के रूप में देशभाषा हिन्दी में निबद्ध कर दिया था। वह अब आपके हाथ में है।

प्रस्तुत कृति में छन्दों कवित्तों के बेलाग प्रयोग से मूलग्रंथ का सम्पूर्ण प्रमेय सरल और सरस होकर प्रभावोत्पादक एवं सहज बुद्धिगम्य हो गया है। पंडित जी के जिनागम बोध का तेज इस रचना में व्याप्त है। भाषा प्रवाहशील और आत्मबोध विषयक चेतना के तेज से ओजस्विनी हो गयी है। आवश्यकता है कि हम इस पद्यमयी टीका को पढ़-समझकर अपने अज्ञान तमस को दूर करें। प्रवचनसार के मर्म को हृदयङ्गम कर सकने में हम जैसे लोगों को पंडित जी का यह अवदान सचमुच ही अनुपमवरदान है। जो श्रुताभ्यास या स्वाध्याय की श्रम साधना से फलीभूत होता है। हम सभी अवश्य ही यह श्रम करें और श्रेयोमार्गानुगामी बनें।

प्रस्तुत कृति के रचनाकार पंडित देवीदास

"प्रवचनसार भाषा कवित्त" के रचनाकार पंडित देवीदास जी सन्त प्रकृति के व्यक्ति थे। घर गृहस्थी में रहकर भी मोह-ममता के मायाजाल में वे फँसे नहीं। उनके पारिवारिक जीवन के बारे में जो भी जानकारी मिलती है उससे यह ज्ञात नहीं होता है कि उन्होंने विवाह किया था या नहीं ? उनके पुत्रादिक का भी कहीं उल्लेख नहीं है जबकि उन्होंनें अपने बारे में पारिवारिक जानकारी देने का श्रम किया है। एतदर्थ उन्होंनें जो जानकारी दी है, वह यह है -

गोलालारे जानियो वंश खरौआ होत।
सोनबयार सु बैंक तसु पुनि कासिल्ल सुगौत्र ॥
पुनि कासिल्ल सुगोत्र सीकसिकहारा खेरौ।
देस भदावर मांहि जो सु नरचौ तिनि भेरौ ॥
कैलगमा के वसनहार सन्तोष सुभा रे।
देवीदास सुपुत्र दिगौड़ा गोलालारे ॥[1]

तथा,

औडछे को देसु जहाँ के सु हठीसिंघ राजा
दुगोड़ों सु ग्राम जामैं जैनी की धुकार है।
तहाँ के सु वासी हैं संतोष मनि गोलालारे
खरौवा सु वंश जाकैं धर्मविवहार है ॥
तिन्ही के सुपुत्र देवीदास तिन्हि पूरा कर्‌यो
ग्रंथ यह नाम जाकौ प्रवचनसार है।

---

१ देवीदासविलास, प्रशस्ति खण्ड, पृष्ठ ३३२

संवत अठारह सै सु चौबीस की सु साल
सावन सुदी सु आठैं परबौ सोमवार है ।।[1]

इसप्रकार कवि ने अपनी गोलालारे जाति, खरौआ वंश, सोनवयार बैंक और कासिल्ल गोत्र बताकार अपने पिता का नाम बताया ही है। अपने वंश, ग्राम एवं राजा का नाम भी यहाँ आ ही गया है।

यहाँ पहला छंद-संवत् १८२१ का लिखा हुआ है और दूसरा वि. स. १८२४ का। पहले छंद में उन्होंने अपने पिता (संतोष), जो शोभा सम्पन्न गृहस्थ थे, को कैलगमा का वासी बताया है किन्तु अपने को उनका सुपुत्र देवीदास दिगौड़ा ही लिखा है। तथा दूसरे छंद में अपने पिता संतोष मनि को दुगौड़ा वासी ही लिखा है। पहले में उनका नाम संतोष सुभा है तो दूसरे में संतोष मनि। यदि सुभा और मनि विशेषण मान लिये जायें तो दोनों का एक ही अर्थ शोभायमान (सुप्रतिष्ठित) हो जाता है क्योंकि सुभा का अर्थ है शोभा और मनि अर्थात् मणि रत्न का प्रतीक होंने से शोभायमान होता ही है। अस्तु। म.प्र. के टीकमगढ़ जिले में कैलगमा और दुगौडा या दिगौड़ा पास-पास में ही है। कैलगमा सीकसिकहारा खेरौ (खेड़ौ अर्थात् छोटा गाँव) रहा होगा। सीकासिकहारा के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ है सीकस यानि बंजर भूमि। सीकस से सीकसिक शब्द माना जा सकता है अतः सीकसिकहारा बंजर भूमिवाला भू भाग हुआ जो शायद जंगल का भाग रहा होगा। दूसरा अर्थ है सी यानि श्री=समृद्धि और कसिकहार यानि कृषकों या कृषि का क्षेत्र अर्थात् समृद्ध कृषिवाला भू भाग। वहाँ खेड़ा या गांव बतलाने से वह दोनों ही अर्थ सही हो सकते हैं सीकसिकहाराखेरौ कहलाया। पर इतना तो सिद्ध है कि सीकसिकहाराखेरौ जो कैलगामा ही रहा होगा दुगौड़ा या दिगोडा से छोटा होगा। दुगौडा ही सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न होंना चाहिये तभी तो कवि ने अपना निवास दुगौडा में बना लिया होगा और पिताजी १८२१ (वि. स.) तक कैलगामा में ही मूल रूप से रहते रहे होंगे। किन्तु वि. स. १८२४ के पहिले ही उनके पिता भी पूर्ण रूप से दिगौड़ा में बस गये होंगे तभी तो १८२४ (वि. स.) के लेख में उन्हें दिगौड़ा वासी लिखा गया। जैन होंने से जैनों की बस्ती में देवीदास का बसना उनकी अभिरुचि के अधिक अनुकूल रहा होगा तथा पिता ने अपना पैतृक निवास वि. स. १८२१ तक पूर्णतः नहीं छोड़ा होगा अतः वे वहीं के अर्थात् कैलगमा के ही निवासी कहलाते होंगे।

---

१. प्रवचनसार भाषा कवित्त, ३/१४५

पंडित देवीदास जी का मन पूजा पाठ, स्वाध्याय आदि में अधिक रुचिवंत था जिसकी पूर्ति जैनी भाईयों के बीच सहज थी अत: वे दिगौड़ा वासी ही रहे होंगे। यद्यपि यह कहना कठिन है कि उनका जन्म कहाँ हुआ था दिगौड़ा या केलगमा में। यह भी हो सकता है कि उनके पिता ने अपना अस्थायी निवास दिगौड़ा में भी बना रखा हो अत: कवि का जन्म दिगौड़ा में भी हो सकता है और केलगमा भी। जैसे जन्म स्थान के बारे में हम निर्णीत नहीं हो सके हैं वैसे ही उनका जन्म कब हुआ था? इस प्रश्न का उत्तर भी तथ्यों के आधार पर निर्णीत नहीं हो सका है। हाँ इतना ही ज्ञात होता है कि उनकी लघु तथा बडी रचनाओं का काल संभवत: वि. स. १८१० से कुछ वर्ष पूर्व से प्रारंभ होकर विक्रम संवत् १८२४ तक रहा है।

अब प्रश्न होता है कि उन्होंने कितनी उम्र हो जाने के बाद लिखना चालू किया। सचमुच ही इसका कोई पैमाना नहीं है। छोटी उम्र में भी कविता लिखी जा सकती है और बडी उम्र में भी। अत: वि. स. १८१० से पचास-साठ वर्ष पूर्व भी कवि का जन्म हो सकता है और १५-२० वर्ष पूर्व भी। वि. स. १८२४ के बाद की कोई भी रचना अभी तक प्राप्त नहीं है अत: अनुमान किया जा सकता है कि उसके बाद वे अशक्त हो गये होंगे, वैराग्य के कारण या वार्धक्य जन्य उदासीनता के कारण उन्होंने लिखने में रुचि नहीं रखी होगी अथवा वे अधिक समय जीवित ही नहीं रहे होंगे। जो कुछ भी रहा हो। पता नहीं चलता है जब तक कुछ। तब तक पंडित देवीदासजी के जन्म एवं मरण तक की निश्चित कालावधि ज्ञात कर पाना संभव नहीं है। उन्होंने ८ जगहों पर अपनी रचनाओं के रचनाकाल की सूचनायें दी हैं। जैसे –

१. जीव चतुर्भेदादि बत्तीसी में अलग से पंक्ति – रचनाकाल वि. सं. १८१० आश्विन मास कृष्ण पंचमी भौमवार' तथा एक श्लोक लिखा – सत अष्टादस दस अधिक संवतु अस्विन मास। कृष्ण पंचमी भोमदिन पहु विरदंत प्रकास॥

२. बुद्धि वाउनी के अंत में उन्होंने लिखा - "संवतु साल अठारह सै पुनि द्वादस और धरौ अधिकारे। चैतसुदी परिमा गुरुवार कवित्त जबै इकठे करि धारे।"

३. विवेक वत्तीसी में अलग से पंक्ति है - रचनाकाल संवत् १८१४ भादौं सुदी तेरस। सनद।

४. द्वादशानुभावना में टिप्पढी है - रचनाकाल दुतिय कुंवार सुदि १२ सं.

१८१४ ग्राम दुगौड़े मध्यदि साल अठारह सौ सु फिर धरौ चतुर्दस और। दुतिय कुंवार सुदि द्वादसी गुरुवासर सुख ठौर॥

५. उपदेस पच्चीसी में टिप्पणी है - रचनकाल संवतु १८१६ जेठवदी १२ लिखितं ललितपुरं मज्झे सुहस्त।

६. प्रकीर्णक रचनाओं के संग्रह स्वरूप 'देवीदास विलास' की प्रशस्ति में है -

संवत् अष्टादस परै एक बीस कौ वास।
सावन सुदि परिमा स रवि धरा उगी दिन जास॥
धरा उगी दिन जास ग्राम कौ नाम दिगौड़ो।
जैनी जन वसवास औड़छौ सौ पुर ठौढौ॥
सावन्तसिंह नरेस देस परजा सब थवंतु।
जह निरभै कर रची यह सु पूजा धरि सवंतु॥

७. इसी प्रशस्ति के अंतिम छंद की पाद टिप्पणी में है - इति श्रीर्वतमान जिनपूजा भाषा देवीदासकृत सम्पूर्ण समाप्त संवत् १८२२ वर्षे अस्विन सुदी ३ भौमवासरे शुभं भवतु। लिखितं स्वहस्तां स्वयं पठनार्थ। पढत सुनत मंगल होइ। लिखी गांव दुगौड़े। अथ प्रभावना अंग कारण। निरभिलास।

८. प्रवचनसार भाषा कवित्त, जो पद्यमयी टीका है, के अंत में है -

संवतु अठारा सै सु चौबीस की सु साल।
सावन सुदी सु आठैं परयौ सोमवार है॥

इससे पं. देवीदास की कुछ रचनाओं का समय तो स्पष्ट हो जाता है पर उनका खुद का नहीं। उनके पिता वि. स. १८२२ में कैलगमा के वासी थे और १८२४ (वि. स.) में दुगौड़ा के। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक पंडित जी पचास साठ वर्ष के रहे होंगे और पिता जी ७०-७५ के। यदि यह अनुमान सही है तो पंडित जी का जन्म समय वि. सं. १७७० से १७८० के बीच हो सकता है। ऐसे ही उनकी अंतिम उम्र भी वि. सं. १८२४ से १५-२० वर्ष अधिक मानें तो उनकी मृत्यु का समय वि. सं. १८४० से १८४५ तक अनुमित हो सकता है। इसप्रकार उनका जीवनकाल ७०-७५ वर्ष के आसपास ही प्रतीत होता है।

अपनी रचनाओं में उन्होंने पिता के अलावा किसी अन्य परिवार जन का

उल्लेख नहीं किया है। ओरछा देश के दो राजाओं सामन्त सिंह एवं हठीसिंह को भी उल्लिखित किया है। सामन्तसिंह ओरछा के महाराज वीरसिंह जू देव के वंश में हुये राजा पृथिवी सिंह के पौत्र थे जो वि. सं. १८०९ में राजा बने थे। तथा वि. सं. १८२२ में उनका देहावसान हो गया था। अत: उसके बाद उनके पुत्र हठीसिंह ने राजपद प्राप्त किया होगा। पं. जी की रचनायें लगभग इन दोनों के ही शासनकाल की हैं।

पंडित देवीदासजी स्वाभिमानी थे उन्होंने कभी भी किसी से धनादि की याचना नहीं की। अपनी आजीविका का अर्जन वे स्वयं करते थे। पिता के वृद्ध होने पर या ज्येष्ठ पुत्र होने से परिवार के पोषण के लिए वे बंजी किया करते थे। देहात-देहात जाकर सौदा, वस्त्रादि बेचने को बंजी कहते हैं। उनके कपड़े का छोटा-सा व्यवसाय था। आज भी उस क्षेत्र में लोग कहते हैं कि पण्डितजी बंजी किया करते थे, फिर भी वे कविता करते थे तथा संतोषवृत्ति के थे। अधिक कमाने की नहीं सोचते थे, जितने से काम चल सकता है, उतनी कमाई हो जाने पर गठरी बांधकर दुकान बंद कर देते थे और स्वाध्याय आदि में लग जाते थे। उनका जीवन बिलकुल सादा था और विचार बहुत ऊँचे थे। वे कभी भी विपत्तियों में आने पर डगमगाये नहीं, अहंकर तो उन्हें था ही नहीं, वे विनम्रता की प्रतिमूर्ति रहे होंगे। तभी तो प्राय: सभी रचनाओं में अपनी लघुता को उन्होंनें अनेक प्रकार से प्रदर्शित किया है। गलती होने पर उसे सुधार देने की प्रार्थना भी उनने बुद्धिजीवियों से की है तथा प्रमाणता जिनागम में ही मानने का परामर्श दिया है।

पण्डितजी की आर्थिक स्थिति सुदृढ नहीं थी, फिर भी उनकी समाज में अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। उन्होंनें समाज को भक्ति करना सिखाया था। शास्त्रों का हितोपदेश प्रवचनों से सुनाया था तथा कई भजन, राग-रागनियों में पद, तत्त्वबोध कराने वाली बहुत सी रचनायें और चौबीसों तीर्थंकरों की पूजायें, स्तवन स्तोत्र आदि भी लोकभाषा में लिखकर लोगों को दिये थे। आज भी उस क्षेत्र में लोग उनके भजन गुनगुनाते हैं, उनके द्वारा निर्मित पूजायें पढते हैं, पर शायद उन्हें पता नहीं है कि ये सब उनके ही पण्डित देवीदासजी की हैं।

प्रवचनसार भाषा कवित्त के सम्पादन-अनुवाद का दायित्व जब मैंनें ओढा तो पण्डितजी के बारे में सामग्री खोजने का प्रयत्न हुआ। परिणामत: 'देवीदास विलास',

जिसका सम्पादन आदरणीया डॉ. विद्यावती जैन, आरा (बिहार) ने किया है, मिला तथा दुगौड़ा के श्री विवेकानन्द जैन का सन्दर्भ भी मिला, जो इस समय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के केन्द्रीय ग्रंथालय में सहायक ग्रंथालयी हैं। उनसे दूरभाष पर सम्पर्क हुआ। निवेदन करने पर उन्होंनें पत्र से मुझे कुछ जानकारी दी तथा अपने पिता श्री बाबूलाल जैन सुधेश दिगौड़ा को भी पत्र लिख दिया, जिससे उन्होंनें भी एक परिपत्र (फोल्डर) अपने पत्र के साथ मुझे भेजा। यद्यपि इसमें उपलब्ध जानकारी देवीदास विलास पर ही आधारित है, फिर भी इतना अधिक जानना तो हुआ ही कि महाकवि पण्डित देवीदास स्मृति भवन एवं शोध केन्द्र की स्थापना दिगौड़ा ग्राम में हो गयी है। पण्डितजी के जीवन में घटीं प्रेरक घटनाओं में से एक घटना ऐसी भी ज्ञात हुई, जो देवीदास विलास में नहीं है। मैं इन दोनों महानुभावों का आभारी हूँ, उनकी सुजनता से कृतार्थ भी हूँ।

अब मैं देवीदास विलास में उल्लिखित एवं फोल्डर से ज्ञात पाँचों घटनाओं की तरफ आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, क्योंकि इससे कवि के व्यक्तित्व की झलक मिलती है। कवि की समभावी सहिष्णुता चारित्रनिष्ठा, निर्भीकता, आत्मबल और मितव्ययता वाले व्यक्तित्व को उजागर करनेवाली कुछ एक दंतकथायें आज भी बुन्देलखण्ड के उस भूभाग में सुनने को मिल जाती हैं।

१. एक किंवदन्ती के अनुसार पण्डितजी अपने छोटे भाई को लेकर उसके विवाह के लिए जरूरी सामान खरीदने ललितपुर जा रहे थे। रास्ते से जाते हुए घने जंगल में शेर ने आक्रमण कर उनके भाई को मार दिया। कवि विचलित तो हुए पर 'कर्मनि की गति न्यारी टाल सके न कोय' यह विचारकर जल्दी ही संभल गये और वहीं जंगल में दाह संस्कार करके वापिस घर आ गये। जब माँ विह्वल हो गयी तो कहने लगे – माई ! संसार की गति ऐसी ही विचित्र होती है। व्यक्ति जो सोचता है वह ही तो सब नहीं हो जाता है। राम को राजतिलक होना था, पर मिला वनवास। रावण ने सोच लिया था कि राम को जीतकर सीता दे दूँगा पर वह ही मर गया। क्या इनका सोचा हुआ हो पाया ? नहीं न। तो फिर हमने सोचा था कि छोटे भाई की शादी करेंगे, कर भी रहे थे पर वह ही हमें छोड़ के चला गया तो इसमें अनहोना क्या है। उसे तो आयुकर्म खत्म हो जाने से मरना ही था। हमें अब विवेक नहीं खोना है, क्योंकि विवेक खो जाने पर सद्गति नहीं मिलती है। शोक को धैयपूर्वक सहन करें, इसी में हमारा भला है और जीवन की सुरक्षा भी।

२. भायजी के नाम से मशहूर पण्डित देवीदासजी बंजी के सिलसिले में गांव-गांव कपड़ा बेचने जाते थे। बछौड़ा भी जाते थे, वहाँ साधर्मी भाई के यहाँ रुकते थे। एक पाँच वर्ष का बालक उनका चहेता था, उनके पास खेलता रहता था, भायजी भी उससे बहुत स्नेह रखते थे। एक बार बच्चा खेल कर घर गया, माँ ने जब उसके हाथ में चांदी का कड़ा नहीं देखा तो उसे भायजी पर शक हो गया, उसने जाकर भायजी से चांदी के कड़े की बात कही। पण्डितजी उसकी दुर्भावना समझ गये और बोले मेरी गठरी में दब गया होगा, कल लाकर दे देंगे। भायजी को दुख बहुत हुआ, किन्तु उन्होंनें दिगौड़ा जाकर पाँच तौला चाँदी का वैसा ही कड़ा बनवाया और दूसरे दिन आकर उन्हें दे दिया। कड़ा मिलने पर बच्चे की माँ प्रसन्न हो गयी, किन्तु थोडी देर बाद जब उसने कल का कुर्ता बच्चे को पहनाया तो उसकी बाँह में अटका कड़ा सन्न से नीचे गिर गया, जिससे उनके पास कड़े दो की जगह तीन हो गये। वह सारा माजरा समझ गयी, उसने पश्चाताप किया और पण्डितजी को सारी बात बताकर माफी माँगी। पण्डितजी ने कहा – जिसकी वस्तु खो जाती है, उसके मन में सन्देह तो होता ही है, यह तो मानव स्वभाव है। इसमें तुम्हारी कोई गलती नहीं है।

३. एक बार पण्डितजी ललितपुर से कपड़ा खरीद कर कुछ व्यापारियों के साथ अपने गाँव लौट रहे थे। संध्या हो जाने पर उन्होंने कहा पहले सामायिक कर लें, फिर आगे चलेंगे तो सभी ने विरोध किया और कहा नहीं, यहाँ नहीं रुकना है, लुटने का डर है, इसलिए जल्दी चलो। पण्डितजी नहीं माने वे तो गठरी एकतरफ रखकर ध्यान में लीन हो गये, किन्तु बाकी व्यापारी आगे चले गये। सचमुच लुटेरे आ गये और पण्डितजी की गठरी उठा कर भी ले गये। पर उन्होंने सोचा कितना धर्मात्मा है, ध्यान से विचलित भी नहीं हुआ, अरे इसका माल ले जाकर हम महापापी हों जायेंगे और लुटेरे गठरी वापिस रख कर आगे गये, वहाँ वे सभी व्यापारी उन्हें मिले गये, जो आगे चले गये थे। उन्होंनें व्यापारियों का सारा सामान लूट लिया और मारपीट भी की। पण्डितजी की सामायिकादि में अटूट रुचि होने से लुटेरों का भी मन बदल गया।

४. पण्डितजी एक बार उत्तरप्रदेश के एक नगर संभवतः आगरा में एक वर्ष रहे। वे अपना भोजन खुद बनाते थे। इसके लिए एक पैसे की लकड़ी रोज खरीदते थे, खाना बनाने में लकड़ी जलती थी, वे उसके कोयले को बुझा देते थे और एक

सुनार को हर दिन एक पैसे में ही बेच देते थे। इस प्रकार एक साल में एक पैसा ही उन्होंने लकड़ी पर खर्च किया।

५. यह घटना फोल्डर में प्रतिपादित है। पण्डितजी जब जयपुर में थे, वहाँ जैन मंदिर का निर्माण हो रहा था, पर राजा द्वारा कलश चढाने पर रोक लगा दी गयी थी। एक दिन राजा को सिरदर्द हुआ। राजवैद्य उसे दूर न कर सके। एक दिन पण्डितजी ने कहा यदि मुझे चिकित्सा करने दी जाये तो मैं ठीक कर दूँगा। पण्डितजी को बुलाया गया तथा उनके यथोचित उपचार से राजा का सिरदर्द ठीक हो गया। राजा ने पुरस्कार देना चाहा, पर पण्डितजी ने मना कर दिया तो राजा ने कहा मैं आपका ऋण कैसे चुकाऊँगा ? राजा के ऐसा कहने पर पण्डितजी ने कह दिया आप मंदिर पर कलश चढाने के लिए लगी रोक हटा दीजिए। आप उऋण हो जायेंगे। राजा ने वैसा ही किया, रोक हटा ली और मंदिर पर कलशारोहण बड़े उत्साह से हुआ।

पण्डितजी का सम्पूर्ण जीवन शास्त्राभ्यास, सामायिकादि नियमों के पालन में बीता। आजीविकोपार्जन के बाद जो भी समय मिलता था, उसे वे साहित्य साधना में लगाते थे। वे निस्पृह स्वभाव के थे। जो मिला उसी में संतोष कर लेते थे, पर स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन आदि के कार्यों में प्रमाद नहीं करते थे। अपनी लिखी हुई पूजायें बड़े जोश के साथ मंदिरों में कराते थे। बड़ा उत्साह था, उनका पूजा भक्ति में। इसी के माध्यम से वे तत्त्वज्ञान का रसपान भी लोगों को करा देते थे। शास्त्र की गूढ गंभीर बातें जो सामान्य जनों को सुलभ नहीं थीं, उन्हें भी कवित्तों में रसमय छन्दों द्वारा लोगों को सुना देते थे। उनका साहित्यिक अवदान हर दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, परोपकारी तो है ही। लोग सन्मार्ग पर लग जायें इससे बड़ा उपकार और हो भी क्या सकता है ? मध्ययुगीन रीतिकाल की विसंगतियों से भोग और विलासिता में सराबोर साहित्य सृजन की धारा को उन्होंनें मोड़ दिया था, उनका पद्य साहित्य जहाँ नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है तो धर्म-दर्शन और अध्यात्म के यथार्थ को भी उजागर कर देता है। सांस्कृतिक विरासत की अमूल्य थाती हैं, उनकी काव्य रचनायें। हर दृष्टि से उनमें गहराई है। सत्य, अहिंसादि आचरण को गरिमा प्रदान करने में उनकी लेखनी अत्यन्त सशक्त है। वे एक निर्भीक चेता की तरह अपने उपदेशों से समाज को जगाने वाले एक महान् कवि हैं। बुन्देली भाषा में रचित विपुल साहित्य संसार में वे एक ऐसे अद्वितीय जैन कवि हैं, जिन्होंनें जैन

वाङ्मय को अपनी सफल और सशक्त काव्यधारा का आलम्बन बनाया है। सचमुच ही उनकी मेधा महनीय है, उनकी संतोषवृत्ति सराहनीय है और उनकी धार्मिक साधना समता की सुगन्ध को बिखेरती हुई सुविकसित जीवन प्रसून का जीता-जागता निदर्शन है। धन्य है वे महामना जिनकी स्मृति ही हमें आमोद-प्रमोद से भर रही है। उनकी लेखनी का प्रसाद हमें अवश्य ही चखना है, यह सोचकर उनके साहित्यिक अवदान का यत्किञ्चित् उल्लेख ही हम यहाँ कर पा रहे हैं। किसी भी कवि या रचनाकार का व्यक्तित्व उसके साहित्य में अजर अमर हो जाता है और लोग युग-युगान्तरों तक उससे प्रेरणा पाकर अपना भला कर लेते हैं, फिर हम पीछे क्यों रहें ?

पण्डितजी की साहित्य साधना को जानने के लिए हमारे पास अभी दो ही स्रोत हैं। पहला छुटपुट-फुटकर किन्तु अलंकारादि से विशिष्ट एवं अर्थगाम्भीर्य से युक्त काव्यकला को गौरवान्वित करती हुईं अनेक रचनाओं का खजाना 'देवीदास विलास'। तथा दूसरा स्रोत है, उनकी प्रगाढ दार्शनिक निष्ठा का परिचायक एवं उत्कृष्ट आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा सहित चारित्र के प्रकर्ष को उजागर करने में द्रव्यानुयोग के माल को चरणानुयोग की पेकिंग-प्रेरणाओं में प्रस्तुत करने वाला महान् ग्रन्थ 'प्रवचनसार भाषा कवित्त'।

'देवीदास विलास' जो उनकी प्रकीर्णक छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं का पिटारा है। मेरा दावा है कि जो भी श्रावक इन्हें पढेगा, समझेगा उसका जीवन निश्चित ही धार्मिकनिष्ठा से सम्पन्न हुये विना नहीं रहेगा। यहाँ हम उनकी रचनाओं की समीक्षा किये विना पण्डितजी की काव्य क्षमता का परिचय कराने की दृष्टि से केवल नामोल्लेख ही कर रहे हैं –

१. परमानन्द स्तोत्र २. जिनस्तुति ३. जिन नामावली ४. चतुर्विंशति जिनवन्दना ५. पंचवरन जिन स्तुति ६. सप्तव्यसन वर्णन ७. दसधा सम्यक्त्व ८. द्वादशानुभावना ९. शीलाङ्गचतुर्दशी १०. धरमपच्चीसी ११. पंच पद पच्चीसी १२. पुकार पच्चीसी १३. वीतराग पच्चीसी १४. उपदेश पच्चीसी १५. जोग पच्चीसी १६. जीव चतुर्भेदादि बत्तीसी १७. विवेक बत्तीसी १८. दरसन छत्तीसी १९. तीन मूढता अरतीसी २०. बुद्धि वाउनी २१. जिनांतराउली २२. मारीच भवांतराउली २३. लछनाउली २४. चक्रवर्ती विभूति वर्णन २५. राग-रागिनी पद संग्रह (२५ भजनों का संकलन) २६. पद पंगति संग्रह (२८ भजनों का संग्रह) २७. चित्र बन्ध काव्य (२० छन्दों का

सचित्र बंध काव्यों में प्रदर्शन) २८. जिनपूजा संग्रह – (i) चतुर्विंशति जिनपूजा (ii) आदिनाथ जिन पूजा (iii) अजितनाथ जिनपूजा (iv) संभवनाथ जिन पूजा (v) अभिनंदननाथ जिनपूजा (vi) सुमतिनाथ जिनपूजा (vii) पद्मप्रभु जिनपूजा (viii) सुपार्श्वनाथ जिनपूजा (ix) चन्द्रप्रभ जिनपूजा (x) पुष्पदन्त जिनपूजा (xi) शीतलनाथ जिनपूजा (xii) श्रेयांसनाथ जिनपूजा (xiii) वासुपूज्य जिनपूजा (xiv) विमलनाथ जिनपूजा (xv) अनन्तनाथ जिनपूजा (xvi) धर्मनाथ जिनपूजा (xvii) शान्तिनाथ जिनपूजा (xviii) कुन्थुनाथ जिनपूजा (xix) अरनाथ जिनपूजा (xx) मल्लिनाथ जिनपूजा (xxi) मुनिसुव्रतनाथ जिनपूजा (xxii) नमिनाथ जिनपूजा (xxiii) नेमिनाथ जिनपूजा (xxiv) पार्श्वनाथ जिनपूजा (xxv) महावीर जिनपूजा (xxvi) अंगपूजा (xxvii) अष्टप्रातिहार्य पूजा (xxviii) अनन्तचतुष्टय पूजा (xxix) अष्टादशदोषरहित जिनपूजा २९. हितोपदेश ३०. स्वजोगराछरी ३१. जिनातिशय वर्णन – (i) जिनवर जन्म के दश अतिशय (ii) केवलज्ञान के दस अतिशय (iii) देवकृत चौदह अतिशय ३१. प्रवचनसार भाषा कवित्त (पद्यमयी टीका)

प्रस्तुत कृति का सम्पादन एवं अनुवाद

किसी भी पाण्डुलिपि का सटीक सम्पादन सचमुच ही दुरुह कार्य है। **'देहं वा पातयामि जीवनं (कार्यं) वा साधयामि'** की उक्ति इस व्यवसाय में अक्षरश: घटित होती है। पाण्डुलिपि के उपलब्ध हो जाने पर प्रथम दायित्व उसे पूरा पढने व समझने का होता है, तब चालू होती है उस रचना विशेष की अन्य पाण्डुलिपियों को खोजने की प्रक्रिया। मैं सन् २००३ के दशलक्षण पर्व के अवसर पर विद्वान् की हैसियत से गुना (म.प्र.) में था। वहाँ समादरणीय कवि श्री मिश्रीलालजी जैन से मिलना हुआ, उनसे स्नेह बढता गया, वे मेरे प्रवास स्थल पर भी आ जाया करते थे और मुझे अपने घर भी ले जाते थे, उनसे जब मैंने पण्डित देवीदासजी की प्रवचनसार पर पद्यमयी टीका का उल्लेख किया, फोटोस्टेट पाण्डुलिपि मेरे पास थी, सो उन्हें पढकर सुनायी तो वे गद्‌गद् हो गये, उनकी धर्मपत्नी, जो मेरे लिए मातृ सदृश स्नेह का आलम्बन बनीं, भी पाण्डुलिपि के पठन में निपुण थीं।

सारे क्षेत्र में अस्त-व्यस्त पाण्डुलिपियों को एकत्रित कर उन्हें संभालकर उनकी सुरक्षा की योजना बनाने वाले ही नहीं, उसको साकार करने वाले उत्कट जिजीविषा

के धनी समादरणीय ब्रह्मचारी संदीपजी 'सरल' से भी मेरी मुलाकात गुना में ही हो सकी। उनके यहाँ का केटलॉग हमने देख रखा था। उसमें भी पण्डितजी की प्रस्तुत पाण्डुलिपि का जिक्र था सो उनसे हमने प्रस्तुत पाण्डुलिपि के सम्पादन व अनुवाद करने की अपनी जिज्ञासा का खुलासा किया तो उन्होंने कहा कि इस पर पण्डित कुन्दनलालजी जैन, पूर्व प्राचार्य, नई दिल्ली ने काम कर दिया है; दानदाता मिलने पर हम उसे जल्दी ही प्रकाशित कर रहे हैं। हमने सोचा बहुत अच्छा है, जब उक्त प्रति प्रकाशित होगी तब उसका भी उपयोग कर हम अपना कार्य करेंगे। इस प्रकार उत्साह ठंडा हो गया।

इस पाण्डुलिपि की एक प्रति चंदेरी में है, यह सूचना भी गुना में ही मुझे मिली। उसे पाने हेतु मैंनें चंदेरी के मूल निवासी श्री मथुराप्रसादजी मड़वैया गुना से कहा। उन्होंने कहा चलेंगे चंदेरी और दिला देंगे। यह चलना क्रियान्वित नहीं हुआ। जयपुर में अपने मित्र श्री अखिल बंसल, जो चंदेरी के ही हैं, उनसे भी बार-बार कहा कि चंदेरी से प्रति मंगाने का प्रयत्न करें। उन्होंनें प्रयत्न किया होगा। हमें वहाँ की प्रति नहीं मिल सकी।

अब तक हमने उपलब्ध प्रति का वाचन २-३ बार कर लिया था। हमारा मन चाह रहा था कि यह पाण्डुलिपि जल्दी ही लोगों को पढने के लिए मिले। पर चाहने से कुछ होता तो नहीं है। किसी प्रसंगवश मैं अपने घर खुरई (म.प्र.) जाते समय बीना में ब्रह्मचारी संदीपजी के पाण्डुलिपि संग्रहालय में अचानक ही पहुँच गया। ब्रह्मचारीजी थे नहीं। पर मैंनें वहाँ रुककर पण्डित देवीदासजी की प्रवचनसार नाम से दो पाण्डुलिपियों का अवलोकन किया। एक पूर्ण थी तथा एक अपूर्ण। ब्रह्मचारी जी के न होंने से उनकी छायाप्रति मिलना असंभव रहा।

मैं जयपुर आ गया। मित्रों से चर्चा की कि यदि बीना में उपलब्ध प्रति की छाया प्रति आ जाये तो जयपुर की इस प्रति और उस प्रति दोनों के सहारे से संपादन कार्य प्रामाणिक हो जायेगा। आजकल जो पाण्डुलिपियाँ बेवसाइट पर नहीं हैं, केवल किन्हीं के संरक्षण में हैं, उन्हें पाना भी सरल नहीं होता है, यह मैं जानता था, अतः किसी विशेष प्रयास से ही मैं बीना की प्रति हासिल करना चाहता था ताकि असफलता की कोई गुंजाइश न रहे। जैन साहित्य प्रेमी परम आदरणीय श्री ज्ञानचंदजी खिन्दूका, जयपुर ने ब्रह्मचारीजी को पत्र लिख दिया। लगभग डेढ महीने बाद वहाँ

से पाण्डुलिपि की छाया प्रति आ गयी, मैं सफल हुआ, धन्य भी हो गया। श्री हरीशचन्दजी ठोलिया, जो स्वाध्याय के निमित्त से मेरे मित्र बने। उनके पास पुस्तकों का अच्छा संकलन है, समृद्ध लाइब्रेरी है उनकी। उनकी धर्मपत्नी को केंसर की बीमारी थी, बड़ी भद्र महिला थीं वे, उनसे सदा ही मातृवत् स्नेह मुझे मिला। श्री ठोलियाजी की भावना थी कि धर्मपत्नी के निमित्त कुछ करें, मेरे से पूछा तो मैंने पण्डित देवीदासजी के प्रवचनसार भाषा कवित्त को छपाने का प्रस्ताव रख दिया, उन्होंने मान लिया और बात आयी-गयी हो गयी, किन्तु 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार बाल ब्रह्मचारी पण्डित संतोषकुमारजी झांझरी, जो जैनविद्या के उत्कृष्ट विद्वान् हैं, से भी जब ठोलिया जी की चर्चा हुई तो उन्होंने भी इस पाण्डुलिपि को प्रकाशित करने की ही बात कही तो बात पक्की हो गयी।

मेरा उत्साह वृद्धिंगत था ही, सामग्री (पाण्डुलिपियाँ) भी थी, सो मैं जुट गया अपने अभियान में। मेरा मानना है कि दोनों प्रतियों के आलोक में सही पाठ का चयन सहजता से हुआ है, एतदर्थ सबसे बड़ी सहायता अर्थावबोधन-रहस्यावबोधन से मुझे मिली। अच्छा हुआ जो मैंने सम्पादन के साथ इस कृति के अनुवाद कार्य को भी स्वीकार कर लिया था। यह अनुवाद केवल शास्त्रों के अनुकरण से मात्र भाषा का परिवर्तन ही नहीं है। अभिधा अर्थ को ही उजागर करने का प्रयास भी यह नहीं है। यहाँ अर्थावबोधन की जिज्ञासा के कारण रहस्यों को उद्भावित करने का श्रम भी हुआ है। एतदर्थ मूल ग्रंथ प्रवचनसार, उसकी तत्त्वदीपिका और तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकाओं तथा हेमराजी कृत बालबोध टीका को भी मैंने भरपूर पढा-समझा है। जब तक सही समझ नहीं आयी, तब तक सम्पादन भी रुका ही रहा।

कृति का सम्पादन तभी सार्थक हो सकता है, जब उसके रचनाकार के मन्तव्य को ध्यान में रखकर पाठ निर्णय किया जाये, इस दृष्टि से सम्पादक को कृति का अर्थावबोधन तो होना ही चाहिए, तत्संबंधित विषय के रहस्य से भी उसका परिचय होना आवश्यक है। एतदर्थ बौद्धिक श्रम चाहिए जो अनुवाद के बहाने मुझसे हुआ। मैं संतुष्ट हूँ, इस प्रति के अनुवाद एवं सम्पादन कर्म से।

सम्पादन में सही पाठ का निर्णय करने में भाषिक ज्ञान एवं प्रकृत विषय का ज्ञान होना बहुत मायने रखता है, मैंने भी दोनों का भरपूर प्रयोग किया है। कवि ने

जो लिखा है वह प्रामाणिक तो है ही। इस दृष्टि से जिज्ञासु पाठक को उसका वैशिष्ट्य अवगत कराने के लिए हमने कवि के उन-उन छन्दों को चिन्हित किया है, जिनका संबंध प्रवचनसार की मूल गाथा से है, मूल गाथा को फुटनोट में उद्धृत करना भी हमें इष्ट रहा है। इससे पाठक समझ सकेंगे कि पंडितजी ने महर्षि कुन्दकुन्द प्रणीत गाथाओं को कितनी गहराई से समझा था। हमने सम्पादन के निमित्त जिस तकनीक का सहारा लिया, उसे इस प्रकार बताया जा सकता है –

१. दोनों प्रतियों के पठन के बाद आधारभूत (मूल) पाण्डुलिपि का चयन करना। हमने आधार प्रति को 'क' प्रति का संज्ञान दिया है।

२. पाण्डुलिपियों के लिप्याक्षरों की वर्तनी से परिचित होना/भाषा टीका का परिज्ञान भी कर लेना।

३. लिखने के पूर्व प्रकृत छन्द को दूसरी प्रति से मिलान करके पाठान्तर से परिचित होना।

४. पाठान्तर की स्थिति में शुद्ध पाठ की पहिचान हेतु प्रयास करना। एतदर्थ शब्दार्थ जानने की कोशिश और फिर समग्र छन्द के अभिधेयार्थ या लक्षणार्थ या व्यङ्ग्यार्थ को जानकर सही अर्थ वाले शब्द (पाठ) को शुद्ध मान लेना।

५. ग्रन्थ तात्पर्य और प्रकरण तात्पर्य की चिन्ता कर निर्णीत शुद्ध पाठ के प्रयोग से समग्र छन्द का अर्थावबोधन करना। इस प्रकार अर्थावबोधन से संतुष्ट होकर हमने शुद्ध पाठ को छन्द में शामिल कर शेष को पाठान्तर मानकर उसे पादटिप्पणी में अंकित कर दिया है।

६. भ्रष्ट स्थलों पर दूसरी प्रति का सहारा लेकर छन्द को सही करना तथा अर्थावबोधन के लिए प्रकृत विषय के ग्रन्थान्तरों का उपयोग करना।

७. शुद्ध पाठ के निर्णय और अर्थावबोधन के लिए उतावलेपन से बचना।

८. सम्पादन कार्य से अपने अभिप्रायों राग-द्वेषों को दूर रखना तथा विषय के प्रति ईमानदार होकर ग्रन्थोद्धार की भावना से काम करना।

९. शब्द कोषों, व्याकरणिक नियमों एवं छन्दोनिर्वाह के परीक्षणार्थ लक्षण ग्रन्थों का भी उपयोग कर शब्दों की लोक व्यवहार परिधि का भी आकलन करना।

आचार्य कुन्दकुन्द का प्रवचनसार गूढ रहस्यों से परिपूर्ण एक अमर कृति है, इसमें सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। जो अध्यात्म और दर्शन की गूढतम गहराई तक समता रूपी जल से लबालब भरी हुई है। इस त्रिवेणी का संगम स्थल है चारित्र स्वरूप धर्म। जो आत्मा का अपना ही अविकारी-निर्मल शुद्ध परिणाम है। त्रिवेणी के संगम में अर्थात् शुद्धात्मा में स्नान करना शुद्धोपयोग से परिणत हो जाना है। सचमुच में यही है प्रवचन का सार। जो समझने लायक है, समझ कर अपनाने लायक भी। अपनाना भी ऐसा कि उसमें अपनाना, अपनाने वाला और अपनाने योग्य का विकल्प भी नहीं रहे। जो रहे उसे मात्र मैं ज्ञाता-दृष्टा भाव से जानूँ, जानने में आ जाये तो जानूँ, जानता रहूँ मात्र, जानने में आने वाला भी मैं और जानने वाला भी मैं। जो कुछ हूँ वो मैं ही हूँ, अपने आप में परिपूर्ण, पूर्ण स्वाधीन। इस प्रकार अपने ज्ञान की स्वाधीन परिणति जान पाती है अपने शुद्ध आत्मा को और हो जाता है शुद्धोपयोग। यह शुद्धोपयोग ही परिणति स्वरूप धर्म का बीज है, अंकुरण है, प्रस्फुरण भी है और है समग्र चेतना का अपने आप में समर्पित हो जाने वाला परिपक्व, सुमधुर, सुन्दर चिदानन्दरूपी फल। जिसका आस्वाद कभी आत्मा को थकाता नहीं। अनंत काल तक शुद्धोपयोग से आता रहता है आत्मा में अनंत आनन्द। यह है प्रवचनसार का फल। आप पाना चाहेंगे इस फल को तो पण्डित देवीदासजी के प्रवचनसार भाषा कवित्त को पढ लीजिए।

कविता ज्ञेय होती है। अपनी चाल-ढाल से मन को मोह लेती है। उसे समझना सरल नहीं होता, फिर प्रवचनसार की गूढ गम्भीर अर्थवाही गाथाओं पर कविता। दर्शन और अध्यात्म की विवेचनाओं पर कविता, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सूक्ष्मताओं पर कविता, अमूर्त को जानने वाले अमूर्त ज्ञान और उसकी सामर्थ्य पर कविता, अतीन्द्रिय ज्ञान से जनित अतीन्द्रिय सुख पर कविता, श्रमण बनने और उसके पुरुषार्थ पर कविता। सर्वत्र सशक्त है पण्डित देवीदासजी की पद्यमयी टीका स्वरूप प्रवचनसार भाषा कवित्त के रूप में यह बुन्देली मिश्र हिन्दी कविता। इसे पढो, सुनो, गुनो, आनन्दित हो जाओ। सहारे की जरूरत पड़े तो विवेचन शैली में किये गये अर्थावबोधन परक अर्थ जो आज की मानक भाषा हिन्दी में प्रस्तुत किये गये हैं, को पढ लेना, समझने को ईमानदार हो जाना, पढने को नहीं अर्थावबोधन के लिए पढ लेना। मेरा विश्वास है आप सफल हो सकेंगे प्रवचनसार के मर्म को जान पाने में। आपकी जिज्ञासा सार्थक हो जायेगी। जिज्ञासु की जिज्ञासा को सार्थ

बनाने के लिए प्रस्तुत कवित्तों-छन्दों का जो भी अर्थ हमने किया है, उसे ही हम यहाँ अनुवाद का दायित्व समझकर चले हैं। सर्वत्र मूल का ही अनुगमन है, मूल विषय से हटकर हमनें इसमें कुछ भी नया समाविष्ट करने की कोशिश नहीं की है, फिर भी हमने मूल विषय को सुविशदतया स्पष्ट करने के लिए विस्तार का सहारा लिया है, प्रकृत विषय के पूर्वापर सन्दर्भों-संबंधों, प्रभावों, युक्तियों आदि के प्रयोग को हमने निषिद्ध नहीं माना है। हमारा अनुवाद मात्र शब्दानुगामी नहीं है, वाचक शब्दों में व्याप्त वाच्य प्रमेय को उजागर करने वाला या जानने पहिचानने की जिज्ञासा का अनुगमन करने वाला है। यह अनुवाद विवेचनात्मक है। शब्दों के भीतर छुपी प्रमेयार्थ विषयक उन विवक्षाओं को उजागर करने का है, जिनका सहारा लेकर अपने ज्ञान के संस्कारों से अनुस्यूत शब्दों का प्रयोग प्रयोक्ता ने किया है। शब्दप्रयोक्ता की प्रतिभा या उसके ज्ञानानुभव से संस्कारित शब्द ही वाचक कहलाते हैं। चाहे वे सुने गये हो या बोले गये हों अर्थात् वक्तृनिष्ठ हों या श्रोतृनिष्ठ। उनमें वाचकता का आरोप तभी आ सकता है, जब वे शब्द प्रयोक्ता की प्रतिभा से स्फुरित होने वाली बुद्धि से संस्कारित होकर प्रयुक्त हुए हों। शब्द वाचक होते हैं, घट-पटादि प्रमेय वाच्य होते हैं, उन दोनों को तथा इनके संबंध को जानने वाले शब्द प्रयोक्ता का ज्ञान ही वाच्य-वाचक संबंध का बोधक कारण है, जिसके होने पर ही उभयनिष्ठ शब्द प्रयोक्ताओं अर्थात् वक्ता या श्रोता दोनों में ही शब्दों से अर्थावबोधन की निष्पत्ति होती है। अत: अर्थावबोधन के लिए हमने शब्द की आत्मा स्वरूप वाच्य-वाचक संबंध के बोधक कारण का अनुकरण भी अपने अनुवाद में किया है। हमारे अनुवाद से अर्थात्रबोधन सरल-सहज भले हो गया है, पर आपको तो सरल तभी होगा, जब आप अपनी चेतना को वाच्य-वाचक संबंध के बोधक कारणों की परिचिति से शब्दों का अर्थ जानने के लिए सरल बनाने में सावधान हो जायेंगे। जानना वही है जो शब्दों के प्रयोक्ता जानते हैं और जानना चाहते हैं, यही है अपनी चेतना को सरल बनाने का उपाय।

इस कृति के अनुवाद में हमारे लिये प्रामाणिकता का स्रोत जिनागम ही है। जिसके सहारे हमने भाषागत विषमताओं से पार पाई है। सही अर्थ समझ कर अनुवाद कर पाने का हमें विशेष प्रमोद है। हमने अपने व्यक्तिगत अभिप्रायों को अनुवाद के नाम पर जोड़ने का दुस्साहस नहीं किया है। जिनागम के आलोक में प्रवचनसार के ही अभिप्राय सर्वत्र व्याप्त हैं और पुष्ट हो रहे हैं।

हम कहना चाहेंगे कि जिज्ञासु जन इसी रूप में हमारे अनुवाद का मूल्यांकन

करें। प्रवचनसार में विषय की दुरूहता, गंभीरता इतनी अधिक है कि कई जगह हमारी बुद्धि अनुवाद कर पाने के पशोपेश में पड़ी है। जिनागम और पण्डित संतोषकुमारजी झांझरी का मार्गदर्शन हमें उपकारी हुआ है। उन्होंने पूरे ग्रन्थ को पढकर एवं आवश्यक सुझाव देकर हमें कृतार्थ भी किया है। उनके द्वारा पढ लिये जाने से मुझे स्खलन विषयक चिन्ताओं से मुक्ति मिली है तथा सम्पादन-अनुवाद भी प्रामाणिकता की दृष्टि से इसे सशीतिशून्य माना जा सकता है।

अब मैं यहाँ निदर्शन स्वरूप केवल एक दोहा और उसके अनुवादित अर्थ को प्रस्तुत कर रहा हूँ, ताकि पाठक जन अनुवाद की अपरिहार्यता और उसके वैशिष्टय से परिचित हो सकें। देखिये –

आगे सब विरोध की दूरकरनहारी सप्तभंग वानी कहैं हैं।

(दोहरा)

द्रहतैं कमलापति सु उर गंगा सम निकसाइ।
दरव छ गुन मरजादयुत सरसुति रही समाई॥४२॥

अर्थ :–लोक में जैसे यह माना जाता है कि गंगा भगवान् विष्णु के उर (हृदय) से निकल कर भगवान् शंकर की जटाओं में समा गयी तथा फिर वहाँ से लोकोपकार का प्रतीक बनकर पृथ्वी पर अवतरित हुई। वैसे ही यहाँ जैन परम्परा में सर्वविरोधों को दूर करने में समर्थ सप्तभङ्गमयी वाणी स्वरूप जिनवाणी गंगा भी कमलापति अर्थात् अंतरंग-बहिरङ्ग लक्ष्मी के स्वामी भगवान् जिनेन्द्र रूपी सरोवर से निकल कर गणधरों के हृदय कमल को विकसित करने वाली बुद्धि में समा जाती है तथा फिर सप्तभङ्गसमलङ्कृत होकर सर्वविरोधों के परिहार से वस्तुस्वरूप का निरूपण करती हुई सरस्वती के रूप में अर्थात् द्रव्यश्रुत ज्ञान के रूप में जगत् में विख्यात होती है। यहाँ कवि का कथन है कि छहों द्रव्यों का उनके गुण-पर्यायों की मर्यादा सहित प्ररूपण करनेवाली सरस्वती अर्थात् जिनेन्द्र रूपी सरोवर से निःसृत वाणी ही मानों सप्तभङ्ग न्याय से समन्वित स्याद्वाद सिद्धान्त को अपने में समाहित किये हुए है। यहाँ कहा जा सकता है कि स्याद्वाद के बिना किसी भी वाणी से वस्तु स्वरूप का निरूपण असंभव है, अत एव यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने वाली वाणी को जगत् में वाग्देवी सरस्वती का विरुद प्राप्त हुआ है।

यहाँ कहा जा सकता है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्ररूपण करने वाली वाणी

स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुसरण-अनुकरण करने वाली होती है। स्याद्वाद के विना वाणी द्वारा यथार्थ कथन सर्वथा असंभव है। यही कारण है कि यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने वाली वाणी को ही जगत् में वाग्देवी सरस्वती का विरुद प्राप्त है। जो सत्यवक्ता होता है, उसके सत्यनिष्ठ वक्तृत्व को हृदयंगम करके ही तो कहा जाता है कि इसके मुख में तो सरस्वती विराज रही है या यह साक्षात् सरस्वती का वरद पुत्र है।

पाण्डुलिपियों (छायाप्रतियों) का परिचय

डॉ. विद्यावती जैन आरा (बिहार) ने पण्डित देवीदासजी कृत 'प्रवचनसार' नामक कृति को अद्यावधि अप्रकाशित बताया था और उसकी एकमात्र पाण्डुलिपि जयपुर के तेरहपंथी बड़े मंदिर में सुरक्षित है, यह उल्लेख किया था। इस पाण्डुलिपि की एक छाया प्रति हमें मुनिश्री ऊर्जयन्तसागरजी से प्राप्त हुई थी। उस समय (२००३) मुनिश्री सिद्धार्थनगर जयपुर में चातुर्मास कर रहे थे। प्रवचनसार का अध्ययन उनका चल ही रहा था, एतदर्थ ही मूल गाथाओं और दोनों संस्कृत टीकाओं से अर्थावबोधन कराने के लिए मुझे उनकी सन्निधि हर दिन प्राप्त होती रहती थी। श्री विनयचन्दजी पापड़ीवाल जयपुर ने जब मुनिश्री को उपर्युक्त छाया प्रति उद्धार होने की भावना से प्रदान की तो प्रकाशन योग्य है या नहीं यह जानने के लिए मुनिश्री ने वह मुझे दे दी थी। मैंने तब ही इसके सम्पादन-अनुवाद के दायित्व निर्वहण की योजना मन में बना ली थी, जो अब साकार हो रही है। दूसरी प्रति की प्राप्ति विषयक वृत्त को हम पूर्व में कह ही आये हैं। दोनों प्रतियों का परिचय इस प्रकार है –

(१) 'क' प्रति की संज्ञा से अभिहित प्रति दड़े पर स्थित श्री दिगम्बर जैन मंदिर बडा तेरहपंथ, जयपुर की है। जो जयपुर के भव्य जीव जैनमती भाई मनसाराम खंडेलवाल के पठनार्थ प्राप्त हुई थी। इस प्रति का लेखन विक्रम संवत् १८२८ में आषाढ वदी दोज रविवार को पूर्ण हुआ था। यह प्रति प्रधान अमानराइ ने छत्रपुर में लिखी थी। पण्डित देवीदास ने इस प्रवचनसार भाषा कवित्त को वि.सं. १८२४ में सावन सुदी अष्टमी सोमवार को पूरा किया था। (देखें, पृष्ठ ३१४ एवं ३१७)

इस प्रति में कुल पत्र संख्या १०५ है। पत्र की साइज लगभग ८''×११'' है। यह फोटोकॉपी का नाप है, मूल प्रति में कुछ अन्तर हो सकता है। लेख दोनों तरफ

है तथा प्रतिपृष्ठ पंक्तियाँ ९ हैं। पंक्ति की लम्बाई ९'' है। अक्षर बड़े हैं तथा प्रति पंक्ति अक्षर संख्या २५-२७ है। इसमें कुल छन्द संख्या ४४९ है।

(२) 'ख' प्रति के अभिधान से व्यवहृत पाण्डुलिपि की छाया प्रति हमें अनेकान्त भवन बीना से प्राप्त हुई है। मूलतः यह प्रति झांसी की है। (देखिये, अनेकान्त भवन, ग्रंथावली III)। उक्त ग्रंथावली में इसका क्रमांक १३४३, ग्रंथ क्रमांक २९८५, पत्र संख्या ४०, साईज ८''×२५'' अंकित है। प्रत्येक पृष्ठ पर दोंनो तरफ लेखन है। प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्ति संख्या १० है। पंक्ति की लंबाई १०'' है। अक्षर छोटे हैं, पर सुवाच्य है तथा प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ५०-५२ है। यह प्रति किसके पठनार्थ कहाँ लिखी गयी, लिपिकार लेखक कौन है, इसकी जानकारी हमें नहीं है क्योंकि पाण्डुलिपि संवत् "१९२१" चैत्र मास शुक्ल पक्षे "९" भौम इस अधूरे वाक्य में ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रति का लेखन कार्य वि.स. १९२१ में चैत्र सुदी नवमी मंगलवार को पूर्ण हुआ, यह स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रति में छंदों की संख्या अशुद्ध है तथा क प्रति में वर्णित क्रम के अनुसार भी नहीं है। छंद संख्या का योग समान अर्थात् ४४९ ही है।

इस प्रकार हमें उपलब्ध दोनों प्रतियों में क प्रति प्राचीन है और ख प्रति अर्वाचीन। दोनों पाण्डुलिपियों के लिपिकाल का अन्तर लगभग ९७ वर्ष ४ माह है, यह स्पष्ट हो जाता है।

कवि के प्रति श्रद्धासुमन एवं आभार

अब हम पण्डित देवीदास को अपने श्रद्धा सुमन तुकबंदी में ही समर्पित करना चाहते हैं, अतः कुछ पंक्तियाँ, जो मैंने इस ग्रंथ के अध्यवसाय से ही लिख पाई हैं, उन्हें यहाँ लिख दे रहा हूँ, शायद आपको भी पसंद आयें –

आतमा अनातमा को ऐसौ मेल जोल है
नैया जामें जीवन की होत डांबाडोल है ॥टेक॥
पुण्य पाप दोउन कौ भयौ घालमेल है
धरम की सुध नांय संशय को खेल है।
देव गुरु दोऊ मिले धरम को मेल है
धरम ही जीवन में सांचौ सौ सुमेल है ॥१॥
आतमा अनातमा..........

दया दान पूजादि धरम के हेत हैं
मानत तिन्हैं तूं क्यों सु पुण्यन को खेत है।
पुण्य पाप दुहूं मांहीं पुद्गल को खेल है
आतम सुभाव सौं ही धरम को मेल है।।२।।
आतमा अनातमा..........
राग द्वेष भावनि सौं कर्मनि की जेल है
शुद्ध उपयोग ही सौं मुकति कौ मेल है।
मुकति तो आतमा की भव्यन कौं होत है
भव्य जीव वोई जाके आगम की जोत है।।३।।
आतमा अनातमा..........

इस पाण्डुलिपि को प्रकाश में लाने हेतु जिन-जिन महानुभावों ने मुझे प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग देकर कृतार्थ किया है, मैं उन सभी का आभार तो मानता ही हूँ, उन्हें प्रणाम भी कर रहा हूँ; वे सचमुच धन्य हैं; क्योंकि उनके निमित्त से पाण्डुलिपि प्रकाश में आ रही है। मेरी मान्यता है कि जिनागम से संबंधित पाण्डुलिपि को उजागर करना कई जिनालय बनाने से बड़े पुण्य का काम है। अस्तु। सभी इस अमूल्य कृति को पढकर लाभ उठायें, यही मेरी भावना है। साहित्य साधना कभी पूरी नहीं होती, उसमें कमियाँ रह ही जाती हैं, विद्वज्जनों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि कमियाँ दृष्टिगत होंनें पर मुझे अवगत कराकर अनुग्रहीत करें और क्षमा प्रदान कर अपना गौरव बढायें।

दिनांक २ अक्टूबर २००६

विद्वज्जन चञ्चरीक
डॉ. श्रीयांशकुमार सिंघई
रीडर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
जयपुर परिसर, त्रिवेणीनगर, जयपुर

"ॐ नमः सिद्धेभ्यः"

कविवर पण्डित देवीदास विरचित

प्रवचनसारभाषाकवित्त

ज्ञानतत्त्व अधिकार

श्री जिनाय नमः। अथ श्री प्रवचनसार भाषा लिख्यते।

प्रथम ही ग्रंथ आरंभविषैं चौबीस तीर्थंकर की स्तुति कीजिए है।[2]

प्रथम ही श्री आदिनाथ जू की स्तुति करैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

सोभित उत्तंग जाकौ धणिक[3] से पाँच अंग
परम सुरंग पीत वर्ण अति भारी है।
गुन सो अथंग देखि[4] लाजत अनंग कोटि
कोटि सूर सोम जातैं प्रभा अधिकारी है।।
दुविध प्रकार संग जाकैं सो न सरवंग
हरिकै भुजंग भोग[5] त्रसना निवारी है।
होत मन चंग[6] जसु सुनत अभंग जाकौ
ऐसै नाभिनंदन को वंदना हमारी है।।१।।

अर्थ – पाँच सौ धनुष ऊँचा और सुरंग पीतवर्ण अर्थात् अत्यधिक गोरा परमौदारिक शरीर जिनका सुशोभित है। करोड़ों सूर्य-चन्द्रमाओं की प्रभा से भी अधिक जिसकी प्रभा है। गुणों से परिपूर्ण जिनके मङ्गल शरीर को देखकर कामदेव भी लजा जाता है तथा जिनके दोनों ही प्रकार के सर्वाङ्ग परिग्रह का

---

१. 'ख' प्रति में इसी वाक्य से शुभारंभ किया गया है। २. 'ख' प्रति में "अब चौबीस महाराज की स्तुति प्रारभ्यते" है। ३. धनुष 'ख' प्रति में। ४ 'देव' क प्रति में। ५. 'भो' क प्रति में। ६ "पग" क प्रति में।

अभाव है। जिन्होंनें भुजंग को छोड़ने के समान भोगों को छोड़कर तृष्णा का निवारण कर लिया है तथा जिनके अभंग-अटूट शाश्वत यश को सुनकर मन चंगा (प्रसन्न) हो जाता है – ऐसे नाभिनन्दन तीर्थंकर ऋषभदेव को हमारी वंदना है।

अब अजितनाथ जू की स्तुति

(छप्पय)

द्रव्यकर्म नोकर्मकंज नासन समान हिम।
जनमजरा अरु मरन तिमिर छय करन भान जिम ॥
सुखसमुद्रगंभीरभार कंतार हुतासन।
सकल दोष पावक प्रचंड झर मेघविनासन ॥
ग्यायक[1] समस्त जग जगत गुर भव्यपुरुष तारन तरन।
वंदौ त्रिकाल सु त्रि सुद्ध करि अजित जिनेस्वर के चरन ॥२॥

अर्थ :– जो अजित जिनेश द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप कमलों के नाश में चन्द्रमा के समान हैं, जैसे सूर्य अंधकार का नाश करने वाला है, वैसे ही अजितनाथ जन्म, जरा और मरण का क्षय-अभाव करनेवाले हैं, सुख के गंभीर सागर हैं, कामरूपी वन को जलाने वाले हुतासन (अग्नि) हैं, समस्त दोषों रूपी पावक (वह्नि) को शांत करने या नष्ट करने में प्रचण्ड झर स्वरूप मेघ हैं। समस्त जगत् के ज्ञाता होने से जगत् के गुरु हैं। भव्य जीवों के तारन-तरन हैं, ऐसे उन अजित जिनेश्वर के चरणों की त्रिकाल वन्दना मैं मन-वचन-काय की शुद्धि से करता हूँ।

अब संभवनाथ जू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

मोहकर्म छीनिकैं सु परम प्रवीन भये
फटिकमनि भाजन मझार जैसे नीर है।
सुद्धग्यान साहजीक सूरज प्रकासें हिये
नहि अनुतिमिर परोछता की पीर है ॥

---

१ "ज्ञाइक" क प्रति में।

सकल पदारथ के परखी प्रतक्ष देव
तिन्हि तें जगत्र के विषैं न धीर वीर है।
जयवंत होहु ऐसें संभव जिनेस्वरजू
जाकैं सुख दुख को न करता सरीर है।।३।।

अर्थ :– मोह कर्म का क्षय करके जो परम प्रवीन केवलज्ञानी हो गये हैं। जैसे स्फटिक मणि के बरतन में नीर भी रंग बिरंगा हो जाता है, वैसे ही आपके ज्ञान में नाना ज्ञेय झलकते हैं। वह शुद्धज्ञान सहज ही सूरज के प्रकाश सम है, उसमें अज्ञान अंधकार का अनुसरण करने वाले परोक्ष ज्ञान की पीड़ा-बाधा नहीं है। इस प्रकार सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष परिचय करने वाले अर्हंत देव के समान जगत्रय में कोई दूसरा धीर-वीर नहीं है। जिनके सुख-दुःख का कर्त्ता शरीर नहीं है। ऐसे तीर्थंकर अर्हंत संभवनाथ जिनेश्वर जयवंत हों।

अब अभिनंदन जू की स्तुति

(सवैया तेईसा)

चारिप्रकार महागुनसार करे
तिन्हि[1] घातन कर्म निकंदन।
धर्ममई उपदेस सुनैं तसु
सीतल होत हृदौ जिम चंदन।।
इन्द्र नरेन्द्र धनेन्द्र जती सब
लोक पती सु करैं पद वंदन।
घालि गरै तिन्हि की गुनमाल
त्रिसुद्ध त्रिकाल नमौं अभिनंदन।।४।।

अर्थ :– जो इन घातिया कर्मों के नाशकर्ता हैं और जिन्होंनें अपने दर्शन ज्ञान सुख वीर्य को अनंत दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य के रूप में सारभूत महागुण कर लिया है। उनके धर्ममय उपदेश को सुनने से उद्वेग वैसे ही शांत हो जाते हैं जैसे चंदन के सेवन से मन शीतल हो जाता है। इन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती), धरणेन्द्र, सभी राजा गण (लोक पति) तथा गणधरादि सभी यति जन जिनके

१. 'तिन' ख प्रति में।

चरणों की वंदना करते हैं ऐसे उन अभिनंदन नाथ तीर्थंकर के गुणों की माला को अपने गले में घालकर अर्थात् पहनकर मैं मन, वचन और काय से शुद्ध होकर तीनों काल अभिनंदननाथजी को नमन करता हूँ।

अब सुमतिनाथ जू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

मोह को मरम छेदि सहज सरूप वेदि
तज्यौ सब खेद सुख कारन मुकति के।
सुभासुभ कर्म मल धोइ वीतराग भये
सुरझे सु दुःखतैं निदान चारि गति के॥
छाइक समूह ग्यान ग्याइक समस्त लोक
नाइक सो सुरग उरग नरपति के।
नमौं कर जोरि सीसु नाइ सो सुमतिनाथ
मेरे हृदैं हूजे आनि करता सुमति के॥५॥

अर्थ :– जिन्होंनें मोह के मर्म (बल) को छेदकर और सहज स्वरूप का वेदन करके मुक्ति के सुख को पाने के लिये सभी खेदों–आकुलताओं को तज दिया है। जो शुभाशुभ सभी कर्मों के मल को धोकर वीतराग हो गये हैं तथा चारों गति के निदान स्वरूप दुःखों से सुलझ गये हैं अर्थात् मुक्त हो गये हैं। जो लोक समूह को युगपत् जानने वाले क्षायिक ज्ञान से समस्त लोक के ज्ञायक–ज्ञाता हैं और स्वर्ग, पाताल (नाग लोक) और नरलोक के अधिपतियों के नायक अर्थात् नेता हैं ऐसे वे सुमतिनाथ तीर्थंकर, जो मेरे हृदय में आकर–बसकर मेरी सुमति के कर्ता हैं, उनको मैं शीश झुकाकर और हाथ जोड़ कर नमन करता हूँ।

पदमप्रभुजी की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

विनासीक जगत विलोकि जे उदास भये
छोड़ि सब संग ह्रो अभंग वनु लियो है।

जोरि पद पदम अडोल महा आतमीक
जहां नासा अग्र हो समग्र ध्यान दियो है।।
हिरदै पदम जाके विषै मनु राख्यौ थंभि
छ पद स्वरूप हो अतिंद्री रस पियो है।
जेई पदमप्रभ जिनेस जू ने पाइ निज
आप नव लवधि विभाव दूरि कियो है।।६।।

अर्थ :– जगत् को विनाशीक जानकर, देखकर जो उदास या विरागी हुये हैं और सारा परिग्रह छोड़कर अभंग बन गये हैं अर्थात् मुनि पद धारणकर जिन्होंनें वन प्रदेश को पा लिया है। जहाँ वन प्रान्तर में अथवा मुनिदशा में चरण कमल जोड़कर अर्थात् पद्मासन या खड्गासन में स्थिर होकर नासाग्र मुद्रा से महान् आत्मीक स्वरूप में समग्र ध्यान लगा दिया है। मानों उनके हृदय में स्वयं पदम प्रभु विराजमान हैं और स्वयं के स्वरूप में ही जिनने अपने मन को रोक रखा है अर्थात् भ्रमर स्वरूप होकर अपने ही कमल के अतीन्द्रिय रस का पान कर लिया है। ऐसे जिन जिनेशजू पदम प्रभु भगवान् ने स्वयं अपनी नवलब्धियों को पाकर अपने सभी विभावों को दूर कर दिया है उनको हमारा नमस्कार हो।

सुपार्श्वनाथजू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

विनसे विभाव जाही छिन में असुद्ध रूप
ताही छिन सहज सरूप तिन्हि करषे।
मति स्रुति आदि दै सु दाह दुःख दूरि भये
हृदै तासु सुद्ध आतमीक जल वरषे।।
केवल सुदिष्टि आई संपति अटूटि पाई
सकल पदारथ समैं में एक परषे।
तिनही सुपारस जिनेस की बड़ाई जाके
सुने जग माहिं भव्य प्रानी महा हरषे।।७।।

अर्थ :– जिस क्षण में जिनके अशुद्ध रूप विभाव विनष्ट हुये उसी क्षण में

वे उन विभावों से खिंचकर अर्थात् दूर होकर सहज स्वरूप में थिर हुये तथा मति श्रुत को आदि देकर अर्थात् मति श्रुत दोनों ज्ञानों को प्रारम्भ में ही आत्मा में लगाकर जिनके दुःख-दाह दूर हो गये हैं उनके ही हृदय में शुद्ध आत्मीक जल बरसता है अर्थात् उन्हें ही स्वानुभूति होती है। उनको ही केवलज्ञान उपार्जने की सुदृष्टि आती है, केवलज्ञान हो जाता है और अर्हंत अवस्था में अटूट–अक्षय सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। जगत् के सभी पदार्थ एक समय में जान लिये जाते हैं ऐसी यह बढ़ाई उन्हीं सुपार्श्वनाथ जिनेश्वर की है जिसको सुनने से जगत् में भव्य प्राणी महान् हर्ष को प्राप्त होते हैं।

चन्द्रप्रभजी की स्तुति

(कुण्डलिया)

देवादेवनि के महा चंदाप्रभ पद जाहि।
वंदौं भवि उर कमलिनी विगसत देखत ताहि॥
विगसत देखत ताहि सु तौ सब लोक प्रकासी।
केतकु करै प्रकास चंद्र मह जोति जरासी॥
विमल चंद्र मह चिन्ह देव वांनी सममेवा।
चंदा सहित कलंक वे सु निकलंकित देवा॥८॥

अर्थ :–देवों तथा अदेवों–मनुष्यादिकों के लिये महान् तीर्थङ्कर चन्द्राप्रभु के चरणों की मैं वदना करता हूँ। जिनको देखकर भव्य जनों के हृदय में कमलिनी विकसित हो जाती है। उनको विकसित देखकर तो लगने लगता है कि आप सब लोकों को जानने वाले हैं, लोकालोक को प्रकाशित करने वाले हैं। उनके सामने कमलिनी को विकसित होने में निमित्त कारण चन्द्रमा की दीप्ति स्वरूप जरा सी ज्योति कहाँ तक प्रकाश करे कि बराबरी हो सके। निर्मल चन्द्रमा में तो काला सा चिह्न दिखाई देता है और भगवान् चन्द्रप्रभु का विमल चिह्न है वीतरागता के साथ उनकी दिव्य वाणी। उस चिह्न के कारण चन्द्रमा तो कलंक वाला कहलाता है जबकि चन्द्रप्रभु भगवान् निष्कलंक देव ही सिद्ध होते हैं।

पहुपदंतजू की स्तुति

(कवित्त)

मारयौ मनु तिन्हि मदन डरयो पुनि[1]
भगत अंत तिहि मिली न थानि।
समोसरन महिं सो प्रभ पगतर
पहुप रूप हो बरख्यौ आनि॥
पुनि तिन्हि की सु नाम महिमा सौं
अपगुन भयौ महागुन खानि।
तेई पहुपदंत जिनवर के
सेवत चरन कमल हम जांनि॥९॥

अर्थ :– जिन्होंनें मन को मार दिया है ऐसे पुष्पदंत प्रभु को देखकर मदन अर्थात् कामदेव डर गया और मानों प्राण बचाकर भागने लगा किन्तु अंत तक उसे कहीं पर भी स्थान नहीं मिला। इसलिये वह प्रभु के समोशरण में आकर प्रभु के चरणों में पुष्प रूप में बरसने लगा। और फिर उनके सुनाम की महिमा से वह अपगुन स्वरूप कामदेव भी मानों पुष्प रूप से महागुन की खान हो गया। ऐसा जानकर हम भी उन्हीं पुष्पदंत भगवान् के चरण कमलों की सेवा कर रहे हैं अर्थात् उन्हें पूज रहे हैं।

सीतलनाथजू की स्तुति

(कवित्त)

सीतल सरस भाव समिता रस
करि सु परम अंतर उर भीनौ।
अति सीतल तुसार सम प्रगटे
गुन उर करम कमल वन छीनौ॥
दरसन ग्यान चरन पुनि सीतल
निरमल जगे सहज गुन तीनौ।
सीतलनाथ नमौं सु आपु तिन्हि
सहज सुभाव आप लखि लीनौ॥१०॥

---

१. पिनि क प्रति में, पिन ख प्रति में।

अर्थ :– आपके परम समता रसमय सरस भाव को अपने में अंतस्थ कर जान लेने से मेरा मन अंदर से भीग गया है अर्थात् विशुद्धिभावों से भर गया है। जैसे अत्यंत शीतल बर्फ कमल वन पर गिरकर उसे जला देती है वैसे ही आपके शीतल-समता-भाव रूपी गुन मेरे मन में बसकर मेरे करम रूपी वन को खाक कर देता है। हे शीतलनाथ भगवन्! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों गुन आपमें निर्मल होकर प्रगट हुये हैं। उन तीनों को आपके सहज स्वभाव में देखकर ही हे प्रभो! मैं आपको नमन करता हूँ।

श्रेयांसनाथजू[1] की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

चौंसठि चँवर[2] जाके सीस सुर ईस ढारैं
अति सै विराजमान तीस चार अगरे।
आठ प्रतिहारज न अंत है चतुष्टय कौ
सु तिन्हि[3] कौ प्रकास लोकालोक विषै बगरे॥
क्षुधा त्रिषा आदि जे सु रहित अठारा दोष
सुद्ध पद पाइ मोख पुरी काजै डगरे।
धरि कैं सु हाथ माथ नमौं सु श्रेयांसनाथ[4]
मिटै तिन सौं सु जग सौ अनादि झगरे॥११॥

अर्थ :– जिनके शीश पर सुरों-देवों के स्वामी चौंसठ चँवर ढुराते हैं। जिनके आगे चौंतीस अतिशय और आठ प्रतिहार्य विराजमान रहते हैं। दर्शन-ज्ञान-सुख और वीर्य का अंत कभी न होने से जो अनंत चतुष्टय स्वरूप हैं। उन चारों का प्रकाश मानों लोकालोक में बगरा हुआ है अर्थात् फैला-पसरा हुआ है। क्षुधा-तृषा आदि जो अठारह दोष हैं, उनसे रहित अपने शुद्ध पद को पाकर मोक्षपुरी पाने के लिये आपने मोक्षमार्ग अपना लिया है। इसलिये हे श्रेयांसनाथ हम अपने हाथों को माथे पर रखकर आपको नमन कर रहे हैं क्योंकि आपको किये गये नमन से ही हमारे जग संबंधी अतीत कालीन सौ अर्थात् सभी झगड़े मिट जाते हैं।

१. 'श्रीयसनाथजू' क प्रति में। २ 'चमर' ख प्रति में। ३. 'तिन' ख प्रति में। ४. 'सो त्रियंसनाथ' क प्रति में।

श्री वासपूज्यजू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

घातिया करम मैटि सहज स्वरूप भैंटि
भये भव्य तिन्हें जे करैया ग्यान दान के।
हेतु लाभ[1] मोख कौ सु आतमा अदोष कौ
अतिंद्री सुखभोग अंतराइ करै हांन के॥
उपभोग अंतराइ गऐं सो विभूति पाइ
समोसरनादि सुख हेतु निरवान के।
वीरज अनंतव्रत्य[2] दर्शन प्रकास्यौ सत्य
ऐसे वासुपूज्य सो समुद्र सुद्ध ग्यान के॥१२॥

अर्थ :– घातिया कर्मों का क्षय करके तथा स्व-स्वरूप में सहज मग्न होकर जो भव्य जीवों के लिये ज्ञान दान के कर्त्ता हुये हैं। मोक्ष के लाभ हेतु जिनका आत्मा मोहनीय के अभाव से दोष रहित पूर्ण वीतरागी हो गया है। भोगान्तराय कर्म के नश जाने से जो अतीन्द्रिय सुख के भोक्ता हैं। उपभोगान्तराय के चले जाने से जिन्होंनें समवशरणादि विभूति निर्वाणसुख की प्राप्ति के लिये पाई है। अनंत वीर्य, अनंतदर्शन और अनंत व्रात्य धर्म से जिन्होंने सत्य का प्रकाश किया है ऐसे वासुपूज्य भगवान् शुद्ध ज्ञान अर्थात् अकर्त्ता स्वभावी वीतरागी ज्ञान के समुद्र हैं, उन्हें हमारा नमन है।

विमलनाथजू की स्तुति

(सवैया तेईसा)

निर्मल धर्म गह्यौ तिन्हि पर्म
सुनिर्मल पंथ लह्यौ परमारथ।
निर्मल ध्यान धर्‌यौ सरवग्य
जग्यौ अति निर्मल ज्ञान जथारथ॥
निर्मल सुख सु निर्मल दृष्टि
विषै सब भासि रहे सु पदारथ।

---

१. 'हेति लाभ' ख प्रति में; 'हेत लाभु' क प्रति में। २. 'अनंतिवृति' ख प्रति में।

विमलनाथ[1] करौ हमरी मति
ज्यौं अपनौ सु कर्यौ सब स्वारथ ॥१३॥

अर्थ :– जिन्होंनें उसी परम निर्मल धर्म को ग्रहण किया और परमारथ का सुनिर्मल पंथ पाया फिर निर्मल ध्यान धारण किया जिससे उनके सर्वज्ञ स्वरूप अतिनिर्मल पूर्ण वीतरागी यथार्थ ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हुआ था। जिन्हें निर्मल निर्दोष निर्बाध सुख की प्राप्ति हुई है और जिनकी निर्मल दृष्टि में सभी पदार्थ सम्यक् भासित हो रहे हैं। ऐसे हे विमलनाथ भगवन् हमारी मति भी वैसे ही निर्मल कर दो जैसे आपने अपने सब स्वारथ पूरे कर लिये हैं।

अनंतनाथजू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

सहज सुभाव ही सौं वीतत विकल्प सवै
लख्यौ तिन्हि जगत विलास जैसैं सपनौ।
जानिवौ सु जान्यौ देखिवौ हतौ सु देखौ सब
दिख्यौ[2] ज्ञान दर्शन खिप्यौ समस्त झपनौ ॥
अंतराई कर्म अंत कियैं तैं अनंत बल
भयो मोह मर्दत अनंत सुख थपनौ।
जयवंत होहु ऐसे जग में अनंतनाथ
पायो तिन्हि सदा कौ गमायौ रूप अपनौ ॥१४॥

अर्थ :– सहज स्वभाव के आश्रय से ही जिनके सभी विकल्प व्यतीत हो गये हैं उन्हें जगत् का सारा विलास सपने जैसा लगने लगता है। जिन्होंनें जो जानने योग्य है उसे जाना और जो देखने योग्य है उसे देखा, इस प्रकार सब कुछ उनके ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग में दिखा अर्थात् ज्ञान की सारी चंचलता-चपलता खिप गयी, मिट गयी। अंतराय कर्म का अंत कर देने से जिनको अनंत बल प्रगट हुआ और मोह का मर्दन (नाश) होने से अनंत सुख भी जिनमें स्थिर-स्थायी हो गया है ऐसे वे अनंतनाथ तीर्थङ्कर जगत् में जयवंत रहें

१ 'निर्मलनाथ' दोनों प्रतियों में। २. ख प्रति नहीं।

क्योंकि उन्होंनें सदा से अर्थात् अनादि काल से गमाये हुये अपने स्वरूप को अब सदा के लिये अर्थात् अनंतकाल के लिये प्राप्त कर लिया है।

धर्मनाथजू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

गुन कौ न अंत जाके गन फन पति थाके
रसना सहस करि पारु नहीं पायौ है।
घातिया करम चारि आठ दस दोष टारि
सकति सम्हार भव भ्रमनु नसायो है।।
परम अतिंद्रीग्यान प्रगटौ सहज आन
अति सुख दान परधान पद पायौ है।
ऐसे धर्मनाथ लियै मुकति वधू सो साथ
जाकौ देवीदास हाथ जोरि सीसु नायो है।।१५।।

अर्थ :– जिनके गुणों का अन्त नहीं है तथा गणपति, नागपति जैसे देव भी हजारों जिह्वाओं से जिनके गुणों का बखान करने में पार नहीं पाते हैं। जिन्होंनें चारों घातिया कर्म और अठारह दोषों को अपने से दूर कर और निज शक्ति को संभालकर अपना भवभ्रमण नष्ट कर दिया है। परम अतीन्द्रिय केवलज्ञान जिनके सहज भाव से प्रगट हो गया है। अतीन्द्रिय सुख भोग के साथ दिव्य देशना का दान करके जिन्होंनें प्रधान पद प्राप्त कर लिया है तथा जो मुक्ति वधू को साथ लिये हुये हैं ऐसे धर्मनाथ तीर्थङ्कर को देवीदास ने हाथ जोड़ कर अपना सीस झुकाया है।

सांतिनाथजू की स्तुति

(सवैया तेइसा)

सुद्धपयोग अतिंद्रिय भोग
लह्यौ तिन्हि कर्म कलंक निवारे।
एक समै महि जे सरवग्य
सही सब लोक विलोकन हारे।।
पूजत जे भवि या जग मैं
तिन्हि पुन्य उदै पद उत्तिम धारे।

ते भगवंत अनादि अनंत
बसौ उर सांति जिनेस हमारे ॥१६॥

अर्थ :– जिन्होंनें शुद्धोपयोग से अतीन्द्रिय भोग प्राप्त कर अर्थात् शुक्लध्यान में मग्न होकर उन सभी कर्म कलंकों का निवारण कर दिया है जिनके रहते हुये केवलज्ञान नहीं हो रहा था। फलस्वरूप जो एक समय में ही सारे लोकालोक को जानने वाले सर्वज्ञ हो गये हैं तथा इस जगत् में पुण्य उदय आने पर भव्य जीव जिनके चरण पूजते हुये उत्तम पद धारण कर पाते हैं वे अनादि अनंत भगवंत शांतिनाथ जिनेश हमारे उर बसौ अर्थात् हृदय में बस जाओ।

कुंथनाथजू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

जाके गुन ध्यावे तें सु पावैं परमारथ कौं
जाकौ जसु गावै कोटि तीरथ के किये मैं।
जाके वैन सुनै नैन खुलै उर अंतर के
जाकौ नाम लेत फल महादान दिये मैं ॥
जाकी करैं वंदना के पाप की निकंदना है
देखैं रूप सुख ज्यौं अतिंद्री रस पिये मैं।
तेई कुंथनाथ जू सु साथ मोखमारग के
देवीदास कहै जे सु वसौ मेरे हिये में ॥१७॥

अर्थ :– जिनके गुणों का ध्यान करने से भव्यजन परमारथ को अच्छी तरह से पा लेते हैं। जिनका यश गाने पर मैं करोड़ों तीरथ किये जैसा हूँ। जिनकी वाणी सुनने पर अंतर मन के नेत्र खुल जाते हैं और जिनका नाम लेते ही मैं महादान देने के फल पाने वाला हो जाता हूँ। जिनकी वंदना करने के फलस्वरूप पाप की निकंदना अर्थात् विनाश होता है और वीतरागी रूप को देखने पर ऐसा सुख मिलता है जैसे मैं अतींद्रिय रस को ही पिये हूँ। ऐसे वे कुथनाथ जू मेरे मोक्षमार्ग के सच्चे साथी हैं। यहाँ कवि देवीदास जी कहते हैं कि ऐसे वे कुंथनाथ मेरे हृदय में बसौ।

अरहनाथजू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

मोहरिपु बांधि तिन्हि सुभट कषाय साधे
साधे[1] मनु मदन विलात भयो डरि कैं।
आपनैं सु सहज सुभाव सुद्ध नौका बैठि
पार भये त्रस्ना अपार नदी तरि कैं॥
लियो पद साहजीक परम अदोष होइ
जन्मजरा मरनादि सखा छांडि करि कैं।
वंदना सु कीजे ऐसे अरह जिनेस्वर की
होइ कै त्रिसुद्ध हाथ जोरि सीसु धरिकैं॥१८॥

अर्थ :– जिन्होंनें मोह रूपी शत्रु को बांधकर कषाय सुभटों को साध लिया है अर्थात् वश में कर लिया है। मन को वश में कर लेने से जिनका काम विकार डरकर विलुप्त हो गया है। हे प्रभो ! आप अपने सहज शुद्ध स्वभाव की नौका पर बैठकर या तैरकर अपार तृष्णा की नदी से पार हो गये हैं। आपने जन्म, जरा, मरण आदि सभी संगी साथी छोड़कर एवं निर्दोष होकर सहजता से उपलब्ध परम पद को प्राप्त कर लिया है। ऐसे अरहनाथ जिनेश्वर की वंदना मन वचन काय से शुद्ध होकर, हाथ जोड़कर तथा उन्हें शीश पर धरकर करना चाहिये।

मल्लिनाथजू[2] की स्तुति

(सवैया तेईसा)

मारि महाबलवंत हन्यौ सु
जन्यौ सुख राग विरोध वितीतौ।
इंद्रिनि कौ विसर्‌यौ विउपार
हतौ अति हौं दु:ख कारन लीतौ॥
स्वारथ सुद्ध जग्यौ परमारथ
कारन खेद सबै जग जीतौ।
मल्य जिनेस असल्य[3] भए
तिन्हि आपुन हुं अपनौ पद चीतौ॥१९॥

---

१ 'धाये' क प्रति में। २. 'मल्यनाथजू' क प्रति में। ३. 'अल्य' ख प्रति में।

अर्थ :– जिन्होंनें महाबलवंत मार अर्थात् कामदेव को नष्ट कर दिया है और समस्त राग विरोध को व्यतीत करके सच्चे सुख को उत्पन्न कर लिया है। तथा अत्यधिक दुःख के कारणों को लिये हुयें जो इन्द्रियों का व्यापार है वह जिनका छूट गया है और परमारथ के कारणभूत शुद्ध स्वरूप को जानने का स्वार्थ जिनमें जग गया है जिससे सारे खेदों पर विजय पाकर मानों उन्होंनें सारा जग जीत लिया है। इस प्रकार हे मल्लिनाथ जिनेश आप अशल्य हुये हैं तिस कारण आपने अपने से ही अपना स्वपद चीन्ह लिया है या चुन लिया है।

मुनिसुव्रतनाथजू की स्तुति

(सवैया तेईसा)

डारि[1] परिग्रह धारि महाव्रत
टारि मिथ्यात मिटै दुःख मूजौ।
सेस नरेस सुरेस सवै जब
आनि यहाँ[2] तिन्हि कौ पद पूजौ॥
जा सम और नहीं जग मैं
सुख कारन देव निरंजन दूजौ।
प्रान अधार सुधी[3] तिन्हे के
जयवंत सदा मुनिसुव्रत[4] हूजौ॥२०॥

अर्थ :– मिथ्यात्व को टालकर, सर्व परिग्रह छोड़कर और महाव्रतों को धारण करके ही दुष्ट दुःख मिटते हैं। जब शेष सभी नरेश और सुरेश यहाँ अर्थात् समोसरण में आकर उनके अर्थात् मुनिसुव्रतनाथजी के चरण पूजते हैं तो सामान्य जन तो पूजते ही हैं तथा जिनके समान जगत् में सुख के कारण स्वरूप निरंजन-निर्दोष कोई दूसरा देव मौजूद भी नहीं है। इसलिये उन सब के प्राण आधार स्वरूप सुधी केवलज्ञानी मुनिसुव्रत नाथ भगवान् सदैव जयवंत होवें।

---

१ 'जार' ख प्रति में। २ 'महाँ' क, ख दोनों प्रति में। ३ 'सुधो' क प्रति में। ४. 'सोव्रत' क प्रति में।

नमिनाथजू की स्तुति

(सवैया तेईसा)

ध्यान कृपान सौं क्रोधनिदान
हन्यौ तिन्ही मानबली छल लोभा।
राज विभूति अनित्य लखी
सब नीर भरै न रहै जिमि खोभा॥
जे निरवारि विसुद्ध भए तन
चेतनि कर्म पुरा तम गोभा[1]।
श्री[2] नमिनाथ सदासिउ के गुन
की वरनौं सु कहा करि सोभा॥२१॥

अर्थ :—ध्यान कृपाण से जिन्होंने क्रोध के कारणों का इलाज कर दिया है तथा उसी ध्यान से बलवान् मान को, छली माया को एवं लोभ कषाय को भी नष्ट कर दिया है। जैसे खोवा (अंजलि) में जल भरने पर वह उसमें नहीं ठहरता अर्थात् अनित्य है वैसे ही नमिनाथ भगवान् ने सारी राज विभूति को अनित्य-अस्थिर जान लिया था। जो तन चेतन को भिन्न जानते हुये पुरा काल के बंधे कर्मोदय स्वरूप होने वाले अज्ञान-अंधकार की लहरों का निवारण करके विशुद्ध भावों से सम्पन्न चेतन परमात्मा हो गये थे उन सदाशिव स्वरूप तीर्थङ्कर भगवान् श्री नमिनाथ के गुणों की शोभा का वर्णन मैं कहाँ तक करूँ?

नेमीनाथजू की स्तुति

(सवैया तेईसा)

राजमती सी त्रिया तजि कैं पुनि
मोख-वधू सु त्रिया कौं सिधारे।
राज विभौ तजि कै सब ही सब
जीवनि दान दये हितकारे॥
आतम ध्यान धर्यौ गिरिनारि पै
कर्म कलंक सबै तिन्हि जारे।

---

१. 'भोगा' ख प्रति में। २. क प्रति में नहीं।

जादौं को वंस करो[1] सब निर्मल

जे जगनाथ अगत्र थैं भारे ॥२२॥

अर्थ :– पहिले राजमती सी नारी को छोड़ दिया फिर मोक्षवधू रूपी सु-नारी को पाने के लिए जो असिधारा व्रत अर्थात् मुनिव्रत को अङ्गीकार करने हेतु तैयार हुये। जिन्होंने सारा ही राज्यवैभव छोड़कर सभी जीवों के लिये हितकारी जीवन दान दिया और गिरनार पर्वत पर आत्म ध्यान धारण करके उस शुक्ल ध्यान से सारे ही कर्म कलंकों को जला दिया था अर्थात् नष्ट कर दिया था। इसप्रकार जिन्होंनें यादवों के वंश को निर्मल ख्याति से पूर्ण कर दिया, वे जगनाथ अर्थात् सभी के स्वामी नेमीनाथ प्रभु तीनों लोकों से भारी अर्थात् महत्त्वपूर्ण हैं, गुरुपने से पूज्य हैं।

पार्श्वनाथजू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

नाम की बड़ाई जाके पाहन सु पाई[2] काहु

ताहि असपर्शै होहि[3] कंचन सु लोह कौ।

अचिरजु कहा है तिन्हि कौ[4] निज ध्यान धरै

होत है विनास राग दोष अरू मोह कौ॥

तिन ही बतायौ मोख मारग प्रगट रूप

पारिवे कौं कर्म तन चेतन विछोह कौ।

देख्यौ प्रभु पारसु को परम स्वरूप जानै

भयौ सो करैया सुद्ध आतमा की टोह कौ॥२३॥

अर्थ :– नाम की बड़ाई क्या करें ? अरे जिनके नाम वाले पत्थर को अर्थात् पारस पत्थर को कोई पाकर के उसका स्पर्श लोहे को कराये तो वह कंचन हो जाता है। इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कि उनको या उनके नाम का ध्यान अगर कोई अपने में करे तो उसके मोह, राग और द्वेष का विनाश हो जाता है। उन्होंनें ही हमें संसार सागर से पार होंनें के लिये कर्म-नोकर्म और

१ 'करे' क प्रति में। २ 'पाय' ख प्रति में। ३ 'होय' ख प्रति में। ४ 'कौ सु' ख प्रति में।

चेतन आत्मा के विछोह स्वरूप प्रगट मोक्षमार्ग बताया है। इस प्रकार पारस प्रभु को देखकर अपने या उनके परम स्वरूप को जो जानता है वह ही शुद्ध आत्मा की टोह-खोज करने का कर्त्ता हो जाता है।

वर्द्धमानजू की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

सकल सुरेश सीस नावत असुर ईस
जाके गुन ध्यावत नरेस सर्व देस के।
धोई मैल कर्म चारि घातिया पवित्र भये
थिर हो अकंप विषै आतमा प्रदेस के।।
तारन समर्थ भव सागर त्रिलोकनाथ
कर्त्ता अनूप सुद्धधर्म उपदेस के।
ऐसे वर्द्धमान जू को वंदना त्रिकाल करौं
दाता हमकौं सु होहु सुमित सुदेस के।।२४।।*

अर्थ :– सभी देवेन्द्र और असुरों के स्वामी भी जिनके चरणों में शीश नवाते हैं तथा जिनके गुणों का ध्यान सभी देशों के राजा गण करते हैं। जो चारों घातिया कर्म रूपी मैल को धोकर पवित्र हुये हैं तथा अकंप विषैं जिनके आत्म प्रदेश स्थिर हो गये हैं। हे त्रिलोकीनाथ ! भवसागर से पार उतारने में समर्थ आपका जो सुद्ध धर्ममय उपदेश है; आप उसके अनुपम कर्त्ता हैं। कवि कहता है कि ऐसे वर्द्धमान जू स्वामी की हम त्रिकाल वंदना करते हैं और भावना भाते हैं कि वे हमारे लिये सुमति एवं सदुपदेश के दाता होवें।

आगे भूत-भविष्यतकाल[1] के तीर्थंकरनि कौं नमस्कार करैं हैं[2]

(सवैया इकतीसा)

भूतभावी काल जे जिनेस नर लोक विषैं
कल्यानक भये तिन्हैं पंच परकार के।

---

* "एससुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।"

१. 'भावी' क प्रति में। २. क प्रति में नहीं।

तिन्हि की त्रिकाल करौं वंदना त्रिसुद्ध होकैं
नौका भवसागर उतारिवेकौं पार के॥
भिन्न-भिन्न नाम लैकैं चरनारविंद वंदे
वर्तमान प्रगट जिनेस वीस चार के।
मेरे मन मांहि कछू और अभिलाषा नांहि
भाषा करिवे के हेत प्रवचनसार के॥२५॥*

अर्थ :– जो तीर्थङ्कर भूतकाल में हुये हैं और भविष्य काल में होवेंगे उन सभी के पाँचों प्रकार के कल्याणक इस नर लोक में हुये हैं और आगे होवेंगे। मैं मन वचन काय से शुद्ध होकर उन सबकी त्रिकाल वंदना अपनी जीवन नौका को भवसागर से पार उतारने के लिये करता हूँ। वर्तमान में जो चौबीस तीर्थङ्कर जिनेश्वर हुये हैं। उनके भिन्न-भिन्न नाम प्रगट में लेकर उनके चरण कमलों की वंदना मैंने यथाशक्ति की है। इस प्रवचनसार की भाषा मय कवित्त रचना करने के पीछे मेरे मन में और कुछ भी नहीं है अर्थात् लौकिक प्रयोजन पुष्ट करने वाली कोई भी अभिलाषा नहीं है।

'अब आगे'[1] शास्त्रोक्त बीस तीर्थंकर कौं नमस्कार करैं हैं[2]।

(सवैया इकतीसा)

अरहंत वंदौ जेते एक ही सु वार तेते
अबै वर्तमान हैं अढ़ाई दीप जास[3] में।
जुदे जुदे भाषि करौं वंदना हिये में राखि
तीर्थंकर बीस जे विदेह-क्षेत्र खास[4] में॥
यहाँ हाल काल पंचमौ जहाँ जिनेस नांहि
तार्थें ग्रंथ उक्ति धरी मन को हुलास में।
तिन्हि की भगति के प्रभाव सौं उछाह वध्यौ
भाषा करिवे की कहा बुद्धि देवीदास में॥२६॥**

---

* "सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदसणचरित्ततववीरियायारे॥"

** "ते ते सव्वे समग समग पत्तेगमेव पत्तेगं।
वदामि य वट्टते अरहते माणुसे खेत्ते॥" (प्र.सा. गाथा-३)

१ क प्रति मे नहीं। २ 'करौं हौं' क प्रति मे। ३. 'तास' ख प्रति में। ४. 'जासु' ख प्रति में।

अर्थ :– अभी अढ़ाई द्वीप में जितने भी अरहंत वर्तमान हैं उन सभी की मैं एक ही बार में वंदना करता हूँ। किन्तु अढ़ाई द्वीप में विशिष्ट विदेह क्षेत्र में जो बीस तीर्थंकर हैं, उनको हृदय में स्थापित करके तथा जुदे-जुदे नाम कहकर मैं वंदना करता हूँ। अभी यहाँ भरतक्षेत्र में पंचम काल है जिसमें जिनेश नहीं हैं इसलिये ग्रंथ के कथन को धारण करके और मन को भक्ति के उल्लास या आह्लाद में मग्न करके ही मैं विदेह क्षेत्र के विद्यमान बीस तीर्थङ्कर की वंदना कर रहा हूँ। उन्हीं की भक्ति के प्रभाव से भाषा करने में मेरा उत्साह वृद्धिंगत हुआ है अन्यथा भाषा कवित्त करने की बुद्धि मुझ देवीदास में कहाँ है।

आगे सिद्धनि की स्तुति करौं हौं।

(सवैया तेईसा)

सुद्ध अनादि अबंध अमूरति
निर्मल सर्व पदारथ गेवा।
आप स्वरूप असेष अभेष
अलेख अदेख अकर्म अजेवा ॥
सार अथंग अभंग अनाकुल
ग्यान अनंत सुखी[1] स्वयमेवा।
आनंदकंद सुछंद अनूप
नमौं सिव सिद्ध निरंजन देवा ॥२७॥

अर्थ :– जो शुद्ध, अनादि सत्ता स्वरूप, बंधरहित, अमूर्तीक, निर्मल–निर्विकार और सर्व पदार्थों के ज्ञाता हैं। अपने स्वरूप से परिपूर्ण, अदृश्य और निराकार हैं। अब जिनका कोई भेष-चिह्न-लिङ्ग नहीं है। अशरीरी और कर्महीन-अकर्मा हैं। अथंग-मंगलमय एवं अभंग-भङ्गहीन, अभेद-अटूट स्वभाव रूप सार के ज्ञाता होने से स्वयमेव अनाकुल हैं, अनंतज्ञान एवं अनंत सुख के स्वामी हैं। पूर्ण स्वाधीन, अनुपम और आनंद के कंद हैं तथा जो राग-द्वेषादि से रहित वीतरागी निरंजन देव हैं – ऐसे शिवस्वरूपी सिद्ध भगवन्त को मैं यहाँ प्रणाम-नमन करता हूँ।

---

१. ख प्रति में नहीं है।

आगे आचार्य की स्तुति करौं हौं।

(छप्पय)

सहित दरसनाचार[1] ग्यान आचार अनोपम।
तपाचार आचारज[2] चरन आचरत[3] दिष्टि सम॥
परम वीरजाचार भार संजुक्त सुपंडित।
उभय संग वर्जित अभंग परभाव विहंडित॥
आरज सुभाव धरि करत निज, कारज आचारज सु वर।
वंदौ त्रिकाल तिन्हि के चरन, हाथ जोरि जुग सीस धरि॥२८॥

अर्थ :– जो अनुपम ज्ञानाचार और दर्शनाचार से सहित हैं। तपश्चरण के आचार से जनित चरित्र का पालन करते हुये सम दृष्टि-समतावान् हैं। वीर्याचार रूप तप की आराधना करके परमगुरुत्व से संयुक्त सम्यक् भेदविज्ञानी अर्थात् हित-अहित, सत्यासत्य आदि के भेद को समझने वाले सुपंडित हैं। अन्तोबाह्य द्विविध परिग्रह से रहित हैं, अभंग अर्थात् छल प्रपञ्च या भेदभाव से शून्य हैं, परभावों के विनाशकर्त्ता हैं। तथा आर्य या आर्ष स्वभाव को धारण कर निज काज को करने वाले आचार्य प्रवर हैं। ऐसे उन सभी आचार्यों के चरणों की त्रिकाल वंदना मैं अपने दोनों हाथ जोड़कर और शीश पर रखकर करता हूँ।

आगे उपाध्याय की स्तुति

(सवैया इकतीसा)

जाके घट सम्यक् सरूप द्रग ग्यान रूप
सम्यक् चरन ये प्रकासे गुन तीन हैं।
चौदह सु पूरब तथापि ग्यारा अंग के सु
पाठी[4] धीर कर्म उपदेसक प्रवीन हैं॥
राग दोस मोह नांही तिन्हि की सुदिष्टि मांहि
विषय विकार व्याधि करिकैं सु हीन हैं।
अैसे[5] उवझाय की सु मस्तक नवाइ कीजै
वंदना सु आपके विषैं सु आपु लीन हैं॥२९॥

---

१ ''सुदरसनचार'' ख प्रति में है। २. 'आचरत' ख प्रति में। ३ 'आचरति' ख प्रति में। ४. 'सुपाठी धर्मधीर' ख प्रति में। ५. 'अैसी' क प्रति में।

अर्थ :– जिनके अन्तर्मन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों गुन प्रकाशित हैं तथा ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के सुपाठी होकर जो धीर-गंभीर हैं; प्रवीण धर्मोपदेशक हैं। उनकी सुदृष्टि में मोह राग-द्वेष नहीं हैं। वे विषय सेवन रूप विकार व्याधि से भी हीन हैं तथा अपनी आत्मा के विषय में स्वयं ही तल्लीन हैं – ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी की मस्तक नवाकर सुवंदना करना चाहिये।

आगे साधु की स्तुति

(छप्पय)

पंच महाव्रत धारि पंच इंद्री पुनि दंडै।
पंच समिति पालै क्रिया छ आवासक मंडै॥
छांडै विधि अस्नान दंत धोवन कच लुंचै।
ठाढै लघु भोजन सु वार इक अंबर[1] मुंचै॥
प्रासग सुभूमि सय्या[2] परम सहित मूलगुन बीस वसु।
वंदौं सु साधु समरथ सु को कहै भाषि[3] तिन्हि को सुजसु॥३०॥

अर्थ :– जो अट्ठाईस मूलगुणों से सहित हैं अर्थात् पंचमहाव्रत धारण करते हैं, पंचेन्द्रिय विषयों के सेवन का निग्रह करते हैं, पंच समितियों को पालते हैं, छह आवश्यक क्रियाओं से अपने को संवारते हैं, स्नान विधि और दंत धोवन विधि को छोड़ते हैं, केश लुंचन करते हैं, खड़े-खड़े एक बार लघु भोजन (आहार) ग्रहण करते हैं, वस्त्र छोड़ कर नग्न रहते हैं तथा प्रासुक भूमि की शय्या पर सोते हैं – ऐसे स्वयं में समर्थ साधु जनों की वंदना मैं यहाँ उनके सु यश को कहकर कर रहा हूँ। उनके यश को कहने में कौन समर्थ है ? मैं भी नहीं हूँ।

आगे इहि ग्रंथ की महातम दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

सुनै जाकी महिमा प्रकासवंत होत हियो
फूलै जैसें कमल उदोत भऔ रवि के।

---

१. 'अंमर' क प्रति में। २. 'सज्या' क प्रति में। ३. 'कहि भाषै' ख प्रति में।

जाकी पक्षपात करैं अनैं पक्षपात छूटै
उपदेस दीवे कौं समर्थ यहै भविके।।
जाकौ रस चाखे जाने मिथ्या मत भाव नाखे
भये जे विलोकी सुद्ध आत्मा की छवि के।
ऐसो यो गरंथ मोख के सु चलिवे कौ पंथ
वसै निसि वासर हियै में भाषा कवि के।।३१।।

अर्थ :– जिसकी महिमा सुनने से हृदय वैसे ही प्रकाशमान हो जाता है जैसे सूरज के उदित होने पर कमल विकसित हो जाते हैं। जो भव्यजनों के उपदेश देने में समर्थ हैं, जिसका बौद्धिक पक्षपात होने पर अन्य सभी पक्षपात छूट जाते हैं। जिसका रसास्वादन करके अर्थात् उसे अच्छी तरह जानकर मिथ्या मत और मिथ्या भाव दूर कर दिये जाते हैं, ऐसा यह प्रवचनसार ग्रंथ ही है। जो मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करने वालों के लिये समीचीन पंथ स्वरूप है। कवि तो कहता है कि जो भी शुद्ध आत्मा की छवि के विलोकी अर्थात् आत्मानुभवी हुये हैं, वे सब इस ग्रंथ की महिमा से ही हुए हैं। ऐसा यह मोक्ष के पंथ स्वरूप ग्रंथ भाषा में कवित्त करने वाले मुझ कवि के हृदय में दिन-रात बसता है।

आगे कहैं हैं कै तिनि[1] पुरुषनि इहि ग्रंथ की अवधारणा कीन्ही है तिन्हि कौं कहा प्राप्त हो है।

(सवैया इकतीसा)

मिथ्यामत को सु राह छोड़ि करकैं सु प्रानी
पारखी सु होत भये 'सांचे देव'[2] गुरु के।
उपादेय हेय गेय ग्यान तिनही को सूझ्यौ
तेई सूधे होकैं मोखमारग को मुरके।।
भेदग्यान को प्रकाश भयौ तिन ही के हृदै
हुवे कों समर्थ होत तेई मुनीसुर के।

---

१. 'जिनि' होना चाहिये। २. 'सांसे देउ' क प्रति में।

प्रवचनसार यो गरंथ तिहि कौ रहस्य
धरयौ तिन्हि सुनि कैं किये सु आप उर के ॥३२॥

अर्थ :– यह जो प्रवचनसार ग्रंथ है। उसके रहस्य को सुनकर और अच्छी तरह समझकर जो स्वयं ही उसे अपने मन में धारण करते हैं। वे भव्य प्राणी मिथ्या मत की राह को अच्छी तरह से छोड़कर सच्चे देव गुरु के पारखी अर्थात् उनके स्वरूप को समझने वाले हो जाते हैं। उन्हें ही हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञान सूझने लगता है अर्थात् क्या छोड़ने योग्य है, किसे मात्र जानना है और किसे ग्रहण करना है, इसका सही ज्ञान हो जाता है। कवि कहता है कि वे ही सीधे होकर मोक्षमार्ग की ओर मुड़कर चलने लगते हैं। उन्हीं के हृदय में भेदज्ञान का प्रकाश होता है और वे ही मुनीश्वर होने में समर्थ हो जाते हैं।

आगे कवि अपनी लघुता बतावै है।

(सवैया इकतीसा)

जैसें काहु रंक के सु हाथ एक कानी कौड़ी
चलै करिवे कौं महामनि की विसाहना।
जैसें कोई महागजराज कौ सु भार मूढ़
रासभा पै लादि करयौ चाहै लै निवाहना॥
जैसें आप पार हौ न कहत अजान कोउ
जलरासि के[1] विचार सौं सु बैठि पाहना।
तैसें[2] मंदमती मैं सु प्रवचनसार जाकी
भाषा करिवे के हेत करी अवगाहना॥३३॥

अर्थ :– जिस प्रकार किसी रंक के हाथ एक कानी कौड़ी आ जाती है और वह उससे महामणि अर्थात् विशिष्ट रत्न को खरीदने की चाह लेकर बाजार में चला जाता है। अथवा जैसे कोई मूर्ख विशाल हाथी के ऊपर लादा जाने योग्य भार गधे पर लादना चाहकर यह सोचता है कि इतने भार के ढोने

१. 'वे' क, ख दोनों प्रति में। २. 'जैसे' क, ख दोनों प्रति में।

का निर्वाह गधा कर लेगा। अथवा नदी किनारे पत्थर पर बैठकर तैरने की कला से अजान कोई जलराशि के विचार करने मात्र से स्वयं पार नहीं होता है किन्तु पार करने की बात कहता है वैसे मैं मंदमती भी परमागम स्वरूप अथाह सिद्धान्त सागर का पार अपनी बुद्धि से पाने के लिये प्रवचनसार की भाषा करने के हेतु तैयार हुआ हूँ, मैंने उसमें अवगाहना करी है अर्थात् उसे समझने में अपनी बुद्धि लगा दी है। मेरा यह प्रयास तो उपर्युक्त के समान मंदमती का ही फल है फिर भी अभ्यास करने से क्या नहीं हो सकता मंदमती भी सु जान हो जाता है यह सोचकर ही प्रवचनसार को भाषा कवित्त में लिखने हेतु बुद्धि लगा रहा हूँ।

आगे फिर कवि अपनौ पुरुषारथ दिष्टांत करि दिखावै है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे कोई वैद भयो नारी को न भेद पायो
रोग दूरि कीवे कौ बियानौं बांधि लीनौ है।
जैसे काहु जन पास बिच्छू कौ सु मंत्र नांहि
सांप के बिले में जाइकैं सु हाथ दीनौ है।।
जैसें बिना खेउटा की नाउ के विषैं सु बैठि
पार भयो चाहै कोऊ महा मतिहीनौ है।
तैसें[1] मैं अजान ओछी बुद्धि सौं सु भाषाबद्ध
प्रवचनसार जाकौ आरंभ सु[2] कीनौ है।।३४।।

अर्थ :– जैसे कोई वैद्य तो हो गया है पर नाड़ी के रहस्य को नहीं समझता है अर्थात् नाड़ी की तीव्र मंद गति स्वरूप चाल के अन्तर को तथा वात, पित्त, कफ, विकार जन्य प्रभाव से नाड़ी की चाल के भेद को नहीं समझ पाता है। स्पष्ट है, उसे रोग का निदान नहीं हुआ है तथापि वह रोग दूर करने के लिये रोगी से बयाना (अनुबंध स्वरूप अग्रिम धन, शुल्क वगैरह) लेकर उसे अपनी अंटी में बांध लेता है तो मतिहीन ही है। अथवा जैसे कोई व्यक्ति जिसके पास

---

१. "जैसे" क, ख दोनों प्रति में है। २. "सु" क, ख दोनों प्रति में नहीं।

बिच्छू के विष को उतारने वाला भी मंत्र सिद्ध नहीं है और वह सांपों के स्थल पर जाकर बिल में हाथ डाल देता है यह सोचकर कि मेरे मंत्र के प्रभाव से सांप का विष मुझ पर असर नहीं करेगा तो वह मतिहीन अज्ञानी ही है। अथवा जैसे कोई विना नाविक की नाव पर बैठकर नदी आदि से पार होना चाहता है तो वह अत्यधिक मतिहीन ही है। वैसे ही सिद्धान्त विशेष से अजान थोड़ी बुद्धि वाला होकर भी मैंने इस प्रवचनसार को सरल भाषा में बांधकर कवित्त (छन्द) लिखने का आरंभ किया है।

आगे ग्रंथ व्यवस्था कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

जैसें काहु दूधु दोहि प्रथम ही ठीकु कीनौ
काहू ने जमाइ जाकौ कर्यो पुनि दही है।
काहू नै विलोइ काढ़ माखन प्रगट कर्यो
कोई घीउ के सु करिवे कौं भयौ सही है॥
तैसैं यो गरंथ मूल पाराक्रत तैं सु भयौ
संसकृत जापै बालबोध टीका कही है।
अरहंत देव को सुभक्ति बल सक्ति विना
भाषा कहिवे कौं मेरी बुधि सो उमही है॥३५॥

अर्थ :—जैसे किसी ने दूध को दुहकर उसे प्रथम ठीक रूप से दूध ही रखने का काम किया। किसी अन्य ने उसे जमाकर के दही बनाने का कार्य किया। किसी ने उस दही को बिलोकर मक्खन प्रगट कर लिया और किसी ने उस मक्खन में से घी प्राप्त करने के लिये सही उपाय किया अर्थात् उसे आग पर तपाकर घी बना लिया। वैसे ही यह ग्रंथ मूल में प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुआ अर्थात् प्राकृत में लिखा गया जिस पर संस्कृत टीका हुई और उस पर भी बालबोध टीका हिन्दी में कही गई है। अरहंत देव की भक्ति का जो बल मुझ में है उस बल से शक्ति के विना ही उसे भाषा अर्थात् देशभाषा में कहने-लिखने को मेरी बुद्धि उत्साहित हुई है।

पुन: ग्रंथ व्यवस्था

(सवैया इकतीसा)

जैसें काहु चतुर समुद्र के उतारिवे के
हेत एक काठ कौ परूहन बनायौ है।
जापै बैठि भये जे पुरिष तरिवे कौ तिन्हि
तरिकें अथंग जल राशि पारु पायौ है।।
प्रवचन सार जैसें अगम सुगम कीनौ
टीका करि सुनै बाल बोध तिन्है आयो है।
भाषा करिवे कौं सो हमारी मति सूधीं[१] भई
जैसो कछू समझ्यो सु अरथ बतायो है।।३६।।

अर्थ :– जैसें किन्हीं चतुर व्यक्तियों ने समुद्र से पार उतरने के प्रयोजन से काठ (लकड़ी) का एक परोहन अर्थात् सवारी के लिये यान विशेष (जहाज या नाव) बनाया है। जिस पर बैठ कर वे पुरुष अथंग-अपार समुद्र को तैरने के लिये तैयार हुये हैं और उस काठ की नौका से समुद्र की अथंग-अथाह जलराशि को तैरकर उन्होंनें पार अर्थात् किनारा पा लिया है। वैसे ही जैसे पहिले प्रवचनसार अगम था। समझने में कठिन अथवा नहीं समझ में आये, ऐसा दुर्गम था उसे टीका करके टीकाकार आचार्यों ने सुगम कर दिया तो उसे समझने की चाह रखने वाले लोगों को बालबोध हुआ अर्थात् थोड़ा ही सही बोध तो आया ही है। सचमुच ऐसे ही इस कठिन-दुर्गम ग्रंथ की भाषा करने में अर्थात् देशभाषा में कवित्त रचने को हमारी यह बुद्धि सूधी अर्थात् सही दिशा में कार्य करने को सिद्ध हुई है। हमने जैसा समझा है वैसा ही यहाँ बताया है।

(दोहरा)

प्रवचनजलधि अपार अति परमारथ पथ हेत।
मति भाजन तिन्हि कैं तिसौ जो जैसो भरि लेत।।३७।।

अर्थ :– प्रवचन रूपी सागर तो अपार है तथा अति आवश्यक परमार्थ के पथ का कारण है। अर्थात् इसके बिना किसी को भी वास्तविक मुक्ति का मार्ग

१. 'सूधो' क प्रति में।

नहीं मिल सकता है। कवि कह रहा है कि यहाँ तो बुद्धि रूपी पात्र तो उसका उतना है, जो जितना उपदेश अपनी बुद्धि में भर लेता है।

आगे अब सब अधिकार का ठीक (ठिकाना) बतावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

महा ग्यान कौ सु अधिकार सो है प्रथम ही
अधिकार दूसरौ अतिंद्री सुख भोग कौ।
ग्यान तत्त्व दरव सामान्य गेय अधिकार
आचरन[1] कौ सु द्वार जती की धरोग कौ॥
मोख पंथ धारी[2] सुद्धउपयोगी[3] कौ अधिकार
और अधिकार भारी सुभ उपयोग कौ।
देवीदास कहै मैं सु थोरी बुद्धि सौ बखानौं
ग्रंथ यो खजानौ जानौ चरनानजोग कौ॥३८॥

अर्थ :– इस ग्रंथ का प्रथम ही जो अधिकार है वह महा ज्ञानाधिकार है दूसरा अतिन्द्रिय सुख भोग का अधिकार है। फिर ज्ञान तत्त्व का कथन है। द्रव्य सामान्य का वर्णन करने वाला ज्ञेयाधिकार है। आचरण के द्वार स्वरूप यती की धरोहर ही मानों चरणानुयोग चूलिका है। मोक्ष पंथ को धारण करने वाले शुद्धोपयोगी का अधिकार और शुभ उपयोग का प्ररूपक भी बड़ा अधिकार है। देवीदास जी कहते हैं कि मैं तो अपनी थोड़ी (अल्प) बुद्धि से ही इसका बखान करूँगा। परन्तु इस ग्रंथ को तुम चरणानुयोग का खजाना ही जान लो।

(दोहरा)

पंच रतन सिद्धांत कौ मुकुट अंत जे और।
तिन्ह समेत अधिकार दस सुनौ भव्य सुख ठौर॥३९॥

अर्थ :– अंत में जो और भी पांच रत्न स्वरूप सिद्धान्त हैं। यह ग्रंथ उनका मुकुट है उन सहित हे भव्य ! तुम सुख के स्थान रूप दस अधिकारों को सुनो।

---

१. 'आचर्न' क प्रति में तथा 'आर्चन' ख प्रति में। २. 'धारो' क प्रति में। ३. 'सुद्धोपयोगी' क प्रति में।

आगे ग्रंथ आरंभ विर्षं प्रथम ही चरित्र की मुख्यता कहैं हैं।

(दोहरा)

वीतराग चारित्र है सरस परम पद पंथ।
भाषा सुनि समुझे सु भवि प्रवचनसार गरंथ ।।४०।।

अर्थ :– वीतराग चारित्र परम पद की प्राप्ति के लिये सरस अर्थात् आनन्द पूर्ण पंथ है। कवि का मन्तव्य है कि भविक जन इस प्रवचनसार ग्रंथ को भाषा में सुनकर उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं।

आगे इस कवित्त में वीतराग चारित्र कौ स्वरूप कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

वीतराग परम चारित्र कौ सु अंगीकार
करैं जे सराग भाव त्यागि चेतु लाइकैं।
अरहंत सिद्ध और आचारज उवज्झाय
साधु गुरु पंच तिन्हैं नमैं सीस नाइकैं ।।
जिन्हि कौ[1] प्रधान ग्यान दर्शन[2] विसुद्ध महा
धर्म अस्थान अवलंबै ते सु पाइकैं।
सकल कषाय अंश रहित सु होहि हंस
पावैं ते प्रतक्ष निरवान पंथ धाइकैं ।।४१।।*

अर्थ :– जो भव्य जन सरागभाव को छोड़कर अपने स्वभाव की प्राप्ति के लिये चेत कर अर्थात् शुद्ध स्वभाव की चेतना लाकर वीतरागभाव रूप परम चारित्र को अंगीकार करते हैं, वे पंच परमेष्ठी हो जाते हैं, हम उन सभी परम गुरुओं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों को शीश नमाकर नमन करते हैं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और महाविशुद्धि रूप चारित्र ही

---

* "किच्चा अरहंताण सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावय वग्गाणं साहूणं चैव सव्वेसिं।।
तेसिं विसुद्ध दंसणणाणप्पहाणासम समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्ती।।" (प्र.सा. गाथा-४-५)

१. 'तिनकौ' ख प्रति में। २. "दरब" ख प्रति में।

प्रधान धर्म के स्थान हैं वे उनका ही अवलम्बन लेकर उन्हें अच्छी तरह पाकर और सकल कषायों के अंश मात्र से रहित होकर जो अपने आत्मा राम रूपी हंस को पाते हैं, वे प्रत्यक्ष निर्वाण पंथ अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग को पा लेते हैं।

आगै वीतराग सराग चारित्र कौ जू है हेय उपादेय फल तिसकौ व्यौरौ कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

दर्शन सुग्यान[1] ये प्रधान जाके विर्षै दोऊ
अैसो समचरन सु नर आचरतु है।
जाकौ फल इंद्र धरनैंद्र चक्रवर्त आदि
दैंकैं जो महान महा पद कौं धरतु है।।
तिन्हि की विभूति पाइ जगत में सुखदाइ
भुगति कैं ताइ भव सागर तरतु है।
मुकति कौ पंथ अैन आगम विर्षै सु जैन
कह्यौ धारे विना सो न कारजु सरतु है।।४२।।*

अर्थ :– जिसके भीतर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान – ये दोनों ही प्रधान होते हैं ऐसे समता रूप चरण अर्थात् सम्यक् चारित्र का आचरण सज्जन मनुष्य करते हैं। जिसका फल इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती की विभूति को शुरू में देकर अर्हत् सिद्ध अवस्था के रूप में जो महान् महापद है, उन्हें धारण करना है। जगत् में सुखदाई सम्यक् चारित्र के फल की विभूति पाकर तथा उसे भोगकर सज्जन मनुष्य सम्यक् चारित्र से भवसागर को अवश्य पार कर लेता है। आगम में इसे ही पूर्ण रूप से मुक्ति का जैन पंथ कहा गया है। जितेन्द्रियता से जनित मुक्ति का मार्ग यहाँ सम्यक्चारित्र ही है। 'मुक्ति कौ जैन पंथ' से यहाँ सम्यक्चारित्र को ही कहा गया है, जिसको धारे विना मुक्ति प्राप्ति का कार्य सिद्ध नहीं होता है।

आगे अब निश्चै चारित्र कौ स्वरूप कहैं हैं।

---

* "संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो।।" (प्र.सा. गाथा-६)

१. 'ग्यान' ख प्रति में।

(तेईसा सिंहावलोकन)

मंडित सुद्ध दसा निहचै करि
चारित सौं निजरूप अखंडित।
रूप अखंडित आतम भाव
रचे पुनि धर्म कहैं सब पंडित ॥
पंडित जे लखि आप स्वरूप
थके समिता सु विभाव विहंडित।
जो पर भाव विहंडित धर्म
सु चारित सों समिता रस मंडित ॥४३॥*

अर्थ :– निश्चय अर्थात् यथार्थ दृष्टि से देखा जाये तो शुद्धोपयोग दशा या शुद्ध परिणति से मंडित-सुशोभित निज स्वरूप चारित्र ही अखंडित होता है और अखंडित आत्म स्वभाव से रचित जो वीतराग परिणति मय आत्मा का अपना रूप है उसे ही पंडित अर्थात् सद् असद् का विवेक रखने वाले ज्ञानी जन धर्म कहते हैं। जो पंडित जन आत्म स्वरूप को लक्ष्य में लेकर और उसे ही जानकर समता स्वरूप में ठहरते हैं। उनके समता भाव के द्वारा ही विभावों का विहंडन-विनाश अच्छी तरह हो जाता है। इस प्रकार परभावों के विनाश से उनके जो सम्यक् चारित्र रूप धर्म होता है वह सचमुच ही समता रस से मंडित-सुशोभित धर्म ही है।

आगे चारित्र को अरू आत्मा की एकता दिखावै हैं।

(सवैया इकतीसा)

ताही काल तिसही सुभाव करि परिनवै
तिस ही समै विलोकै दरब सु तैसी है।
असुभ के उदैतैं सु असुभ प्रकार होत
धरैं सुभकर्म दसा सुभ कर्म कैसी है ॥
तार्थे वीतराग परिनाम समिता सुभाव
परिनयो जवै रीति धर्म निहचै सी है।

* "चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥" (प्र.सा गाथा-७)

जानौ एक आतमा की पुनि सु चारित्र जाकी,

एकता बताई भगवंत जूने ऐसी है ॥४४॥*

अर्थ :—द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमित होता है उस समय उसी भाव से परिणाम करते हुये द्रव्य को उस ही समय देखा-जाना जाये तो द्रव्य उस परिणति मय ही है। अशुभकर्म के उदय से आत्मा अशुभ रूप होता है शुभकर्म की उदयरूप दशा को धारने से आत्मा की परिणति-दशा भी शुभ कर्मों की सी अर्थात् शुभभावमय होती है। इसलिये जब आत्मा का वीतराग परिणाम आत्मा के समता स्वभाव से परिणमित होता है तो उसी रीति से अर्थात् समतामयी वीतराग परिणति से आत्मा की दशा निश्चय यथार्थ धर्म की सी अर्थात् वीतराग परिणाममयी होती है। इस प्रकार ये सब दशायें एक आत्मा की ही जानो। यहाँ आत्मा और सम्यक् चारित्र की एकता ऐसी ही भगवंत जू अर्थात् अरहंत परमात्मा ने बतायी है।

आगे आतमा कैं सुभासुभ सुद्ध ऐसी तीनि भावनि की एकता दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

दया दान भक्ति व्रत भाव रूप क्रिया मांहि

मगन जगत्र मैं सु पुरिष सु कर्मी हैं।

विषय कषाय करतूति अव्रतादिक के

करतार असुभपयोगी भोगमर्मी हैं॥

वीतराग भाव धारी आतमीक दशाधारी

सुद्ध सुखकारी सुधी ग्याता तत्त्वमर्मी हैं।

तीनि परकार ऐसो आतमा कौ परिनाम

जानै जेई जगत मझार जैनधर्मी हैं॥४५॥**

---

*''परिणमदि जेण दव्वं तक्काल तम्मयं त्ति पण्णत्त।

तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो॥ (प्र.सा. गाथा-८)

** जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।

सुद्धेण तदा सुद्धो हवई हि परिणामसब्भावो॥ (प्र.सा गाथा-९)

अर्थ :– तीनों लोकों में दया, दान, भक्ति, व्रत आदि परिणाम और तज्जन्य क्रियाओं में जो पुरुष या आत्मायें मगन हैं वे सु कर्मी अर्थात् शुभ परिणामों से युक्त हैं तथा जो पुरुष विषय कषाय सेवन की अव्रतादिक करतूतों कार्यों-परिणामों के करतार हैं, वे विषयभोगों के मर्मी अशुभोपयोगी अशुभ-परिणामी हैं तथा वीतरागभावों से सहित जो पुरुष, शुद्ध, सुखकर आत्मिक श्रेष्ठ दशा के धारी हैं वे सुधी-सम्यग्ज्ञानी तत्त्वों के रहस्य-मर्म को जानने वाले तत्त्वमर्मी हैं। इस प्रकार तीनों ही प्रकार के शुभ-अशुभ और शुद्ध परिणाम आत्मा के ही हैं और आत्मा उन-उन परिणाममय है – ऐसे जो आत्मा को परिणाममय और परिणामों को आत्मा जानते हैं, वे इस जगत् में जैनधर्मी कहलाते हैं।

आगै वस्तु का स्वभाव परिनाम वस्तु तैं अभेद है यह कथन।

(सवैया तेईसा)

जीव अजीव उभै विधि जे परि
नाम विना न पदारथ कोई।
या निहचै जु पदारथ छांडि
सु अंत कहूँ[1] परिनाम न होई॥
द्रव्य तथा गुन वा परजाय
धरै असतित्त्व न ही इक दोई।
ज्यों घृत दूधु दही पुनि तक्र
कभी तह एक न गो रस सोई॥४६॥*

अर्थ :– जीव और अजीव जो कोई भी उभय विध पदार्थ हैं वे परिणामों के विना नहीं होते हैं तथा निश्चित ही परिणाम भी पदार्थों को छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं होते हैं। द्रव्य गुण और पर्याय सब एक ही पदार्थ में अस्तित्व

---

*णत्थि विणा परिणाम अत्थो अत्थ विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो॥ (प्र.सा गाथा-१०)

१ 'अहूँ' क प्रति मे।

धारते हैं अर्थात् द्रव्यगुण पर्याय रूप अर्थ एक ही अस्तित्वमय सत्त्व है, दो नहीं होते हैं। जैसें घी, दूध, दही और तक्र कभी भी एक नहीं कहे जाते फिर भी सब गो रस के रूप में सदैव एक ही हैं।

आगे शुभ परिनाम अरू सुद्ध[1] परिनाम ये दोई चारित्र हैं इन्हि का फल दिखावैं हैं।

(कवित्त छंद)

जब यह जीव धर्म परिनति सौं
निर्मल सहित सुद्ध उपयोग।
करिवे कौं समर्थ निज कारज
परम मुक्ति सुख संपति भोग॥
दया दान पूजादि परिनमन
सुभ सुबंध कारन संजोग।
जाकौ फल सु प्रगट स्वर्गादिक
सो पुनि दब्यौ[2] कर्म दिढ़ रोग॥४७॥*

अर्थ :– जब यह जीव अपनी निर्मल धर्म परिणति से युक्त होता हुआ शुद्धोपयोग रूप निज कार्य को करने में समर्थ हो जाता है तो शुद्धोपयोग से इसे मुक्ति का फल प्राप्त होता है, जहाँ परम सुख स्वरूप सम्पत्ति का भोग होता रहता है तथा जब आत्मा दया, दान, पूजादि रूप शुभपरिणामों से युक्त होता है तो उसे शुभकर्मों का बंध होता है और तदनुरूप ही संयोगों की प्राप्ति होती है। तथा जिसका फल प्रगट स्वर्गादिक है, ऐसा वह शुभोपयोग आत्मा को दृढ़ कर्म रोग का दाता कहा गया है, क्योंकि वह कर्म को दबाने वाला ही है, मिटाने वाला नहीं।

आगे अत्यंत हेय अशुभोपयोग चारित्र का घातक है ताकौ फल दिखावैं हैं।

---

* धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं॥ (प्र.सा गाथा-११)

१ ''अशुभ'' ख प्रति में। २ 'दवौ' ख प्रति में।

(कुण्डलिया)

भारी अति संकट सहै असुभ उदै यह जीव।
नरगति विषैं दलिद्दता बहुविधि लहै सदीव॥
बहुविधि लहै सदीव नरक पुनि पसु गति मांही।
महाखेद संजुक्त जहाँ सुख मिलै सु नांही॥
पीडित[1] भ्रमै जगत्र मांहि दीरघ संसारी।
सेवत विषय कषाय सहै अति संकट भारी॥४८॥*

अर्थ :– अशुभ कर्म के उदय में यह जीव अत्यधिक विकट संकटों-विपत्तियों को प्राप्त कर उन्हें सहन करता है। यदि मनुष्य गति भी पा जाता है तो दीर्घकाल पर्यंत अनेक प्रकार की दरिद्रता को ही प्राप्त किये रहता है। तथा अनेक बार विविध पर्यायों में नरक और पशु गति में अनिष्ट संयोग प्राप्त करता है जहाँ महाखेद परिणामों से संयुक्त होकर अत्यंत दु:खी होता है उसे सुख की प्राप्ति नहीं होती है। इस प्रकार दु:खों से पीड़ित होता हुआ तीनों लोकों में भ्रमण करता है और विषय-कषायों का सेवन करते हुये अत्यधिक विकट सकटों को सहता हुआ दीर्घ संसारी हो जाता है।

आगे अत्यंत उपादेय सुद्धोपयोग कौं[2] फल कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

त्रिजग[3] तैं भारी सो अपूरब अचिर्जकारी[4]
परम अनंद[5] रूप अखै अविचल है।
प्रगट्यो सु आप ही तैं और कौ सहाय विना
विषय वितीत सो अनोपम अमल है॥
एक सौ निरंतर प्रवर्तै सदा काल नित्य
अखिल अबाधित अनंत तेज बल है।

---

* असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहि सदा अभिदुद्दो भमदि अच्चत॥ (प्र.सा. गाथा-१२)

१ "पीडति" ख प्रति मे। २ 'जाकौ' क प्रति में। ३ "त्रिजगति" ख प्रति मे। ४. 'चर्यकारी' ख प्रति मे। ५ 'आनद' ख प्रति में।

ऐसो सुख सरस प्रकास्यौ परमातमा कैं
सो तौ सब सुद्ध उपयोग ही कौ फल है ॥४९॥*

अर्थ :– जो सुख तीनों लोकों में उपलब्ध संसारी जीवों के सुख से अत्युत्कृष्ट, सर्वोत्तम, अपूर्व, आश्चर्यकारी, अक्षय और अविचल परमानंद स्वरूप है। तथा जो दूसरों की सहायता के विना स्वयमेव स्वात्म सत्ता से प्रगट हुआ है, इन्द्रिय मन जनित विषय सुख से व्यतीत-रहित है, अनुपम और अमल-निर्मल है। सदैव हर समय एक जैसा ही प्रवर्तित होता रहता है, जिसका तेज बल अनंत और अबाधित है; ऐसा यह परमानंदमय सरस सुख परमात्मा के ही प्रकाशित होता है अर्थात् पाया जाता है तो वह पूर्ण रूप से शुद्धोपयोग का ही फल है ॥४९॥

आगे सुद्धोपयोगी मुनि कौ स्वरूप कहैं हैं।

(सवैया तेईसा)

जानत आगम के सु प्रमान
भली विधि भेद पदारथ केरे।
राग विरोध विमोह विनासि
विवर्जित कर्म सुभासुभ भेरे॥
जे सम एक सदा सुख मैं
दुःख मैं उर सुद्धपयोग जगेरे।
संजिमवंत[1] तपी निहचंत
सु ते मुनिराज वसौ उर मेरे॥५०॥**

*अर्थ :–*जो आगम प्रमाण से जीवादि पदार्थों के भेद प्रभेदों को भलीभांति जानते हैं। राग-द्वेष और मोह का नाश कर शुभाशुभ कर्मों के समूह से विवर्जित

---

*अइसयमादसमुत्थं विसयातीद अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धवओगप्पसिद्धाणं॥ (प्र.सा. गाथा-१३)

** सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥ (प्र.सा गाथा-१४)

१ 'सजिममंति' ख प्रति में।

हो रहे हैं अर्थात् जिनके शुभाशुभ कर्मों की प्रतिक्षण असंख्यात-असंख्यात गुणी निर्जरा हो रही है। जो कर्मोपाधिजनित सुख या दु:ख होने पर सदैव अपने मन में समता भाव स्वरूप शुद्धोपयोग को जगाने वाले हैं ऐसे वे संयमशील तपस्वी मुनिराज निश्चित ही मेरे हृदय में वास करें। यहाँ शुद्धोपयोगी मुनिराज के बहुमान का गुणगान तो है ही, अतिशय विनय भाव भी प्रदर्शित हो रहा है।

आगे सुद्धोपयोग कौ लाभ भऔ सुद्धातमा को लाभ हो है, यह कहैं हैं।

(सवैया तेईसा)

जीव अनंत चतुष्टय सौं करता
गिरि घातिया कर्म विछूरन।
वज्र गदा सम सुद्धपयोग जग्यौ
तिन्हि के घट में परिपूरन।।
केवल दर्शन केवल ग्यान
खुल्यौ करि कर्म कुलाचल चूरन।
आनि प्रतक्ष भये स्वयमेव
समस्त पदारथ ते बहु दूरन।।५१।।

अर्थ :-- जो जीव अनंत चतुष्टय अर्थात् अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य और अनंत सुख से परिपूर्ण हैं, जिन्होंनें घातिया कर्म रूपी पर्वत को छिन्न-भिन्न कर दिया है अर्थात् घातिया कर्म रूपी पर्वत के विछूरन (छिन्न-भिन्न) नष्ट होने के कर्त्ता हैं। उनकी आत्मा में वज्रगदा के समान परिपूर्ण सुद्धोपयोग जग चुका है, मतलब यह है कि उन्होंनें अपने शुद्धोपयोग रूप वज्रमयी गदा से घातिया कर्म रूपी पर्वत को छिन्न-भिन्न कर दिया है। उसी परिपूर्ण शुद्धोपयोग से कर्म कुलाचल के चूर्णीभूत होंने से जिनका केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट हो गया है। जिसमें मानों जगत् के समस्त पदार्थ ही आ आकर प्रत्यक्ष झलक रहे हैं फिर भी वे पदार्थ उनके ज्ञान से बहुत दूर हैं। तात्पर्य यह है कि उनके ज्ञान में पदार्थ और पदार्थों में उनका ज्ञान नहीं आता जाता है।

आगे सुद्धोपयोग कौ फल केवल ग्यानमय सुखातमा कहैं हैं।

(सवैया तेईसा)

छादन 'अंतराय रज'[1] मोह
जबै जिहि[2] कर्म कलंक नसायौ।
जा परसाद भयो निज आतम
लाभ सुदिष्टि विषैं सब आयौ॥
लोक सबै सु पती करि पूज्य
निराकुल सुद्ध महापद पायौ।
आप स्वरूप सुखी स्वयमेव
सुदेव स्वयंभुव नाम कहायौ॥५२॥*

अर्थ :– छादन अर्थात् आच्छादन करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह अर्थात् मोहनीय कर्मों के कलंक को जिन्होंनें जब नष्ट किया तभी उनके जिस प्रसाद अर्थात् कलंक मिटने की प्रसन्नता से निज आत्म स्वरूप का लाभ अर्थात् प्रगाढ़-अटूट स्वानुभूति हुई और सुदृष्टि में सब कुछ आ गया है, कुछ भी जानना शेष नहीं रहा। जिससे जगत् में सभी के द्वारा पूज्य त्रिलोकपति का महापद प्राप्त कर लिया है। जो पूर्ण निराकुल और शुद्ध स्वरूप वाला है ऐसा आपका केवलज्ञानमयी शुद्धात्मा स्वयं अपने स्वरूप से पूर्ण सुखी है। इसलिये तो हे प्रभो ! आप सच्चे देव के रूप में स्वयंभुव नाम वाले कहलाये।

आगे ईस स्वयंभू प्रभकैं उत्पाद व्यय ध्रौव्यता दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

सुद्ध सुभाव दसा उपजी भगवंत
विषैं फिरिकैं सुनि सोई।

---

* "उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं॥
तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपरिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो॥" (प्र.सा. गाथा-१५-१६)

१. 'अंतरपारन' अ दोनों प्रति में। २. 'जिन' ख प्रति में।

दूरि भये सु असुद्ध विभाव
नहीं पुनि फेरि प्रवर्तत सोई।।
चेतनि सिद्ध स्वरूप वही सु
असुद्ध दसा तजि सुद्ध समोई।
या उतपाद तथा वय ध्रौव्य
मिलाय समैं इक मैं सब होई।।५३।।*

अर्थ :– अर्हन् परमात्मा में जो शुद्ध दशा उपजी है वह फिरकैं (फिर-फिर) अर्थात् प्रत्येक समय में वैसी ही होती रहती है। ऐसा परमागम से सुनकर हमने कहा है। परमात्मा के जो असुद्ध विभाव-विकार परिणाम दूर-नष्ट हुये हैं वे फिर से दुवारा अर्थात् आगे की पर्यायों में प्रवर्तित नहीं होते हैं। इस प्रकार शुद्धदशा का उत्पाद और अशुद्धदशा का व्यय चेतन आत्मा में होने पर भी वह स्वयं सिद्ध स्वरूप ध्रुव ही रहता है – ऐसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों मिलकर एक समय में चेतन द्रव्य रूप आत्मा में होते हैं।

आगे उत्पादादि द्रव्य का स्वरूप कहैं हैं।[1]

(दोहरा)

किस ही इक परजाय करि जीवादिक षट् दर्व।
उपजै विनसै जे बहुरि सत्ता रूप सु सर्व।।५४।।**

अर्थ :– जो जीवादिक छह द्रव्य हैं वे सभी अपनी ही किसी एक पर्याय की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं, विनशते हैं और सत्ता रूप रहते हैं इस प्रकार जीवादिक सभी द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप ही हर समय सिद्ध होते हैं।

अब इस आतमा कौ सुद्धोपयोग करि ग्यान आनंद दिखाइये है।[2]

---

* "भंगविहूणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसभवणास समवाओ।।" (प्र.सा. गाथा-१७)

** "उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो।।" (प्र.सा गाथा-१८)

१ ख प्रति में है – "आगैं कहैं हैं के उत्पादादि द्रव्य का सरूप है तातैं जीवादिक समस्त द्रव्य कौं दिखावै हैं। २ ख प्रति में है - आगै कहै हैं के यह जीव सुद्धोपयोग के प्रभाव तैं स्वयंभू हुआ इंद्रिन विना ग्यान आनद इसके किस भाति हो है यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

आवरन गऐं ग्यान दर्शन प्रकास भयो[1]
"महातेजवंत जैसें सूरज प्रभातिया"[2]।
पायो जब परम अतिंद्रिय अनंत सुख
हन्यौ मोह उपवन उखारै ज्यौं[3] हातिया।।
अंतराई टरैं बल प्रगट्यौ अनंत महा
वीरज अनंत गुन सदासिव सातिया।
स्वयमेव स्वयंभू सुभाव सुद्ध सिवरूप[4]
भये सो अनूप नासि कर्म चारि घातिया ।।५५।।*

अर्थ :– रात्रि के व्यतीत होने पर अर्थात् प्रभात काल में जैसे महान् तेज पुंज स्वरूप सूर्य स्वयं प्रकाशित होता है वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण के खत्म होने पर अर्थात् क्षय होकर दूर हो जाने पर पूर्ण ज्ञान-दर्शन का प्रकाश आत्मा में हो जाता है। जैसे हाथी उपवन को उखाड़ देते हैं उसी प्रकार जब मोह रूपी उपवन का हनन कर दिया जाता है तो परम अतीन्द्रिय और अनंत सुख की प्राप्ति हो जाती है। अंतराय कर्म टल जाने पर महान् बल अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है। इस प्रकार चारों घातिया कर्मों का नाश होने पर स्वयंभू आत्मा स्वयमेव शुद्ध स्वभाव मय शिव स्वरूप हो जाता है और उसके अनंत गुण सदैव शिव अर्थात् मोक्षरूप या कल्याण रूप ही सत्ता में बने रहते हैं।

आगे अतीन्द्रिय भगवान् का स्वरूप दिखावै हैं।[5]

(सवैया इकतीसा)

छुधा आदि दैकें दु:ख[6] जगत में नाना भांति
सुख है अनेक आदि और जे असन तैं।

---

* "पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि॥" (प्र.सा. गाथा-१९)

१ 'प्रकासी जैसें' ख प्रति में। २. ख प्रति में है – रैन के वितीतैं रवि ऊगत प्रमानिया। ३. 'जिम' ख प्रति में। ४. 'आरूप' ख प्रति में। ५. क प्रति में है - आगै पराधीन सुख-दु:ख स्वरूप विना अतिंद्रिय प्रभ कहीं हों। ६. ख प्रति में नहीं।

पराधीन विना ग्यान छाइक प्रकास्यौ जब
दोऊ उपजैं न[1] भगवान् जू के तन तैं॥
तार्थें भगवान जू सपर्स रस गंध वर्ण
रहित विकार भाव विषै रस मन तैं।
देवीदास कहैं जानौ सुख सो अतिंद्री ग्यान
महिमा बखानि जाकी कहै को वचन तैं॥५६॥*

अर्थ :– क्षुधा आदि को आगै करके इस जगत् में नाना प्रकार के दुःख हैं और भोजन आदि कर लेने से अनेक प्रकार का सुख होता है किन्तु ये दोंनों ही पराधीन हैं। पराधीन सुख-दुःख की प्रतीति ज्ञान के विना मात्र अविवेक से ही होती है। भगवान् के क्षायिक ज्ञान का प्रकाश हो जाने से अज्ञान नहीं रहता है जिससे उनके तन से पराधीन सुख-दुःख दोंनों ही उत्पन्न नहीं होते हैं इसलिये स्पर्श रस गंध वर्ण रूप इन्द्रियों के विषयों से, विकारभावों में रस लेने वाले मन से और उसके विषयभूत विकारी भावों से भगवान् रहित हैं। देवीदास जी कहते हैं कि भगवान् के सुख और ज्ञान को तुम अतीन्द्रिय जानो। अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान की जो महिमा बखानी गयी है उसे वचन से कौन कहे। अर्थात् वह महिमा वचन अगोचर है।

अब केवल ग्यानी कौ प्रतक्षपनौ दिखावैं हैं।[2]

(सवैया इकतीसा)

जाके ग्यान विषैं परतक्ष जे समस्त द्रव्य
सहित त्रिकाल परजाय भासि रही है।
जो अवग्रहा ईहा[3] अवाय[4] धारनादि क्रिया
करिकैं सु जानिवौ जिनेस जू के नहीं है॥
सरव आवरन विनास तैं अखंड रूप
पूरन अनंत सक्ति सत्ता सुद्ध लही है।

---

* सोक्ख वा पुण दुक्ख केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिदियत्त जाद तम्हा दु त णेयं॥ (प्र.सा. गाथा-२०)

१ ख प्रति में नहीं। २. ख प्रति में यह पाठ है - आगैं केवली के अतिंद्रिय ग्यान तैं सर्व प्रतक्ष है, यह कहैं हैं। ३ क प्रति में नहीं। ४. 'अवाइ' क प्रति में।

जाकैं जानिवे की देखिवे की कछू इच्छा[1] नाहीं
जानिवौ सु देखिवौ निरक्ष पक्ष वही है ॥५७॥*

अर्थ :– जिनके ज्ञान में जगत् के सारे पदार्थ (द्रव्य) और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायें एक साथ (युगपत्) भास रहीं हैं। अर्थात् चराचर जगत् सर्व द्रव्य पर्यायों सहित जाना जा रहा है। ऐसे उन जिनेश जू के जो जानना है वह अवग्रह ईहा अवाय और धारणादिक क्रिया करके जानना नहीं है। समस्त आवरणों का विनाश हो जाने से उन्होंनें परिपूर्ण अखंड स्वरूप अनंतशक्तिमय परम शुद्ध निज आत्म सत्ता को ही पकड़ रखा है अर्थात् अपने ज्ञान को उसमें ही लगा रखा है सचमुच में तो वे अपने ऐसे ज्ञान स्वभाव को ही जानते हैं। उन्हें जगत् के पदार्थों को जानने देखने की कोई भी इच्छा नहीं है, फिर भी ज्ञान की सामर्थ्य से जो जानना देखना है; वही ज्ञान का निरक्ष पक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय पक्ष है।

अब इस ग्यान की प्रत्यक्षता दिखावैं हैं।[2]

(सवैया इकतीसा)

जामैं परमानू सौं न किंचित् परोक्ष कछू
द्रव्य क्षेत्र काल भाव समै एक झलके।
जामैं संसारी सु पराधीन इंद्रियाँ विकार
मरजादा लियै बोध गये हो अबल के॥
जामैं पंच इंद्री गुन दरसे समस्त पूरे
जानिवे कौं जुगुपतु समर्थ सबै पल के।
आप हु तैं परम प्रकासी ऐसौ जिनजू कैं
अचल अबाधित[3] अनंत ग्यान झलके॥५८॥**

---

* परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं॥ (प्र.सा. गाथा-२१)

** णत्थि परोक्खं किंचि व समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स॥ (प्र.सा. गाथा-२२)

१. 'इच्छा' ख प्रति में। २. ख प्रति में है – आगैं इस भगवान् कैं अतिंद्रिय ग्यान के परनमन तैं कछू परोक्ष नाहीं, यह कथन। ३. 'अबादि' ख प्रति में।

अर्थ :– जिसमें परमाणु सा सूक्ष्म पदार्थ जैसा कुछ भी परोक्ष नहीं है। सारे ही पदार्थ अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप स्वचतुष्टय के साथ एक समय में प्रत्यक्ष झलकते हैं, जान लिये जाते हैं। जिसमें अबल के अर्थात् विना किसी प्रयत्न के सहज ही सभी संसारी भी अपने पराधीन इन्द्रिय ज्ञान द्वारा इन्द्रियों की विषय मर्यादा को लिये हुये जान लिये गये हैं। पाँचों इन्द्रियों के गुन अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा मात्र स्पर्श जानने में आने से स्पर्शनेन्द्रिय का गुण-स्वभाव मात्र स्पर्श को जानना ही है। ऐसे ही शेष इन्द्रियाँ भी अपने अपने विषय को जानने के गुण वाली हैं। पाँचों इन्द्रियों के गुण तो स्पष्ट रूप से जिसमें दिखते ही हैं तथा जो सभी पलों के अर्थात् त्रिकालवर्ती गुण पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को युगपद् जानने में समर्थ है। ऐसा वह अपने आप से ही परम प्रकाश स्वरूप अचल अबाधित और अनंत ज्ञान स्वरूप केवलज्ञान है, जो जिनेन्द्र भगवान् के सदैव झलकता रहता है। अर्थात् प्रति समय केवलज्ञान की पर्याय उनके होती रहती है।

अब आतमा को ग्यान प्रमान कहै हैं और ग्यान कौ सर्वगत कहै हैं।

(सवैया इकतीसा)

चिदानंद आपु ग्यान गुन की बराबरि है
ग्यान गुन तैं न अधिकारी है न कम है।
ग्यान गुन की विभूति फैली लोकालोक माँहि
लोकालोक[1] ग्येय तातैं ग्यान ग्येय सम है।।
अतीत अनागत अनंत परजाय लियैं
लोक है सु जामैं छहू दरब कौ रम है।
जातैं[2] बाहिरौ अलोकाकास है सु जाके विषैं
सर्वगत ग्यान सो कहावै[3] जाकैं[4] गम है।।५९।।*

---

* आदा णाणपमाणं णाण णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेय लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।। (प्र.सा. गाथा-२३)

१ 'लोक' मात्र क प्रति में। २ 'तातैं' ख प्रति में। ३. 'कहातैं' ख प्रति में। ४. 'जाकी' क प्रति में।

अर्थ :– चिदानंद आत्मा और उसका ज्ञान गुण दोनों बराबर प्रमाण के हैं ज्ञान गुण से आत्मा न अधिक परिमाण वाला बड़ा है और न ही हीन परिमाण वाला कम है। सारा लोकालोक केवलज्ञान का ज्ञेय बनता है अत: कहा जा सकता है कि ज्ञान गुण की विभूति लोकालोक में फैली है इस अपेक्षा जानन स्वभाव से ज्ञान और जानने में आयें ऐसे प्रमेयत्व की अपेक्षा सारे ज्ञेय समान हैं। ज्ञान में सब जाने जाते हैं और ज्ञेय सब जानने में आते हैं यही समानता है। उस ज्ञान में छहों प्रकार के अनंत द्रव्य जहाँ रमते रहते हैं – ऐसे लोक का भूतकाल (अतीत) एवं भविष्य (अनागत) की पर्यायों सहित जानना होता है। लोकाकाश से बाहर भी जो अलोकाकाश है उसे भी वह जानता है। तभी तो वह सर्वगत ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार जिस कारण से जिसका लोकालोक का जानना (अधिगम करना) स्वभाव है, उसीकारण से वह केवलज्ञान सर्वगत जानना।

आगे कुमती आत्मा कौ ग्यान प्रमान नाहीं मानै है, सो कहै हैं।

(चौपई छंद)

काहू कुमती के मत मांही, ग्यान प्रमान आतमा नाहीं।
औछौ कहै किधौ अधिकारा 'निश्चै मान'[1] भ्रमै संसारा ।।६०।।*

अर्थ :– किसी कुमति या अन्यथा मानने वाले के मत में आत्मा को ज्ञान प्रमाण नहीं माना गया है। कोई ज्ञान को आत्मा से ओछे प्रमाण वाला अर्थात् छोटा कहते हैं तो कोई अधिक प्रमाण मानते हैं। निश्चित ही यह मान लेना चाहिये कि ऐसी मान्यता से संसार में ही भ्रमण होता है।

आगै कुमती के मत का निषेध[2] करै हैं।

(सवैया इकतीसा)

ओछौ कहै आतमा तैं ग्यान सो अचेतन है
भयौ[3] सो अचेतन अजानता में ज्ञान है।

---

* णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव॥ (प्र.सा. गाथा-२४)

१. 'निश्चल होय' ख प्रति में। २. 'निषेध न' ख प्रति में। ३. 'भाषै ते' ख प्रति में।

अधिकौ तथापि कोई कहै ग्यान आतमा तैं
ग्यान तैं सिवा ही सोई आतमा अजान है ॥
ग्यान के अधार जीव जीव के अधार ग्यान
जानिवै कौं ग्यान तैं नही सु और आन है ।
तार्थें कमी अधिकौ न सदा एक ही प्रमान
कुमती के मत कौ उछेदिवौ निदान है ॥६१॥*

अर्थ :– यदि आत्मा को ज्ञान से ओछा अर्थात् हीन कहें अर्थात् ज्ञान आत्मा से बाहर भी व्याप्त रहता है। ज्ञान का प्रदेश प्रमाण बड़ा है और आत्मा का प्रदेश प्रमाण हीन है। तो आत्मा से बाहर रहने वाला ज्ञान आत्मा न होने से अचेतन हो जायेगा और इस प्रकार अचेतन हुआ ज्ञान जानेगा कैसे? कोई अचेतन पदार्थ जानने का काम नहीं करता है। अत: अचेतन होने से ज्ञान भी जानने का काम नहीं करेगा। अगर अचेतन के भी जानने का कार्य स्वीकृत करेंगे तो अति प्रसङ्ग दोष अनिवार्य हो जायेगा। सभी अचेतन पदार्थों के भी ज्ञान के समवाय (संयोग) मात्र से जानना स्वीकारना पड़ेगा फिर कोई अचेतन पदार्थ अजानता स्वभाव वाला नहीं रहेगा और सभी में ज्ञान है ऐसा मानना पड़ेगा। निष्कर्ष यह है कि चेतन आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव से जानता है। कथंचित् ज्ञान और आत्मा को अभेद-अभिन्न मानने पर जानने वाला चेतन द्रव्य आत्मा है वह अपने ज्ञान से जानता है यहाँ आत्मा जानन क्रिया का कर्त्ता है और ज्ञान करण। दोंनों ही समान प्रमाण हैं; न ज्ञान हीन है और न आत्मा। फिर भी कोई ज्ञान से आत्मा को अधिक कहता है अर्थात् आत्मा के सभी प्रदेशों में ज्ञान नहीं रहता है, ज्ञान का प्रदेश प्रमाण हीन है और आत्मा का प्रदेश प्रमाण अधिक। ऐसा मानने पर जितनें आत्मा में ज्ञान की हीनता है उतना आत्मा ज्ञान के विना जान नहीं सकेगा और अजान हो जायेगा। फल स्वरूप कुछ आत्मा तो जानेगा और कुछ नहीं जानेगा अजान ही बना रहेगा।

---

* हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदण ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेव विणा कह णादि॥ (प्र.सा. गाथा-२५)

यह असंगति बन जायेगी निष्कर्षतः यह मानना चाहिये कि आत्मा ज्ञान से अधिक नहीं है और न ही ज्ञान आत्मा से अधिक है। दोनों ही समान प्रमाण हैं। सच तो यह है कि ज्ञान और आत्मा दो नहीं हैं एक ही हैं ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं है और आत्मा से भिन्न ज्ञान नहीं है, ऐसा ही मानना चाहिये। कवि का कथन है कि ज्ञान के आधार (कारण) जीव और जीव के आधार ज्ञान है अर्थात् ज्ञान के बिना कोई आत्मा (जीव) होता ही नहीं है और आत्मा के विना ज्ञान भी कहीं अन्यत्र नहीं हो सकता है। आत्मा को जानने के लिये ज्ञान के अलावा अन्य कोई शरण नहीं है अर्थात् आत्मा अपने ज्ञान के विना कतई जानने का कार्य नहीं कर सकता है। इसलिये जब दोनों एक ही द्रव्य (पदार्थ) हैं तो ज्ञान से आत्मा को हीन या अधिक नहीं मानना चाहिये सदा ही ज्ञान और आत्मा का प्रदेश प्रमाण समान एक जैसा बराबर ही रहता है। इस प्रकार यहाँ कुमती के मत का उच्छेद करना ही निदान समझना चाहिये।

आगै जैसैं ग्यान सर्वगत है, तिस ही भांति[४] आतमा सर्वगत है – यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

तीन काल परजाय सहित सु ग्येयाकार
ग्यान भूमिका 'विषैं सु सहज'[२] विछाए हैं।
ग्यान के प्रमान भगवान कौ स्वरूप सदा
जानिवे कौ तत्त्व सो तौ ग्यान मैं समाए हैं[३] ॥
लोकाकास अथवा अलोकाकास उभै भेद[१]
तार्थें जिन ग्यान के मझार सब आए हैं।
जानिवे कौ जोग्य अैसौ विषैं परमातमा कैं
तार्थें ग्यान आत्मा समान एक गाए हैं ॥६२॥*

---

* सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा॥ (प्र.सा. गाथा-२६)

१. "न्याय" ख प्रति में। २. 'सु जाके विषैं जो' क प्रति में। ३. "ग्यान ही में आये है" ख प्रति में।
४ 'विधि' ख प्रति में।

अर्थ :– अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित जगत् के सभी ज्ञेय पदार्थ ज्ञेयाकारपने से केवली भगवान् के केवल ज्ञान में अर्थात् केवलज्ञान पर्याय स्वरूप अपनी ज्ञान की भूमिका में सहज ही ज्यों के त्यों प्रतिबिम्बित होते हुये जाने जाते हैं। केवली भगवान् का स्वरूप सदैव ज्ञान प्रमाण ही है अतः उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित सभी ज्ञेय पदार्थ केवली गत भी कहे गये हैं। सभी ज्ञेय केवली भगवान् के द्वारा जाने गये हैं इस में मूल तत्त्व यह है कि वे सभी ज्ञेयाकारपने से उनके ज्ञान में समाये हैं अर्थात् ज्ञान ही स्वयं अपने परिणमन में सभी ज्ञेयों के आकार जैसे ही स्वयं परिणमा है। क्योंकि सभी ज्ञेयों के प्रतिबिम्ब जैसा परिणमन उसका अपना ही है।

लोकाकाश हो या अलोकाश हो द्विविध आकाश सहित सभी ज्ञेय पदार्थ केवली जिन भगवान् के ज्ञान में इसी विधि से आते हैं। इस प्रकार यह सारा ही ज्ञेय रूप विषय परमात्मा के द्वारा जान लिया जाता है। यही कारण है कि परमात्मा के ज्ञान को एवं आत्मा को यहाँ एक समान बताया गया है। ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान। ये दोनों पृथक् द्रव्य नहीं हैं। दो पदार्थ नहीं हैं। एक द्रव्य रूप ही हैं।

आगे ग्यान आतमा एक है अर सुखादिक सरूप है, यह कहै हैं।[1]

(अडिल्ल)

जो गुन ग्यान[2] सुजीव बात निहचंत है
जीव विना यह ग्यान नहीं कहुं अंत है।
जीव सुग्यान जिन्हैं तिहि तैं ईक रूप[3] है
वीरज और अनंत सुखादि स्वरूप है ॥६३॥*

अर्थ :– जो ज्ञान गुण है वह जीव का ही स्वकीय गुण है। यह बात जिनागम की प्ररूपणा और वस्तु परक यथार्थ चिन्तन से निश्चित है। जीव

* णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाण विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाण अप्पा णाण वा अण्णं वा॥ (प्र.सा गाथा-२७)

१ क प्रति में -'आगै ग्यान आतमा एक है यह कथन'। २ ख प्रति में नहीं। ३ 'ऊप' दोनों ख प्रतियो में।

द्रव्य के विना ज्ञान गुण कहीं भी अन्यत्र नहीं पाया जाता है। इस प्रकार जीव और ज्ञान में परस्पर तादात्म्य संबंध होने से वे एक रूप ही हैं। जीव के अनंत वीर्य और सुखादिक अन्य गुण भी जीव का ही स्वरूप हैं, यह जान लेना चाहिये।

आगे ग्यान गेय विषैं नहीं जाइ गेय ग्यान विषैं नाहीं आवै यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

आतमा को परम सुभाव एक ग्यान ही है
ग्यान सो तौ और[1] परतत्त्व सौं अमिल है।
पर तत्त्व जीव दोउ धरै न अवस्था एक
एक अस्थांन न प्रवर्तै जो सु खिल्ल है।।
व्यवहारनय सौं सुग्यान अरु ग्येय तत्त्व
एक 'खेति रहे'[2] यौं[3] अनादि ही को हिल है।
चक्षु कैसी रीति लखै वेसपर्शै[4] जैसें
ग्यान ग्येय तत्त्व ग्येयाकार हो कैं गिल है।।६४।।*

अर्थ :– आत्मा का परम स्वभाव एक ज्ञान ही को कहा है और वह ज्ञान भी अन्य किसी पर तत्त्व से मिलता नहीं है। पर द्रव्य और जीव दोनों ही एक अवस्था को धारण नहीं करते हैं तथा पर द्रव्य और जीव मिलकर कभी भी एक नहीं होते हैं। दोनों एक स्थान अर्थात् एक क्षेत्र में प्रवर्तन नहीं करते हैं अर्थात् अपने ही स्वक्षेत्र में रहते हैं और परिणमते हैं। ऐसा यह जो कथन है वह जैनागम से स्पष्ट ही है।

व्यवहारनय से ज्ञान और ज्ञेय रूप पर तत्त्व एक क्षेत्र में रहते हैं ज्ञान ज्ञेय का यह परस्पर हिल मिल (मेल जोल रूप निमित्त-नैमित्तिक) संबंध अनादि काल से ही है। जैसे आंख अपने विषय स्वरूप रूपी पदार्थ को विना स्पर्श किये ही जान लेती है वैसे ही ज्ञान भी चक्षु के समान ही जानने योग्य पदार्थों को विना स्पर्श किये ही जानता है अर्थात् ज्ञान ज्ञेयों को अपने में लाकर या उन ज्ञेय

*णाणी णाण सहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूण णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।। (प्र.सा. गाथा-२८)

१. क प्रति में नहीं। २ 'खेत रहो' क प्रति में। ३. क प्रति में नहीं। ४. 'जार्कै सर्प' ख प्रति में।

पदार्थों में स्वयं जाकर नहीं जानता है अपितु जैसे चक्षु में उसके विषयभूत पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। चक्षु रूपी पदार्थों में नहीं जाती और न ही रूपी पदार्थ चक्षु में आते हैं। मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध से चक्षु अपनी योग्यतानुसार जान लेता है। वैसे ही ज्ञान में उसके विषय भूत सभी पदार्थ झलकते हैं। ज्ञान जानने योग्य पदार्थों में नही जाता है और न ही वे विषयभूत पदार्थ ज्ञान में प्रविष्ट होते हैं। मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध की परिधि में ज्ञान स्वयं अपनी योग्यतानुसार उन्हें जान लेता है। अत: कवि का यह कथन स्पष्ट है कि ज्ञान में ज्ञेय तत्त्व ज्ञेयाकार होकर अर्थात् ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने से जान लिये जाते हैं।

अब निश्चयकरि ग्यान ग्येय की विचित्रता दिखाइयै है।[1]

(सवैया इकतीसा)

ग्यांन परदरब[2] पिछानिवे कौं परवीन
ग्यान के समूह धुअ ग्येयविषैं न रसैं।
व्यवहार करिकैं पग्यौ सो ग्येय ग्यांन विषैं
पैठो सो लगै है कि या ग्याइक सु तरसैं॥
इंद्रिय वितीति रीति परम अतिंद्रिय है
जामैं सब लोकालोक के प्रमान दरसैं।
जैसें नैन अपने प्रदेशनि प्रकार करि
रूपी द्रव्य लखै जानैं विनहुं सपरसैं॥६५॥*

अर्थ :– निश्चित ही ज्ञान की पर्यायें ज्ञेय पदार्थों में रचती-पचती नहीं हैं अर्थात् उनमें जाती या रमती नहीं हैं। व्यवहारनय की अपेक्षा यद्यपि ज्ञान में ज्ञेय पगा हुआ अर्थात् रचा-पचा शामिल कहा जाता है। सो यहाँ उपचार ही शरण है। यह सही है कि ज्ञान में ज्ञेयों का प्रतिबिम्ब बनता है। ज्ञेयाकाररूप प्रतिबिम्ब ज्ञान का होने से यह उपचार समीचीन भी है। ज्ञान में ज्ञेय ऐसा प्रविष्ट

---

* ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेस॥ (प्र.सा गाथा-२९)

१. ख प्रति में है 'जद्यपि निश्चयकरि आतमा परद्रव्यन विषैं प्रदेश नांही करै है तथापि व्यवहार कर पैठो सोहे है अैसी सक्ति की विचित्रता दिखावैं हैं'। २. 'द्रव्यन' ख प्रति में।

हुआ लगता है कि मानों वह स्वयं ज्ञायक होने के लिए तरस रहा हो। ज्ञान और ज्ञेयाकार प्रतिबिम्ब रूप ज्ञेय एक ही है, दो नहीं। जिस ज्ञान की जानने की पद्धति इन्द्रियातीत है, वह परम अतीन्द्रिय केवलज्ञान यहाँ विवक्षित है, जिसमें लोकालोक के सारे पदार्थ अपने-अपने प्रमाण परिमाण में वैसे ही झलकते हैं, दिखाई देते हैं। जैसे नेत्र अपने प्रदेशों में (परदे पर) यथायोग्य रूपी द्रव्यों को प्रतिबिम्बित कर उन्हें विना स्पर्श किये ही जानता है। यहाँ स्पष्ट हुआ कि केवलज्ञान ज्ञेयों को छूता भी नहीं है अर्थात् ज्ञान में ज्ञेय प्रविष्ट नहीं होते हैं और ज्ञान ज्ञेयों में जाता नहीं है। सभी अपने-अपने रूप ही रहते हैं।

आगे आतमा व्यवहार करि ग्येय पदार्थनि विषैं प्रवेस करैं हैं सो दृष्टांत करि दिखावै हैं।[1]

(कवित्त)

इंद्रनीलमनि सहज दूध महिं
डारति होत दूध जिम नीलौ।
'सांचिय दिष्टि सुपेत दूधु रगु'[2]
नीलवरन मनि[3] **रूप रसीलौ॥**
ग्येयाकार ग्यान सौं[4] **जैसें**
वध्यौ अनादि कालतैं भीलौ[5]**।**
निश्चय नय प्रमान करिकैं पुनि
चेतनि ग्यान गम्य करि झीलौ[6] **॥६६॥***

अर्थ :–इंद्रनीलमणि को दूध में डालते ही जैसे दूध सहज रूप में ही नीला दिखाई देने लगता है; किन्तु परमार्थदृष्टि से देखा जाये तो दूध का रंग सफेद ही है, वह नीला वर्ण (रंग) इंद्रनीलमणि का ही रसीला रूप है। यह दृष्टान्त हुआ। तथा अनादिकाल से ही यथायोग्य ज्ञेयों का आकार अर्थात् प्रतिबिम्ब स्वरूप

* रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय त पि दुद्ध वट्टदि तह णाणमट्ठेसु॥ (प्र.सा. गाथा-३०)

१. क प्रति में है – अब व्यवहार करि आत्मा ग्येय विषैं प्रवेस करै है। यह कथन इन्द्रनील मनि दिष्टात।
२. 'साचीदिसुपेतदूधरगुन' ख प्रति में। ३. "मन" ख प्रति में। ४. "कौं" ख प्रति में।
५. टीलौ ख प्रति में। ६. 'झौलौ' क प्रति में।

ज्ञेय पदार्थों का आकार ज्ञान के साथ जैसे एकमेक होकर बंधा हुआ लगता है तो लगे किन्तु निश्चयनय के प्रमाणानुसार देखा जाये तो ज्ञान में गम्य सभी ज्ञेयाकार प्रतिबिम्ब स्वरूप झलकते हुए परिणमन चेतन आत्मा के ही हैं।

आगे ज्यौं गेय विषैं ग्यांन हैं, त्यौं ही उपचार करि ग्यांन विषैं पदारथ हैं यह कहैं हैं।[1]

(गीतिका छंद)

जो सकल ग्येय प्रमान भरि जिहि ग्यान मांहि न आवही।
जो ग्यान सद्गुरु कहत कैसें सर्वगत सु कहावही॥
जो अखिल तत्त्व समूह में वरतै[2] सु केवल ग्यान है।
जो सर्वगत कहिये न क्यों करि सर्वलोक प्रमान है॥६७॥*

अर्थ :– जो ग्येय स्वरूप सकल पदार्थ लोक में हैं, वे यदि केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हुए नहीं आते हैं और केवलज्ञान में उन सभी को जानने का स्वभाव नहीं है तो उस केवलज्ञान को सद्गुरु सर्वगत अर्थात् सबको जाननेवाला कैसे कहते। उसे सर्वलोकालोक को जानने से सर्वगत कहा ही है, जो ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों के समूह-समुदाय स्वरूप लोक में वर्तता है अर्थात् उन सबको जानता है। इसप्रकार सर्वलोकप्रमाण होने पर भी उसे किस कारण से सर्वगत न कहा जाये।

यद्यपि उपचार करि आतमा पदार्थन कौं ग्येय ग्यायक संबंध तथापि ग्रहन तजन रूप परनति के अभावतैं अत्यंत जुदागी है, यह कहैं हैं।[3]

(कवित्त)

जे पर रूप तत्त्व पादारथ
तिन्हि कौ ग्रहन करै सु न त्याज।

---

* जदि ते ण सति अट्ठा णाणे णाण ण होदि सव्वगय।
सव्वगद वा णाण कह ण णाणट्ठिया अट्ठा॥ (प्र.सा. गाथा-३१)

१ क प्रति में 'अब ज्यौं ग्येय विषैं ग्यान है त्यौं ग्यान विषैं ग्येय हैं, यह कथन'। २. ख प्रति में नहीं। ३. क प्रति में 'जद्यपि उपचार करि ग्येय ग्याइक सबंध है निस्चै करि ग्रहन के अभावतैं जुदागी दिखावैं है।'

न हि पर रूप परिनमन तिन्हिं कैं
करनें रह्यौ कछू सु न काज ॥
दूरि भऔ आवरन जग्यौ गुन
करम रोग कौ कियौ इलाज।
सहज रूप तिन्हि के सु ग्यान महि
सकल पदारथ रहे विराज ॥६८॥*

अर्थ :— ज्ञान से भिन्न जो तत्त्वरूप पर पदार्थ हैं, उनका ग्रहण और त्याग ज्ञान में नहीं है अर्थात् ज्ञान परपदार्थों का न तो ग्रहण करता है और न ही त्याग करता है। किसी का भी पररूप परिणमन होता ही नहीं है, इसलिए उनको परिणमाने का कोई भी कार्य ज्ञान के नहीं है। जिन्होंनें कर्म रोग का इलाज कर लिया है तथा जिनके ज्ञानावरण कर्म दूर हो गया है। ऐसे उनके सुज्ञान-केवलज्ञान में जगत् के सारे पदार्थ सहजरूप से ऐसे झलकने लगते हैं, मानों उनके ज्ञान में ही विराज रहे हैं।

आगे कोई कहै है कै एक केवलज्ञानकर आतमा जानिये है और ग्यान कर नाहीं तार्थे केवली अरु श्रुतकेवली की समानता दिखावै हैं।[1]

(सवैया इकतीसा)

निश्चै करि भाव श्रुतज्ञान के प्रमान तिन्हि
आतमा स्वरूप सो विसेष करि जान्यौ है।
साहजीक आप नैं सुभाव ही सौं[2] सरवथा
सकल पदारथ कौ भेद पहिचान्यौ है॥
संसारीक परजाय रूपी राति विषैं तत्त्व
देखिवे कौं दीपक समान उर आन्यौ है।
ताही समदिष्टी कौ सु नाम वीतराग जू नैं
स्वपर प्रकासी श्रुत केवली बखान्यौ है ॥६९॥**

---

* गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस॥ (प्र.सा. गाथा-३२)

** जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाण जाणगं सहावेण।
तं सुदकेवलि रिसिणो भणति लोगप्पदीवयरा॥ (प्र.सा. गाथा-३३)

१ क प्रति में "अब केवली श्रुत केवली की समानता कहैं हैं।" २. "सैं" क प्रति में।

अर्थ :– द्रव्य श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्र ज्ञान से आत्मा के स्वरूप का निश्चय करके फिर उसी आत्मा के विशेष स्वरूप को जिन्होंने अपने भाव श्रुतज्ञान द्वारा जान लिया है अर्थात् भाव श्रुतज्ञान स्वरूप स्वानुभव प्रमाण से आत्मानुभूति कर ली है तथा जिनने भाव श्रुतज्ञान स्वरूप अपने ही सहज पर्याय स्वभाव में सभी पदार्थों के भेद या अन्तर को भलीभाँति पहिचान लिया है। सांसारिक पर्याय रूप तत्त्व उन्हें उनके भाव श्रुतज्ञान रूप मन में वैसे ही दिखने-जानने लगे हैं। जैसे रात में दीपक के होने पर पदार्थ दिखने लगते हैं। मतलब यह है कि जैसे रात्रि में पदार्थों का प्रकाशन दीपक के होने पर स्वयमेव होने लगता है, वैसे ही भाव श्रुतज्ञान में सभी पदार्थ स्वयमेव प्रकाशित होने लगते हैं। यहाँ ज्ञान और ज्ञेय अथवा दीपक और पदार्थ इन दोनों ही तत्त्वों की सहज योग्यता को समझ लेना चाहिए। सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी इस योग्यता को जानता है और किसी का कर्ता नहीं बनता मात्र ज्ञाता ही रहता है; इसलिए ही तो वीतरा जिनेन्द्रदेव ने उसको स्व-पर को यथार्थ जानने वाला स्व-पर प्रकाशी श्रुतकेवली तक कहा है।

अब ग्यान के श्रुत रूप उपाधि दूरि करैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

पुग्गल प्रकारी अति भारी उपदेस कारी
स्यादवाद रूपी[1] सो जिनेस जू की वानी है।
जाकौ नाम कह्यौ है निदान[2] द्रव्य श्रुतज्ञान
ताकी[3] रीति[4] भांति आनि ग्रंथनि समानी है॥
सुनिकैं तथापि ताहि निश्चय प्रमान कियो
जानिकैं सुसंतनि सुदिष्टि[5] उर आनी है।
पर परनाम[6] हीन आतमा सुभाव लीन
परम प्रवीन सोई भाव श्रुतग्यानी है ॥७०॥*

---

*सुत्त जिणोवदिट्ठ पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
त जाणणा हि णाण सुत्तस्स य जाणणा भणिया॥ (प्र.सा. गाथा-३४)

१ 'मई' ख प्रति में। २. 'बखान' ख प्रति में। ३ 'जाकी' ख प्रति में। ४ ख प्रति में नहीं है। ५ 'द्रष्टि' ख प्रति में। ६. 'परिणाम' ख प्रति में।

अर्थ :- भगवान् जिनेन्द्र की स्याद्वाद रूपी वाणी भव्य जीवों के लिए उपदेश देने वाली है। भाषा वर्गणाओं से निर्मित शब्द रूप से वह पुद्गलमयी ही है, तथापि अति भारी अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है, उसके समान अतिशय किसी भी वाणी का नहीं होता है। जिनेश जू की इसी वाणी को निदान स्वरूप द्रव्य श्रुतज्ञान कहा जाता है। उपदेश स्वरूप स्याद्वाद वाणी जिस अपेक्षा से कही गयी है, उन्हीं अपेक्षाओं-दृष्टियों से अनेकविध वचन व्यवहारों से आती हुई वह अनेक ग्रन्थों में समाहित है। इसलिए तो ग्रंथों को द्रव्य श्रुतज्ञान कहा जाता है। जो सम्यग्दृष्टि द्रव्य श्रुतज्ञान स्वरूप ग्रंथों को सुनकर और सही विवक्षानुसार उनका निश्चय अपने ज्ञान प्रमाण से करता है, वह मानों संतों की सद् विवक्षा को जानकर उसे अपने हृदय में धारण कर लेता है। ऐसा वह सम्यग्दृष्टि पर के परिणामों से रहित होकर और अपने आत्मस्वभाव में ही लीन होकर परम ध्रुव को जानने में प्रवीण होने से अर्थात् आत्मानुभवी होने से भाव श्रुतज्ञानी कहलाता है।

आगे केई एक वादी ग्यान तैं आतमा कौं भिन्न मानि रहै हैं तिन्हैं निषेधै हैं।[1]

(सवैया इकतीसा)

जानपनौं[2] जीवकौ सुभाव सो तौ ग्यान ही है
तार्थें ग्यान आतमा ही विषैं तहकीक[3] है।
केई एक वादी कहैं ग्यान जुदौ जीव जुदौ
ग्यान के संजोग सौं जनैया सो अलीक है॥
आप ही तैं आपने स्वरूप परिनयो सदा
जद्यपि सुग्येयाकार ग्यान के नजीक है।
ग्यान कौ पसार सो अपार ग्येयाकार रूप
ऐसी जैनधर्म के[4] विषैं कही सु ठीक है॥७१॥*

---

* जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे॥(प्र.सा. गाथा-३५)

१. ख प्रति में – "केई अेक वादी ग्यानतैं आतमा कौं भिन्न मानै हैं तिनिके दूषिवै कौं आतमा कर्ता ग्यान करन है अैसा भिन्न भेद दूर करै है आतमा ग्यायक भेद दिखावै है।" २. "जानिवौ सु" ख प्रति में। ३. "तहतीक" पाठ ख प्रति में। ४. क प्रति में नहीं है।

अर्थ :– जीव का जो भी जानने रूप स्वभाव है, वह तो ज्ञान ही है; इसलिए ज्ञान आत्मा में ही अन्वेषणीय है। वादियों में कोई एक वादी जन ज्ञान और आत्मा (जीव) को अलग-अलग कहते हैं और ज्ञान के समवाय सम्बन्ध स्वरूप संयोग से जीव जानने वाला हो जाता है सो उनकी यह बात अलीक है, असत्य है, क्योंकि आत्मा स्वयं अपने ज्ञान स्वरूप से ही सदैव परिणमित होता है। यद्यपि ज्ञेयों अर्थात् जानने योग्य पदार्थों के आकार रूप परिणमना ज्ञान का अपना ही है। ज्ञेयाकार रूप जो ज्ञान का प्रसार-फैलाव है, वह अपार है अर्थात् ज्ञान अनंत ज्ञेयों को जानता है, तथापि आत्मा के अन्दर ही रहता है। ऐसी ज्ञान और आत्मा की परस्पर भेदाभेद रूप होने की प्ररूपणा जैनधर्म में कही गयी है, सो ठीक ही है।

आगे ग्यान कहा है ग्येय कहा है औसा भेद दिखाइयै है।

(सवैया इकतीसा)

आतमा दरव सो[1] तो ग्यान के स्वरूप सदा
जड़ रूप ग्येय पर दरव अचेत है।
तीनि काल द्रव्य गुन पुनि परजाय लियै
उतपाद नास और ध्रौव्यता समेत है।।
आतमा अनातमा कौ संग्या सो पदारथ की
जीव ग्यानवंत ग्येय जानिवे के हेत है।
अवलंबि[2] ग्येय कौ स्वरूप परिनयौ ग्यान
ग्येयाकार ग्यान कौ अनादि एक खेत है।।७२।।*

अर्थ :– आत्मा द्रव्य तो सदा ज्ञान स्वरूप है और सभी जड़ रूप ज्ञेय पदार्थ अचेतन एवं परद्रव्य हैं। चेतन या अचेतन ये सभी द्रव्य तीनों काल द्रव्य-गुण-पर्याय को धारण करने वाले हैं और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप से

---

*तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्व ति पुणो आदा परं च परिणामसम्बद्धं ।।(प्र.सा. गाथा-३६)

१. "सु" ख प्रति में। २. "अविलंब" ख प्रति में।

सहित हैं। आत्मा और अनात्मा अर्थात् चेतन और जड़ पदार्थ उस उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप पदार्थ की ही परिचायक संज्ञायें हैं। जीव अर्थात् आत्मा ज्ञान स्वरूप वाला है तथा अनात्मा रूप सभी पदार्थ मात्र ज्ञेय रूप हैं, ज्ञेय होने से ही वे ज्ञान के लिए जानने में निमित्तकारण होते हैं। ज्ञेय पदार्थ का अवलंबन लेकर अर्थात् ज्ञेय के जैसे आकार से स्वयं परिणमन करना ज्ञान का स्वरूप है। ज्ञेयाकार रूप ज्ञान ही परिणमता है। अत: ज्ञेयाकार और ज्ञान का क्षेत्र एक आत्मा ही है। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय में तो भिन्नता तथा ज्ञेयाकार और ज्ञान में एक क्षेत्र स्वरूप अभिन्नता समझनी चाहिए।

आगे जे द्रव्यनि के परजाइ अतीत काल अनागत काल विर्षे कहे हैं ते वर्तमानत्व[1] करि दिखाइये हैं।

(सवैया इकतीसा)

जीव द्रव्य पुग्गल धरम अधरम[2] द्रव्य
काल द्रव्य गगन सुभाव जैसौ[3] जब ही।
परजाय तिन्हि के तथापि आगे होहिं[4] गये
हौनहार पीछै और काल विर्षै कब ही।।
जुदे जुदे सहज विराजि रहे केवली के
ग्यान गुन मंदिर मझार आनि सब ही।
जैसें भूत भावी काल सरव[5] तीर्थंकर जे
लिखे चित्र विर्षै वर्तमान देखौ अब ही।।७३।।*

अर्थ :—लोक में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश नामक छह प्रकार के द्रव्य हैं। इनका जब जैसा परिणमने का स्वभाव होता है, तदनुरूप ही उनके अपनी-अपनी पर्यायें होती हैं। द्रव्य में होनेवाली वर्तमान पर्याय के आगे (भविष्य) और पीछे (भूत) के काल में कब-कब, कौन-कौन पर्यायें

* तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जयो तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।।(प्र.सा. गाथा-३७)

१. 'वर्तमान तत्त्व' ख प्रति में। २. 'अधर्म' ख प्रति में। ३. 'जैसें' ख प्रति में। ४. 'होय' ख प्रति में। ५. 'सर्व' दोनों प्रतियों में।

होंगी या हो चुकी हैं। ऐसे सभी द्रव्य अपनी भूत-भविष्य एवं वर्तमान पर्यायों सहित केवली भगवान् के गुण रूपी मंदिर अर्थात् केवलज्ञान में आकर अलग-अलग ही खचित हुए से सुशोभित होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे हम भूतकाल और भविष्यकाल में तीर्थंकरों को वर्तमान काल के तीर्थंकरों के समान ही चित्र में लिखित होने से अब ही अर्थात् अभी वर्तमान में ही जान लेते हैं।

आगे जे पर्जाय वर्तमान नांही तिनिकौ वर्तमानत्व दिखावैं हैं।[1]

(सवैया इकतीसा)

उपजै न अबै आगै उपजि है निश्चै करि[2]
परजाय भेद जे जे होनहार ताही है।
उपजि कैं जिन्हि कौ विनास होय गयौ जेई
जानिवे कौं और के न ठौर कछू याही है।।
याही भाँति उभै जे अनागत अतीत काल
असद्भूत भाव सबै[3] वर्तमान नांहीं है।
आगिले तथा सु पीछिले सु जे न हाल अबै
प्रगटै समस्त केवली के ग्यान मांहीं है।।७४।।*

अर्थ :– जो-जो पर्यायें अभी तक उत्पन्न नहीं हुई हैं, किन्तु आगे के समयों में अवश्य ही उत्पन्न होंगीं वे सभी अपनी-अपनी होनहार के अनुरूप भिन्न-भिन्न हैं तथा जो पर्यायें उत्पन्न हो चुकीं अर्थात् उत्पन्न होकर जिनका विनाश हो चुका है, वे पर्यायें भी अपनी होनहार के अनुसार भिन्न-भिन्न ही हैं। ऐसी अनागत (भविष्य) और अतीत (भूत) काल की पर्यायों को जानने का ठौर-ठिकाना अन्य द्रव्य नहीं है। उनका ठौर-ठिकाना वह द्रव्य ही है, जहाँ वे हुईं थीं या होंगीं। इसप्रकार दोनों ही भूत एवं भविष्य काल की सारी पर्यायें द्रव्य में कथंचित् सद्भूतभाव रूप हैं, किन्तु वर्तमान काल में वे पर्यायें नहीं

---

* जो णेव हि संजादा जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥(प्र.सा. गाथा-३८)

१. ख प्रति में "आगें जे परजाय वर्तमान नांही तिनकी वर्तमान स्वरूप कर दिखावैं हैं।" २. 'निश्चयकरि' ख प्रति में। ३. ख प्रति में नहीं।

पायी जाती हैं अत: कथंचित् असद्भाव रूप भी हैं। भविष्य काल में होने वाले तथा भूतकाल में हुए जो भी भाव हैं, वे भाव अब अर्थात् वर्तमान समय में मौजूद नहीं हैं, इस अपेक्षा से उनका असद्भाव जानना चाहिए। फिर भी वे सभी केवली के ज्ञान में प्रगट-प्रत्यक्ष भासित होते हैं, इसका मतलब यह है कि भूत-भावी पर्यायों का सद्भाव अपने-अपने स्वकाल में सदैव पाया जाता है, जिनको अर्थात् सभी कालों में विद्यमान पर्यायों को केवली भगवान् अपने ज्ञान की सामर्थ्य से वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। इस अपेक्षा भूत-भावी काल की पर्यायों का भी केवली के वर्तमानत्व है, यह समझना चाहिए।

आगे असद्भूत[1] परजाय ग्यान विषैं प्रतक्ष है, यह कथन।

(दोहरा)

होनहार पुनि हो गये जे परजाय निदान।
तिन्हिकैं जानैं विनु सु किम कहिये केवल ग्यान ॥७५॥*

अर्थ :– प्रत्येक द्रव्य में अन्तर्भूत होनहार अर्थात् भविष्यकाल में होने योग्य और भूतकाल में हो चुके जो भी पर्याय समूह हैं, उनको केवली भगवान् प्रत्यक्ष जानते हैं। उनको अर्थात् अतीत, अनागत कालवर्ती पर्याय समूह को जाने विना भगवान् के केवलज्ञान को दिव्य कैसे कहा जा सकता है।

आगे इंद्रिय ग्यांन अतीत अनागत पर्जाय के जांनिवे कौं असमर्थ है, यह कथन।

(सवैया तेईसा)

थूल पदारथ जे[2] नियरे तसु
ग्याइक इंद्रिनि केवल पाँचौं।
निर्मल नांहि फुरै क्रम सौं सु
अवग्रह आदि क्रिया करि मांचौ॥

---

* जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति॥(प्र.सा. गाथा-३९)

१. 'सद्भूत' ख प्रति में। २. 'वे' ख प्रति में।

जानत जो न[1] अतीत अनागत
वस्तु महा असमर्थ असांचौ।
सो वह ग्यान परोछ प्रमान
नही सम केवल ग्यान सु लांचौ ।।७६।।*

अर्थ :– पाँचों इन्द्रियाँ तो केवल उन स्थूल पदार्थों को जानने वाली हैं, जो उनके सन्निकट होते हैं, उनके द्वारा जानने में निर्मलता स्पष्टता भी नहीं होती है तथा क्रम-क्रम से विषयभूत पदार्थों का ही जानना अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा रूप मतिज्ञान की क्रमिक क्रिया पूर्वक होता है। इस प्रकार जो इन्द्रिय ज्ञान अतीत-अनागत पर्याय सहित वस्तु को नहीं जानता है, वह इन्द्रिय ज्ञान वस्तु को जानने में असमर्थ ही समझना चाहिए। भूत भविष्य की पर्यायों से रहित केवल वर्तमान पर्याय सहित वस्तु का जानना तो सर्वांग वस्तु की अपेक्षा असत्य जानना है, इसलिए उस इन्द्रिय ज्ञान को परोक्ष प्रमाण अर्थात् अस्पष्ट (ईषत् स्पष्ट अथवा कथंचित् स्पष्टता रहित) ज्ञान कहा गया है। वह कतई केवलज्ञान के समान नहीं हो सकता है, क्योंकि केवलज्ञान अतीन्द्रिय होने के साथ प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है।

आगे अतीन्द्रिय ज्ञान सबको जानै है, यह कथन।

(छप्पय)

रहित प्रदेस अभेद[2] अनू सूछम सु कालकिय।[3]
अरू प्रदेस संजुक्त भेद पंचास्तिकाय[4] इय।।
पुद्‌गल मूरतिवंत सुद्ध जीवादि अमूरति।
तीनि काल परजाय सहित तिन्हि की निज सूरति।।

---

* अत्थ अक्खणिवदिद ईहापुव्वेहिं जे विजाणति।
तेसिं परोक्खभूद णादुमसक्कं ति पण्णत्तं।।(प्र.सा. गाथा-४०)

१ 'नि' ख प्रति में। २. 'अभेस' क प्रति में। ३. 'सुहकालिक' ख प्रति में। ४. 'पंचरत्तसुकायक' ख प्रति में।

सब ही प्रतक्ष जिहि ग्यान महि सहजरूप निवसै सु ध्रुव।
जो परम अतिंद्रिय पद प्रगट कह्यौ भाषि भगवंत जुव ॥७७॥*

अर्थ :– काल द्रव्य या कालाणु सूक्ष्म अभेद-अनाकार और एकाधिक प्रदेशों से रहित होने के कारण अप्रदेशी कहा गया है तथा पंचास्तिकाय अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – ये पाँचों द्रव्य बहुप्रदेशी होने से भेदरूप और सप्रदेशी कहे गये हैं। इनमें पुद्गलद्रव्य मूर्तिक पदार्थ हैं तथा शेष शुद्ध जीव, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य अमूर्तिक-अरूपी पदार्थ हैं। इन सभी द्रव्यों की तीनों कालों की पर्यायें हैं, जिन्हें शामिल करके ही अर्थात् उन पर्यायों से सहित ही इन द्रव्यों की अपनी-अपनी सूरत-शकल अर्थात् स्वरूपास्तित्व की धारणा सुनिश्चित होती है। ये सारे ही द्रव्य जिस ज्ञान में प्रत्यक्षपने सहज रूप से रहते हैं अर्थात् झलकते हैं, उसे केवलज्ञान समझना चाहिए। प्रत्येक समय केवलज्ञान में इन्हीं इन्हीं का जानना अनंत काल तक चलता रहता है, इसलिए कहा जा सकता है कि इन द्रव्य रूप ज्ञेयों ने सहज रूप से ही केवलज्ञान में अपना ध्रुव-स्थायी निवास बना लिया है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान में सभी ज्ञेय पदार्थ हर समय अनंत काल तक सदैव जानने में आते रहते हैं। इस सामर्थ्य वाला जो परम या पारमार्थिक प्रगट-प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप केवलज्ञान है, उसको ही परम अतीन्द्रिय पद अर्थात् परमोत्कृष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान कहा जाता है। यह भाख यानि बात भगवंत जू की जाननी चाहिए।

आगे छाईक अतिंद्रिय ग्यान कौ इष्ट अनिष्ट पदारथनि विषैं सविकल्प[1] रूप क्रिया नाहीं, यह कथन।

(अडिल्ल)

परनति ग्येय विकल्प लियैं तसु जान में
पराधीन कहिये सु न केवलज्ञान में।

---

* अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥(प्र.सा. गाथा-४१)

१. 'विकल्प' ख प्रति में।

'करम योग बन भोगहार'[1] सो आतमैं
जिनवर कही न फेर कछू इहि बात में ।।७८।।*

अर्थ :– इन्द्रिय ज्ञान में ज्ञेयों की परिणति इष्टानिष्टादि अनेक विकल्पों सहित होती है, इसलिए वह पराधीन ज्ञान है; किन्तु केवलज्ञान ऐसा नहीं है। वह क्षायिक एवं अतीन्द्रिय होने से पूर्ण एवं राग-द्वेष का अभाव होने से इष्टानिष्ट के विकल्पों से रहित ही ज्ञेय पदार्थों को जानता है। कर्म का उदयादि तथा आत्मप्रदेशों के प्रकम्पन स्वरूप योग परिणति जिस आत्मा की जैसी होती है, वह उसके अनुसार इन्द्रियज्ञान आदि की पराधीनता को भोगनेवाला है। कर्मोदय और योग परिणति के यथायोग्य अभाव में स्वाधीनता को भी भोगता है। जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कही गयी इस बात में कुछ भी, थोड़ा भी अन्तर-फर्क नहीं होता है।

आगे ग्यान बंध कौ कारन नांहीं ग्येय विषैं जु है राग-द्वेष परनति सौं[2] बंध कौ कारन है, यह कथन।

(सवैया तेईसा)

पूरब जो कृत[3] कर्म उदै फल
इष्ट अनिष्ट पदारथ कोई।
तौ पुनि या जग में निहचै[4] करि
कै पुनि[5] बंध कौ हेतु न सोई।।
बंध कौ हेतु मिलै जब मोह
सुराग विरोध जथारथ दोई।
यौ निरधार सुनौ भविसार सु
ग्यान न बंध कौ कारनु होई।।७९।।**

---

* परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइग तस्स।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंत कम्ममेवुत्ता।।(प्र.सा. गाथा-४२)

** उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि।।(प्र.सा. गाथा-४३)

१. 'कर्म जोग भोगवनहार' क प्रति में। २. 'तिहिसौं' ख प्रति में, ३. 'कृति' ख प्रति में। ४. 'निरचै' ख प्रति में। ५. 'फिर' ख प्रति में।

अर्थ :– पूर्व में किये गये कर्मों का उदय आने पर फलस्वरूप जो कोई भी इष्ट-अनिष्ट पदार्थ इस जगत् में जीव को प्राप्त होते हैं, वे पदार्थ परमार्थतया जीव को बंध का कारण नहीं होते हैं। वे बंध के कारण तो तब होते हैं, जब जीव उन पदार्थों के प्रति स्वयं मोह-राग-द्वेष के परिणाम करता है। यथार्थ को सुनकर भव्यजनों को सारभूतपने से यह निर्धारण करना चाहिए कि पदार्थ एवं पदार्थों का ज्ञान बंध का कारण नहीं है।

आगे केवली कैं कर्म कौ उदौ है जोग क्रिया भी है। राग दोष के अभाव तैं बंध नांहीं, यह कथन।

(कुण्डलिया)

किरिया जिनवर देव के उदै काल तिहि वार।
त्रिविध रूप अस्थान तह आसन कर्म विहार॥
आसन कर्म विहार धर्म उपदेसत भारी।
सो सबकौं निश्चै प्रमान करि कैं हितकारी॥
मायाचार मझार सहज वरतै जिम तिरिया।
सहजरूप उदईक जिनेस्वर कैं जिम किरिया॥८०॥*

अर्थ :– अघातिया कर्मों के यथायोग्य उदयकाल में जिनेन्द्र भगवान् के तीन प्रकार की क्रियायें होती हैं। वे क्रियायें हैं – १. खड़े होना (खड्गासन), २. बैठना (पद्मासन) और ३. विहार (गमन)। इनके अलावा केवली जिनेन्द्र तीर्थंकर प्रकृति के उदयवशात् तीन बार अतिशयकारी दिव्यध्वनि स्वरूप धर्मोपदेश भी देते हैं। उनका वह धर्मोपदेश हम सबके लिए निश्चय-यथार्थ नय की विवक्षा से प्रमाण की मर्यादा में प्रमाण करना अर्थात् जानना-समझना, हितकारी होता है। जिनेन्द्र भगवान् की ये औदयिक क्रियायें सहज रूप मे वैसे ही होती हैं जैसे मायाचार में स्त्री (तिरिया) सहज रूप से अर्थात् स्त्रियोचित स्वाभावानुसार विना प्रयत्न के ही प्रवर्तती है।

---

* ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं॥(प्र सा. गाथा-४४)

आगे अरहंत कैं पुण्य[१] कर्म को उदौ बंध कौ कारन नाहीं, यह कथन।

(कवित्त छन्द)

तीर्थंकर परकति सु पुण्य फल
उदै जासु[२] पदवी अरिहंत।
जाके विषैं विहार दिव्यध्वनि
आदि त्रिविध किरिया निहचंत।।
सो उदईक मोह छय के बल
उपजी राग दोष करि अंत।
निर्फल सदा अबंध सु कारन
छाइक[३] कही भाखि भगवंत।।८१।।*

अर्थ :—तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्य है, जिसका उदय होने पर अरिहंत पदवी स्वरूप विशेष फल प्राप्त होता है अर्थात् तीर्थंकर प्रकृति का फलोदय अरिहंत अवस्था में ही प्राप्त होता है। उस अरिहंत अवस्था में केवली का विहार, दिव्यध्वनि का खिरना, उठना-बैठना (आसन) आदि त्रिविध क्रियायें निश्चित ही कर्मोदय के अनुरूप होती हैं। सो उनकी ये क्रियायें औदयिक हैं तथा मोह का क्षय हो जाने के बल से एवं राग-द्वेष का सर्वथा अभाव-अंत-विनाश हो जाने पर होती हैं; इसलिए भगवान् के उपदेश में उसे भगवान् या तीर्थंकर के लिए निष्फल, अबंध रूप और क्षायिक ही कहा गया है।

आगे जैसें केवली कैं परिनाम विकार नांही तैंसैं और जीवनि कैं परिनाम विकार का अभाव नांही यह कथन।

(गीतिका छन्द)

जो जीव आप सुभाव करि सुभ असुभ आपु न होइ[४]।
तौ मानियै सब सुद्ध[५] संख मती कहै जिम कोइ[६]।।

---

* पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा।।(प्र सा गाथा-४५)

१ ख प्रति में नहीं। २ 'तासु' क प्रति मे। ३ 'छायक' ख प्रति मे। ४. 'होय' ख प्रति में। ५. ख प्रति में नहीं। ६ 'कोय' ख प्रति में।

इहि[1] बात में जग सून सब जिय मुक्तिमय स्वयमेव।
तातैं सुभासुभ सहित सब जिय रहित जिनवर देव ॥८२॥*

अर्थ :– यदि जीव अपने परिणमन स्वभाव से स्वयं शुभ या अशुभ भाव वाला न होय तो सभी संसारी जीव निश्चय से शुद्ध ही मानने होंगे, ठीक वैसे ही जैसे कोई सांख्यमती जीव को शुद्ध ही कहते हैं। यह बात मान लेने पर जगत् शुभ-अशुभ भाव वाले संसारी जीवों से शून्य हो जायेगा किन्तु सभी संसारी जीव तो शुभाशुभ भावों से सहित ही होते हैं और सभी जिनवरदेव शुभाशुभ भावों से रहित होते हैं।

आगे अतिंद्रिय ग्यान सबकौ ग्याइक[2] फेरि दिखावै है।

(सवैया तेईसा)

भूत भविष्यत वा सदभूत
लियै लछमी सु विचित्र पसारा।
मूरतिवंत तथा सु अमूरति
भेद सु और अनेक प्रकारा॥
सो सब एक समै महि तत्त्व
सही सबकौ सु पिछानन हारा।
केवलज्ञान कह्यौ जिन जानि
सु लोक अलोक विलोकनहारा[3] ॥८३॥**

अर्थ :– भूत, भविष्यत और वर्तमान को लिए हुए अर्थात् तीनों कालों की पर्यायों सहित नानाविध वैचित्र्य वाली पदार्थ सम्पदा जगत् में सर्वत्र व्याप्त है अर्थात् फैली हुई है। उसमें मूर्तिक पुद्गलों तथा अमूर्तिक जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में जो अनेक प्रकार से ज्ञेयपना मौजूद है सो

---

* जदि सो सुहो वा असुहो ण हवदि आदा सय सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं॥(प्र.सा. गाथा-४६)

** ज तक्कालियमिदर जाणदि जुगव समतदो सव्व।
अत्थं विचित्तविसम त णाणं खाइगं भणियं॥(प्र.सा. गाथा-४७)

१. 'यह' ख प्रति में। २. ख प्रति में नहीं। ३. 'विलोकनधारा' क प्रति में।

उन सबको एक समय में ही तत्त्वरूप से सही जानने-पहिचानने वाला केवलज्ञान है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। वह केवलज्ञान प्रतिक्षण लोक-अलोक सबको जाननेवाला है।

आगे जो सबकौं न जानै सो एक कौं न जानैं यह कथन।

(सवैया तेईसा)

तिष्ठत जे सब लोक मझार
पदारथ भेद लियैं गुन न्यारे।
ते सु अतीत अनागत काल
भए सु अवै पुनि वर्तन वारे॥
एक हि वार नहीं जिय जे निजु
कैं सबकैं सु पिछानन हारे।
जानत जे न पदारथ एक सु
जा महि सर्व पदारथ धारे॥८४॥*

अर्थ :– लोक में जो भी पदार्थ स्थित हैं, वे सब अपने न्यारे-न्यारे गुणों को लिए हुए हैं, परस्पर भिन्न हैं तथा वे सभी पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायों से अतीत काल में परिणमित हुए हैं, अभी वर्तमान में परिणमित हो रहे हैं और अनागत-भविष्यकाल में होते रहेंगे। ऐसे उन सभी ज्ञेय पदार्थों को ज्ञेयाकार रूप से अपने ज्ञान मे जो जीव (आत्मा) प्रतिबिम्बित-परिणमित कर जानता है, वह सभी पदार्थों को जानता है, ऐसा यहाँ सबको जानने का तात्पर्य समझना जरूरी है। जिस आत्मपदार्थ ने लोकालोकगत सारे पदार्थों को प्रतिबिम्बपने ज्ञेयाकाररूप से परिणमित अपने स्वकीय ज्ञान में धारण कर रखा है, ऐसे उस एक आत्मपदार्थ को जो नहीं जानता है वह आत्मा में प्रतिबिम्बित सबको भी नहीं जानता है। अपने स्वभाव की उपेक्षा करनेवाला होने से वह अपनी एक आत्मा को भी नहीं जान सकता है। इसी प्रकार सबके सब ज्ञेय पदार्थों को पिछानन हारे अर्थात् अपने में प्रतिबिम्बित सभी ज्ञेय पदार्थों को जानने वाले

* जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥(प्र.सा गाथा-४८)

निज को जो एक बार भी नहीं जानता है, वह सबको भी नहीं जानता है, क्योंकि सब पदार्थ जिसमें प्रतिबिम्बित हैं उस अपनी आत्मा को भी वह नहीं जानता है।

आगै जो एक कौ न जानै सो सबकौं न जानैं यह कथन।

(सवैया तेईसा)

जे परजाय अनंत भए इक
ग्यान विसुद्ध मझार समानैं।
ग्याइक सक्ति विषैं अपनी पुनि
जे जिय जाहि नहीं पहिचानैं॥
जे सब द्रव्यनि के सु समूह
सदा अपनै अपनै सु ठिकानै।
जे न पदारथ जानत एक सु
एक ही वार सबै किम जानै॥८५॥*

अर्थ :– एक-एक द्रव्य या पदार्थ की जो त्रिकालवर्ती अनंत पर्यायें हैं, उन सहित सभी द्रव्य जिस निर्मल केवलज्ञान में समाये हुए हैं अर्थात् प्रतिबिम्बित होते हैं – ऐसी केवलज्ञान की ज्ञायक शक्ति हर जीव के ज्ञान में होती हैं। उस अपनी ज्ञायक शक्ति के विषय में जानकारी करने के लिए जो जीव ज्ञान या ज्ञायकशक्ति सम्पन्न अपनी आत्मा की पहिचान नहीं करते हैं। वे सब पदार्थों को जान नहीं पाते हैं, क्योंकि लोक में जो भी द्रव्य समूह है अर्थात् अपने गुण-पर्यायों सहित अनंतानंत पदार्थ हैं, वे तो अपने-अपने स्थान पर ही रहते हैं। वे ज्ञान में नहीं आते हैं और न ही ज्ञान उन पदार्थों में जाता है; इसलिए जो अपनी ज्ञायकशक्ति से सम्पन्न अपनी एक आत्मा को नहीं जानता है, वह एक ही बार में अर्थात् युगपत् सारे लोकालोक को अर्थात् सभी ज्ञेय पदार्थों को कैसे जानेगा अर्थात् नहीं जानेगा।

---

* दव्वं अणत पज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणादि जदि जुगव किध सो सव्वाणि जाणादि॥(प्र.सा. गाथा-४९)

आगे जो ग्यांन पदार्थनि कौं क्रम करि जानै है सो सर्वगत नाहीं यह कथन।

(सोरठा)

क्रम करि उतपति जांन पादारथ अविलंबि तसु।
विनासीक सो ज्ञान छाइक नहीं न सर्वगत ॥८६॥*

अर्थ :— केवलज्ञानी के भी यदि पदार्थों का अवलंबन लेकर क्रम-क्रम से ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाये तो वह ज्ञान विनाशीक-अनित्य हो जायेगा, क्षायिक भी नहीं हो सकेगा तथा सर्व को जाननेवाला भी नहीं होगा।

आगे जो ग्यान एक ही समैं सबकौं जानै है तिस ग्यान करि सरवग्य पद की सिद्धि है यह कथन।

(छप्पय)

जो त्रिकाल करि विषम अवर परकार भेद धुअ।
पुनि समस्त सब लोक मांहि निवसत प्रसिद्ध हुअ॥
जाति विविध बहुभाँति सहज स्वयमेव सुलक्षन।
पादारथ जे ग्येयभूत समझौ सु विचक्षन[1]॥
युगपत सबै सुभासै सु पुनि दिष्टि विषैं भगवान् की।
देखौ सुभव्य जग महि प्रगट महिमा केवलज्ञान की ॥८७॥**

अर्थ :— जो पदार्थ अपनी-अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों के कारण विषम हैं और अनेक प्रकार के गुण भेदों से ध्रुव हैं। ऐसे ये सभी पदार्थ लोक में स्वयं सिद्ध अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसिद्ध होते हुए रहते हैं। वे पदार्थ जीव, पुद्‌गल आदि विविध जाति स्वरूप हैं तथा अनेक प्रकार के स्व लक्षणों से युक्त स्वयं ही सहजपने से लोक में जो भी पदार्थ हैं उन सभी पदार्थों को हे चतुरजन ! तुम ज्ञेय स्वरूप अर्थात् ज्ञान द्वारा जानने योग्य समझो। ये सभी पदार्थ भगवान् की दिव्यदृष्टि में अर्थात् केवलज्ञान परिणति में युगपत् एकसाथ

---

* उप्पज्जदि जदि णाण कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
त णेव हवदि णिच्च ण खाइग णेव सव्वगद॥(प्र.सा. गाथा-५०)

** तिक्कालणिच्चविसम सयल सव्वत्थसंभव चित्त।
जुगव जाणदि जोण्ह अहो हि णाणस्स माहप्प॥(प्र.सा. गाथा-५१)

१ 'विजक्षन' क प्रति मे।

जान लिये जाते हैं। जगत् में केवलज्ञान की ऐसी प्रगट महिमा को है सुभव्य ! तुम अच्छी तरह देख-समझ लो।

आगे केवली कैं ग्यान क्रिया है, परंतु क्रिया कौ फल बंध कौ कारन नाहीं, यह कथन।

(चौपई छंद)

पर पद रूप न परनति जासा ग्रहैं न फिर उपजैं तिहि पासा।
निश्चय नय प्रमान करि ग्याता तिहि कारन सु अबंध विधाता ॥८८॥*

अर्थ :– जिनके ज्ञान की परिणति पर पद अर्थात् ज्ञेय पदार्थ रूप नहीं होती है, न ही ज्ञान पर-पदार्थों को ग्रहण करता है, न उनसे उपजता है और न ही उनके पास जाता है। विधाता या भगवान् का ज्ञान जैसी वस्तु है उसी प्रमाण यथार्थ परिणमन कर जानता है अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयों का आकार प्रतिबिम्बित होता है, ऐसी यथार्थतः ज्ञान की स्वपरिणति है, जिससे वह ज्ञेयपदार्थों से उत्पन्न हुए विना या उनमें गये विना या उन्हें अपने में लाये विना जान लेता है। भगवान् अपने ऐसे ज्ञान स्वभाव से ज्ञाता होते हैं, अतः उन्हें ज्ञेय पदार्थों के प्रति मोह-राग-द्वेष नहीं होता है और न ही किसी प्रकार का कर्तृत्व होता है। अतः वे मात्र ज्ञाता होने से अबंधक ही होते हैं।

[इति श्री प्रवचनसार[1] सिद्धान्तस्य[2] भाषायां देवीदासविरचितः[3] ग्यानाधिकारः संपूर्णः ।][+]

आगे ग्यान सुख जुदा नाहीं तिसका अधिकार कही हौं।

(दोहरा)

कौन ग्यान सुख हेय है उपादेय पुनि कौन।
ग्यान सुख वरनौं सुनौ भव्य सु[4] भेद ये दौन ॥८९॥

---

* ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥(प्र.सा. गाथा-५२)

१. 'वचनसार' क प्रति में। २. 'सिद्धान्त' ख प्रति में। ३ 'विरच्यते' दोनों प्रतियों में। ४. ख प्रति में नहीं है तथा क प्रति में वरनौं के पहिले है।

[+] यह पंक्ति दोनों प्रतियों में उपलब्ध है जो अशुद्ध प्रतीत होती है; क्योंकि ज्ञानतत्त्व अधिकार यहाँ समाप्त नहीं हुआ है।

अर्थ :– इन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा इन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय सुख की अपेक्षा यहाँ ज्ञान एवं सुख को द्विविध जानकर विचारार्थ जिज्ञासा की गई है कि कौन-सा ज्ञान एवं सुख हेय अर्थात् छोड़ने योग्य है ? और कौन-सा ज्ञान एवं सुख उपादेय अर्थात् अपनाने योग्य है ? यहाँ कवि कह रहा है कि मैं ज्ञान और सुख के हेयोपादेयपने का वर्णन मूल ग्रंथ प्रवचनसार के अनुसार कर रहा हूँ सो हे भव्य तुम इन दोनों के भेद अर्थात् अन्तर को अच्छी तरह सुनो।

(सवैया इकतीसा)

इंद्रिय विकार विना ग्याता जो पदारथ कौ
स्वारथ निदान महा सो अमूरतीक है।
पराधीन जानपनौ इंद्रिय विकल्प लियै
मूरतीक सहित म्रजाद विनासीक है।।
ताही भांति ज्ञान ताही ज्ञान के समान सुख।
परम अतिंद्री एक इंद्रिय सरीक है।
ग्यान के प्रमान दोइ प्रगट बताये सोइ
तिन्हि मैं पुनीत सो पिछानिवे कौ ठीक है।।९०।।*

अर्थ :– इन्द्रियों के अवलम्बनरूप विकार के विना ही जो ज्ञान पदार्थों को जानने वाला (ज्ञाता) होता है, वह महान् (अतीन्द्रिय) ज्ञान स्वाधीन अर्थात् स्वयं की योग्यता रूप कारण से ही जाननेवाला होने से अमूर्तीक अर्थात् अमूर्त आत्मा को जाननेवाला होता है तथा इन्द्रियों के विषय-विकल्पों को लिये अपनी मर्यादा सहित विषय मात्र को जानने से जिसका जानना पराधीन है, वह विनाशीक इन्द्रिय ज्ञान मूर्तिक अर्थात् रूपी पदार्थ मात्र को जाननेवाला होता है। जिसप्रकार ज्ञान के ये दो भेद हैं, उसी भाँति उसी के समान सुख भी है। एक परम अतीन्द्रिय सुख है और दूसरे सुख में इन्द्रियाँ सरीक हैं अर्थात् वह

---

* अत्थि अमुत्त मुत्त अदिंदिय इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च त णेयं।।(प्र.सा गाथा-५३)

इन्द्रिय विषय जन्य इन्द्रिय सुख है। इसप्रकार इन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय ज्ञान नामक ज्ञान के जो दो प्रगट भेद बताये हैं, वैसे ही सुख के भी समझना चाहिए तथा उनमें से जो ज्ञान एवं सुख पुनीत-पवित्र है, वही पहिचानने-जानने या अपनाने के लिए ठीक है।

आगे अतिंद्रिय सुख कौ कारन अतिंद्रिय ग्यान कौं उपादेय दिखावैं हैं।

(छप्पय)

धर्म अधर्म अकास काल आतम अमूरतिय।
मूरति परमानु सु आदि लघु भेद कहाइय[1]॥
द्रव्य क्षेत्र पुनि काल भाव करि गुप्त जे सु अनु।
अरु स्वगेय परगेय पंच परकार आदि तनु॥
इहि भांति पदारथ जे सरव ग्येय स्वरूप बखानिये।
सो ग्यांन प्रतक्ष प्रकार करि प्रगट चराचर जानिये॥११॥*

अर्थ :– धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और आत्मद्रव्य अमूर्तिक हैं तथा जिसका आदि एवं लघु भेद परमाणु है, ऐसा पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अणु अत्यंत गुप्त पदार्थ है अर्थात् इंद्रिय ज्ञान से जानने में नहीं आता है। वह अति सूक्ष्म अणु, स्थूल तनु (शरीर) एवं उपर्युक्त पंच प्रकार वाले अमूर्तिक द्रव्य ज्ञान के लिए परज्ञेय ही हैं तथा ज्ञानाधिकरण स्वरूप स्व आत्मा ज्ञान के लिए स्वज्ञेय ही है। इस प्रकार जगत् में जितने भी पदार्थ या द्रव्य हैं, वे सभी ज्ञेय स्वरूप बताये गये हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान उन सभी चराचर पदार्थों को प्रत्यक्षपने प्रगट जानता है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है।

आगे इंद्रिय सुख कौ कारन इंद्रिय ग्यान कौ हेय कहैं हैं।

---

* जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं॥(प्र.सा. गाथा-५४)

१. 'अतिंद्रिय' ख प्रति में।

(सवैया इकतीसा)

जीव द्रव्य आपनै सुभाव सौं सपर्श रस
गंध वर्ण बिना जो सदा अमूरतीक है।
सो अनादि बंध परिजाय की सुअपेक्षा[1] सौं
'मूरतीक देह के मिलाप जैसें लीक है'[2] ॥
धरैं द्रव्य इंद्री[3] ग्यान उतपत्य[4] को निमित्त
थूल मूरतीक वस्तु ग्राहक नजीक है।
क्रम सौं अवग्रहादि क्रिया करि जानैं ताहि।
अथवा न जानैं तातैं हेय तहकीक है ॥१२॥*

अर्थ :— जो जीव द्रव्य स्पर्श-रस-गंध-वर्ण रहित अपने स्वभाव से सदा ही अमूर्तिक है, वह ही जीव अनादि बंध पर्याय की अपेक्षा मूर्तिक देह का मिलाप होने से वैसे ही मूर्तिक है, जैसे कोई रेखा या चिन्ह-विशेष मूर्तिक होता है। इसप्रकार आत्मा मूर्तिक इन्द्रिय को धारण करने से इन्द्रिय ज्ञान स्वरूप होता है। इन्द्रिय ज्ञान अपनी ज्ञप्ति निष्पत्ति में निमित्त कारण स्थूल मूर्तिक और समीपवर्ती मर्यादानुगत नजदीक में विद्यमान वस्तु को ही जानने वाला है तथा वह अवग्रह-ईहा आदि क्रिया पूर्वक क्रम से अवग्रहादिक ज्ञान के विषय स्वरूप पदार्थ को ही जान पाता है अथवा नहीं भी जान पाता है, इसलिए इन्द्रियज्ञान हेय है। यहाँ यह तहकीकात अर्थात् अनुसन्धान पूर्वक कही गयी मार्मिक बात समझायी गयी है।

आगे इंद्री मूरतीक पदार्थ कौं जानै है तथापि एक ही बार जानिवै कौं असमर्थ है, यह कथन।

(कवित्त छन्द)

सपरस रस अरु वरन गंध
पुनि विषय शब्द ये पंच प्रकार।

---

* जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणदि ॥(प्र.सा. गाथा-५५)

१ 'प्रेक्ष्य' ख प्रति में। २ क प्रति में नहीं। ३. 'इंद्रिय' ख प्रति में। ४. 'उतपति' ख प्रति में।

एक एक इंद्री तिनि विषयनि
जुदे-जुदे[1] करि भुगतनहार[2]॥
सब ही विषैं तथा सब इंद्री
गहि[3] न सकैं सु एक ही बार।
पुतली फिरै सिताव एक जिम
वाइस के दो नैन मंझार॥१३॥*

अर्थ :– स्पर्श, रस, गंध, वर्ण (रूप) और शब्द – ये पाँच प्रकार के विषय क्रमशः स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों के हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषयों को ही जानने में निमित्त होती है। कोई इन्द्रिय किसी भी अन्य इन्द्रिय के विषय को नहीं जान सकती है, सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को जुदे-जुदे समय में ही जाननहार हैं। एक समय अथवा एक बार में स्पर्शन आदि में से कोई एक इन्द्रिय अपने नियत एक विषय को ही जान सकती है। सभी विषयों को सभी इन्द्रियाँ नहीं जान सकती हैं। जैसे वाइस अर्थात् कौए की दोनों आँखों के बीच में एक ही पुतली होती है और वह जल्दी ही दोनों आँखों में फिरती है अर्थात् जब कौआ बायीं आँख से देखता है तो उसमें रहती है तथा दायीं से देखता है तो उसमें चली जाती है। जिस आँख में पुतली होती है, वह उसी आँख से देख सकता है दूसरी आँख से नहीं। यहाँ इस दृष्टान्त से यह समझना है कि कौए की दोनों आँखों में से एक समय में एक ही आँख जानती है, वैसे ही जीव की पाँचों इन्द्रियों में से एक समय में एक ही इन्द्रिय जानती है तथा पुतली दोनों आँखों में जिसप्रकार से शीघ्र जल्दी-जल्दी फिरती रहती है, वैसे आत्मा का क्षयोपशमलब्धि जन्य ज्ञानोपयोग सभी इन्द्रियों में जल्दी-जल्दी शीघ्र ही पलटता रहता है। इसप्रकार इन्द्रियों के अधीन होकर सीमित विषय को अपूर्ण जाननेवाला इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष होने से हेय समझना चाहिए।

---

* फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति।
अक्खाण ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति॥(प्र.सा. गाथा-५६)

१. 'जुदे' मात्र ख प्रति में। २. 'भुगतहार' क प्रति में। ३. 'गहि' क प्रति में।

आगे इंद्रिय ग्यान प्रत्यक्ष नाहीं, यह कथन।

(दोहरा)

जड़ सुभाव संजुक्त है करन पंच पर सोइ।
तिनि करि जो जांननपनौ क्यौं प्रतक्ष पुनि होइ ।।९४।।*

अर्थ :– पाँचों इन्द्रियाँ जड़-पुद्गल स्वभाव से संयुक्त हैं अर्थात् जड़-अचेतन या पौद्गलिक हैं। अतएव आत्मा के लिए पर हैं, उन जड एवं पर इन्द्रियों से आत्मा का जो जानपना है अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष क्यों हो। पर की अपेक्षा लेकर जानने वाला ज्ञान परोक्ष ही कहलाता है।

आगे परोक्ष ग्यान का लक्षन दिखावैं हैं।

(कवित्त)

मनतैं बहुरि पंच इंद्रिनि तैं
सूरजादि दुति भयै प्रकास।
खय उपसम सु लब्धितैं अथवा
उपजै करि पूरव अभ्यास ।।
इहि प्रकार पर के निमित्त तैं
जगत मांहि उतपति है जास।
जाको नाम परोक्ष ग्यान सो
देखो प्रगट सकल जग पास ।।९५।।**

अर्थ :– मन से, पाँचों इन्द्रियों से, सूरज आदि की द्युति-प्रभा का प्रकाश होने से, क्षयोपशम लब्धि के होने से अथवा पूर्व में जानने के अभ्यास से संचित धारणा से जो उपजता है अर्थात् इस प्रकार के पर निमित्तों से जगत् में जिसकी उत्पत्ति है, उस ज्ञान को परोक्ष कहते हैं– ऐसे इस परोक्ष नामक इन्द्रिय ज्ञान को जगत् में सभी जीवों के पास प्रगट रूप से देखा जा सकता है।

आगे प्रत्यक्ष ग्यान कौ लक्षन कहैं हैं।

---

* परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ।।(प्र.सा. गाथा-५७)

** जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु। (प्र.सा. ५८ का पूर्वार्द्ध)

(चौपई)

निरमल पर सहाइ बिनु सोई। आपु आपु करि परगट[1] होई॥
एक समै मझार सब जानैं। सो केवल केवली बखानैं॥९६॥*

अर्थ :– पर अर्थात् आत्मा से भिन्न इन्द्रियादिक की सहायता के बिना जो अपने आप ही अर्थात् आत्माधीन होकर ही निर्मल-स्पष्ट प्रगट रूप से प्रादुर्भूत होता है और सबको एक समय में ही जान लेता है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान केवल (अकेले) केवली भगवान् के ही कहा गया है।

आगे यही अतींद्रिय ग्यान प्रत्यक्ष निश्चय करि सुख है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

उतपत्य जाकी पराधीन बिना आप ही तैं
परम संपूरनता करिकैं सहित है।
सकल पदारथ के विषैं जो पसारू जाकी
सदा काल निर्मल विभावता अहित है॥
'अथवा अवग्रह ईहा अवाइ धारनादि
सवै क्रमवर्ती क्रिया करिकैं रहित है।'[2]
ऐसो ग्यान निश्चै करि सोई सो अतिंद्री सुख
तीनि लोक के सु इंद्र करिकैं महित है॥९७॥**

अर्थ :– जिसकी उत्पत्ति पराधीनता के विना अपने आप से है तथा जो सम्पूर्ण ज्ञेयों को विषय करने वाला होने से परमपने से सहित है। जिसका प्रसार सकल पदार्थों में है अर्थात् सकल पदार्थ जिसके ज्ञेय है और जो सदाकाल निर्मल एवं विभावता से अगृहीत है अथवा अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणादि जो क्रमवर्ती ज्ञान की क्रियायें-अवस्थायें हैं, उन सबसे रहित है। निश्चय ही ऐसा जो ज्ञान है सो वह अतीन्द्रिय सुखमय है और तीन लोक के इन्द्रों से पूजित है।

---

* जादि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं। (प्र.सा. ५८ का उत्तरार्द्ध)

** जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं॥(प्र.सा. गाथा-५९)

१. 'पर प्रगट' ख प्रति में। २. क प्रति में नहीं।

आगे केई मूढ ऐसो जानते होंहिंगे कै केवली कैं जानपने रूप परिनाम करि खेद उपजता होहिगा तातैं निश्चै करि सुख नाहीं ताकौ निषेधैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

सोई ग्यान केवल अनोपम उदोतकारी[1]
सोई सुख इन्हि[2] की सु सहज अभेदता।
सुख ही स्वरूप परिनमन प्रकासवंत
आदि अंत सब ही पदारथ के वेदता॥
ऐसो सुद्धबोध जाकी प्रापति[3] सु आप ही तैं
सहित निराकुल सुभाव सो उमेदता।
घातिया सु कर्म चार मूल सत्तायैं प्रहार
करैं तायैं केवली कैं नहीं खिन्न-खेदता[4] ॥९८॥*

अर्थ :– जो ज्ञान अनुपम उद्योतकारी अर्थात् लोकालोक को जानने वाला है और जिसके समान अन्य कोई ज्ञान नहीं है, वह केवलज्ञान है तथा इस अनुपम उद्योतकारी एकाकी (स्वाधीन) केवलज्ञान की जिसके साथ अभेदता है, वह अनंत-अक्षय सुख है। आदि से अंत तक अर्थात् जितने भी पदार्थ जगत् में हैं, उन सबको वेदता-जानता हुआ जो प्रकाशवंत परिणमन है, वह ही सुख का स्वरूप है। ऐसा शुद्ध ज्ञान अर्थात् मोह-राग-द्वेष से रहित पूर्ण वीतराग स्वस्थ केवलज्ञान ही होता है। जिसकी प्राप्ति आत्मा को स्वयं से ही होती है। केवलज्ञान होने की उम्मीद-योग्यता आत्मा में होती है; क्योंकि वह मूल स्वभाव की अपेक्षा सदैव निराकुल स्वभाव सहित होता है। निराकुल स्वभाव के सतत अवलम्बन से ही चारों घातिया कर्मों का मूल सत्ता से ही नाश हो जाता है, जिससे केवली भगवान् के लोकालोक को जानने पर भी खेद-खिन्नता नहीं होती है।

---

* ज केवलं ति णाणं त सोक्ख परिणाम च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खय जादा॥(प्र.सा. गाथा-६०)

१. 'उद्योतिकारी' ख प्रति में। २. 'इन' ख प्रति में। ३. 'प्राप्ति' ख प्रति में। ४. 'खेदखिन्नता' ख प्रति में।

आगे केवलग्यान को बहुरि सुख रूप कहैं हैं।

(सवैया तेईसा)

केवलग्यान समान सु भान
उदै सु समस्त पदारथ भासे।
देखन हार सु केवल दिष्टि
खुली[1] सब लोक अलोक तमासे॥
जे दुख कारन ते सु अबोध
"असोध सबै तम सद्रुस नासे"[2]।
छाइक सुद्ध महा सुख रूप
जगे जिहिं मांझ महागुन खासे॥९१॥*

अर्थ :—जिनके केवलज्ञान समान सूर्य अर्थात् केवलज्ञान जैसे विलक्षण-अनुपम सूर्य का उदय हो गया है। जिससे उन्हें समस्त पदार्थ प्रगट प्रत्यक्ष भासित हो रहे हैं तथा अनंत दर्शन स्वरूप केवलदृष्टि रूप आँख के खुल जाने से जो लोकालोक के सभी तमाशों-सामान्य प्रतिभास रूप प्रतिबिम्बों के देखन हार हैं। दुख के कारण स्वरूप अज्ञान एवं अशुद्ध भावों का जो अन्धकार होता है, उसे जिन्होंनें नष्ट कर दिया है। तथा जिसप्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार स्वयं नष्ट हो जाता है, वैसे ही आप में केवलज्ञान सूर्य प्रगट होने से समस्त अज्ञान एवं अशुद्ध भाव अन्धकार के समान ही नष्ट हो गये हैं तथा आपके केवलज्ञान विशिष्ट महागुन स्वरूप निज आत्मा में क्षायिक अर्थात् अक्षय-अनंत एवं परम शुद्ध-निर्दोष महासुख जागृत हो गया है। इस प्रकार केवलज्ञान और अनंत सुख के सहचरपना होने से केवलज्ञान को सुख रूप कहा जाता है।

अब कहैं हैं कै केवली कैं अतिंद्रिय परमारथीक सुख है।

(कवित्त)

उपज्यौ कर्म घातिया छय करि
सुख उतकिष्ट केवली पास।

---

* णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं॥(प्र.सा. गाथा-६१)

१. 'जगी' ख प्रति में। २. 'अघो सब तांमस दुष्ट विनासे' ख प्रति में।

जे अभव्य जग महि पुनि तिन्हिकैं
सुनि करि नहीं सर्दहन[1] जास ॥
सुख सरदहै जिनेस्वर कैं जे
भव्य पुरिष धरि हृदे[2] हुलास।
अरु दूरान भव्य फिरि आगै
समझि माणि[3] हुंहैं सु उदास ॥१००॥*

अर्थ :– सर्व घातिया कर्मों का क्षय होने से केवली भगवान् के पास उत्कृष्ट-अतीन्द्रिय अविनाशी सुख उत्पन्न हो गया है। जगत् में जो अभव्य जीव हैं, उनके यह बात सुनकर ही श्रद्धान नहीं होता है कि केवली भगवान् के अनंत सुख उपज गया है, किन्तु जो भव्य पुरुष हैं, वे अपने हृदय में उल्लसित होते हुए जिनेश्वर देव के अनंत सुख होता है – इस बात का श्रद्धान करते हैं और जो दूरान्दूर भव्य हैं, वे इस बात को अपनी बुद्धि के अनुसार आगम प्रमाण से समझ कर मान लेते हैं; किन्तु फिर आगे उदास हो जाते हैं अर्थात् भगवान् के अनंत सुख उपजता है, इस बात से कोई सरोकार न रखते हुए उदास हो जाते हैं। फलस्वरूप हमें भी ऐसा सुख प्रगटाना है, ऐसी बुद्धि उनकी नहीं होती है और वे कभी भी तादृश सुख को पाने-प्रगटाने का पुरुषार्थ नहीं करते हैं।

आगे कहैं हैं के जे परोछ ग्यानी हैं तिन्हकैं परमारथीक[4] सुख नांही।

(कवित्त)

नरपति असुर ईस सुर ईस्वर[5]
अरु समस्त परिवारि समेत।
सहज रूप इंद्रिय सुव्याधि करि
पीडित[6] परे विषैं भ्रम खेत ॥

---

* णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥(प्र.सा. गाथा-६२)

१. 'सर्दहन सु' ख प्रति में। २. 'हियें' ख प्रति में। ३. 'मांन' ख प्रति में। ४. ख प्रति में नहीं। ५. 'ईसुर' ख प्रति में। ६. 'पीडति' ख प्रति में।

सो दुख सहिवे कौं असक्त[1] जे
विषयनि विषय रमैं सु अचेत।
विथावंत रोगी ज्यौं सेवे
बार बार औषधि[2] सुख हेत ।।१०१।।*

अर्थ :– नरपति (राजा), असुरेन्द्र (राक्षसों का स्वामी) और सुरेश्वर अर्थात् देवताओं का अधिपति इन्द्र सभी अपने परिवार जनों सहित इन्द्रिय ज्ञान द्वारा इन्द्रिय सुख पाने के लिए विषयाभिलाषा रूप सहज व्याधि से पीड़ित-दुःखी होकर विषय-भोग रूपी भ्रमात्मक खेत में पड़ते रहते हैं तथा उस दुःख को सहन करने में अशक्त-असमर्थ होते हुए अचेत-बेसुध या मोही होकर जिन विषय-भोगों में रमते हैं, वे विषय-भोग उन्हें उसीप्रकार सुख के कारण लगते हैं, जिसप्रकार व्याधि की व्यथा से पीड़ित कोई रोगी रोग मुक्ति स्वरूप औषधि को सुख का कारण समझते हैं और बार-बार उसका सेवन करते हैं।

आगे कहैं हैं जब तांईं इंद्री जीवै है तब तांईं स्वाभाविक दुःख ही है।

(छप्पय)

विषयनि विषैं सु करन जीव जे प्रीति लगावत।
साहजीक ते तौ प्रतक्ष करिकैं दुःख पावत ।।
जो न होहिं[3] दुख सहज रूप इमि इंद्रिनि केरौ।
सपरसादि के विषैं परै कहि कारन फैरो ।।
देखौ सुभव्य ज्यौं जगत जन रोग रहित सुख पावहीं।
तजिकैं विकल्प निहचंत होइ[4] औषधि[5] भावन भावहीं ।।१०२।।**

अर्थ :– जो जीव सुन्दर लगने वाले इन्द्रिय विषयों में प्रीति कर बैठते हैं अर्थात् उनमें सुख मिलेगा इस भ्रमात्मक राग में फंसते हैं, वे जीव तो प्रत्यक्ष

---

* मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुआ इंदिएहिं सहजेहिं।
असहता त दुक्ख रमंति बिसएसु रम्मेसु ।।(प्र.सा. गाथा-६३)

** जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ।।(प्र.सा. गाथा-६४)

१. 'असक्ति' क प्रति में। २. 'वोसद' ख प्रति में। ३. 'होय' ख प्रति में। ४. 'हो' ख प्रति मे।
५ 'वोसद' ख प्रति में।

पने ही औपाधिक नहीं हैं, अपितु साहजिक-स्वाभाविक दुःख को ही पाते हैं अर्थात् उन्हें इन्द्रिय विषयों में वास्तविक-यथार्थ दुख की ही प्राप्ति होती है। अगर उन्हें इन इन्द्रियों से भोगे जाने वाले विषयों में स्वाभाविक-सहज सुख की प्राप्ति न होती हो तो फिर वे स्पर्शादिक विषय सुखों में पड़कर या उन्हें पाकर किस कारण से उन्हें बदलते रहते हैं, अर्थात् एक विषय को छोड़कर दूसरा-तीसरा आदि विषय भोगना क्यों चाहते हैं। विषय बदलने की प्रवृत्ति से स्पष्ट है कि उन्हें उसमें सुख नहीं, दुख ही मिल रहा है। विषय सेवन तो औषधि सेवन के समान है। भो भव्य सुजन ! तुम यह अच्छी तरह देख-समझ लो कि जगत् जन जैसे औषधि सेवन करने मात्र से सुखी नहीं होते हैं, अपितु रोग रहित होने से सुख पाते हैं या सुखी होते हैं, वे यदि औषधि सेवन करते भी हैं तो इस भावना के साथ ही करते हैं कि रोग मिटने पर औषधि सेवन मुझे त्याज्य है। मुझे हमेशा औषधि सेवन नहीं करना पड़े – यही भावना भायी जाती है। कोई भी सदैव औषधि सेवन करना नहीं चाहता है; फिर विषय भोगों का सेवन करना क्यों चाहता है, विषय सेवन तो राग जन्य व्याधि को दूर करने के लिए उपचार मात्र औषधि ही है; अतः उनके सेवन का विकल्प तजना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि औषधि सेवन के समान विषय सेवन भी त्याज्य ही है और त्याज्य होने से दुखरूप भी। कोई भी जीव विषय सेवन से सुखी नहीं होता है, अपितु राग की व्याधि मिटने से सुखी होता है। अतः सुखी होने के लिए राग रहित होने का ही पुरुषार्थ यहाँ अपेक्षित है।

आगे कहैं हैं के जे मुक्ति गये हैं तिनिकैं सरीर विना ही सुख[१] है तातैं सरीर सुख कौ कारन नाहीं।

(कुण्डलिया)

देही आदिक जे भले विषय पंच विधि पाइ।
ग्रहै पंच परकार सो[२] इंद्रिनि करिकैं धाइ॥
इंद्रिनि करिकैं धाइ 'जिय सु ममिता'[३] उर आनैं।
पुनि विभाव परिनमन सहित देखैं अरु जानैं॥

१. ''सुख-दुख'' ख प्रति में। २ 'जो' ख प्रति में। ३ 'जिया समिता' ख प्रति में।

पराधीन सुख रूप होहि आपहुँ सु यें ही।
मुक्तिमांहि जग मांहि मांहि सुख कारन देही॥१०३॥*

अर्थ :– मनुष्यादिक शरीर को धारण करने वाला देही अर्थात् मनुष्य जीव भले ही स्पर्शादि पाँचों विषयों को कर्मोदय के अनुसार पाकर तथा इन्द्रियों के माध्यम से उन्हें पाने के लिए अर्थात् त्वरित भोगने की इच्छा से उनके पीछे भागकर उन्हें ग्रहण करता है। पंचेन्द्रियों से भोगे जाने वाले इन विषयों को इन्द्रियों से खूब भोगता है तो उसके अर्थात् संसारी-देही जीव के मन में ममता भाव आ जाता है फिर भी यदि वह उन पंचेन्द्रिय के विषयों को एव उन्हें भोगने से उत्पन्न सुख को विभाव परिणमन सहित अर्थात् विभाव परिणामरूप ही देखता-जानता है तो समझ जाता है कि यह इन्द्रिय विषयगत सुख पराधीन है। पराधीन रूप होकर भी यह सुख आत्मा का ही है। जड़ इन्द्रियों एवं भौतिक विषय भोगों का नहीं है। इसप्रकार देही यह मान लेता है। कि अपनी स्वाधीन मुक्त दशा में ही सच्चा सुख है, जगत् में नहीं।

इहि बात कौं फेरि दिढ़ावैं हैं।

(चौपई)

सुख करता न सर्वथा[1] के ही। स्वर्गादिक के विषैं सु देही॥
चिदानंद विषयनि बस ये[2] ही। सुख दुख मानि आपहुं लेही॥१०४॥**

अर्थ :– यहाँ कोई ऐसा कहते हैं कि मनुष्यादिक देही में इन्द्रिय सुख का कर्ता आत्मा है, शरीर नहीं। यह बात सर्वथा नहीं कही गई है; क्योंकि स्वर्गादि में देही जीव को दिव्य शरीर के कारण ही इन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है तो ऐसा लगता है कि शरीर भी सुख का कर्ता है। तब उनसे कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि परमार्थ से आत्मा चिदानंद स्वभाव वाला है; तथापि व्यवहार से

---

* पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुह ण हवदि देहो॥(प्र.सा. गाथा-६५)

** एगंतेण हि देहो सुह ण देहिस्स कुणदि समो वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा॥ (प्र.सा गाथा-६६)

१. 'सर्व ताके' ख प्रति में। २. 'वसते' ख प्रति में।

जब वह विषयों के वश होता है तो ये इन्द्रिय सुख व इन्द्रिय दु:ख उस जीव में होते हैं, शरीर में नहीं। आत्मा ही उन सुख-दुखों को वेदता है, शरीर नहीं अथवा आत्मा ही सुख-दु:ख रूप परिणमता है, शरीर नहीं। अत: ये इन्द्रिय सुख अथवा दुख स्वयं आत्मा को लेकर ही होते हैं, ऐसा मान।

आगे कहैं हैं कै[1] आतमा कौ सुख सुभाव ही है तार्थे इंद्रिय विषय सुख का कारन नाहीं।

(सवैया इकतीसा)

जैसें केई राति के फिरैया कहै बाघ सर्प
राक्षस[2] कुजीव चोर[3] आदि और लहिये।
दिष्टि[4] तैं विदारि तम[5] देखैं वस्तु भारी कम[6]
तिन्हि कैं न दीपकादि कौ प्रकास चहिये।।
जैसें जीव कौ सुभाव सुख रूप आप ही तैं
आपु जिनवानी[7] की प्रतीति उर गहिये।
विषैं सुख आस है सु मोह को विलास भ्रम
आतमा कैं ताहि कौ न कारज कौं कहिये।।१०५।।*

अर्थ :– जिस प्रकार कितने ही रात्रि में विचरण करने वाले नक्तंचर बाघ, सर्प, राक्षस, दुष्ट जीव, चोर आदि कहे हैं, उन्हें तथा और भी उन जैसे जीवों को लक्ष्य में लेते हैं तो ज्ञात होता है कि वे सभी अपनी दृष्टि से ही अंधकार का विदारण कर छोटी-बड़ी वस्तुओं को देख लेते हैं, इसके लिए उनको दीपक आदि के प्रकाश की जरूरत नहीं होती है। रात में देखने के लिए भी उन्हें दीपक नहीं चाहिए होता है। दीपक के विना स्वयं से ही उनको देखना हो जाता है। वैसे ही जीव का स्वभाव सुख रूप स्वयं से ही है, इस बात को खुद अनुभव से एवं जिनवाणी की प्रतीति से मन में या बुद्धि में ग्रहण करना चाहिए तथा जीव को विषयों में सुख मिलता है, ऐसी जो आशा है, वह उसके मोह का भ्रम

---

* तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्व।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति।।(प्र सा. गाथा-६७)

१ क प्रति में नहीं। २. 'रक्षस' क प्रति मे। ३. 'और' ख प्रति में। ४. 'दिष्टे' क प्रति में तथा 'दिष्ट' ख प्रति में। ५ 'तन' ख प्रति में। ६ 'कर्म' क प्रति में। ७ 'जिनभाषति' ख प्रति में।

रूप विलास ही है, अत: उसको आत्मा का कार्य ही क्यों नहीं कहा जाये अर्थात् उस इन्द्रिय सुख को आत्मा का ही कार्य समझना चाहिए, जड़ इन्द्रियों का नहीं।

आगे आतमा कैं ग्यान सुख दिष्टांत करि दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

गगन मझार जैसें सूरज सहज रूप
अधिक प्रभा समूहतैं प्रकासकारी है।
सदाकाल गर्म है सु तप्यौ लोह कैंसौ पिंड
देव नाम कर्म उदै देव पद धारी है।।
जैसें सुद्ध आतमा सुभाव ही सौं लोक विषैं
ग्यान रूप सुख रूप पूज्य पद भारी है।
तीनि गुन युक्त[1] है सुमुक्ति पाँचों[2] इंद्रिनि सौं
देवीदास कहै जाकौ वंदना हमारी है।।१०६।।*

अर्थ :– आकाश में जैसे सूर्य सहजपने ही अपने अधिक प्रभासमूह से प्रकाशकारी होता है। वह सदा काल तप्त और पिण्ड के समान गर्म आग का गोला जैसा लगता है, किन्तु देव गति नामक नामकर्म के उदय से देवपद ध.री भी है। (जैन परम्परा में सूर्य विमान तत्प्रकारक ज्योतिषी देवों का निवास स्थान है, अतएव उसे देवपदधारी कहा है।) जैसे शुद्ध आत्मा अपने स्वभाव से ही लोक में सहज ज्ञानस्वरूप एवं सुख स्वरूप है। अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख के कारण अतिशय पूज्यपद रूप भी है। वह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणों से युक्त है तथा पाँचों इन्द्रियों से मुक्त होकर मात्र आत्माश्रित अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है। इसप्रकार कवि देवीदास कहते हैं कि जिनकी आत्मा सूर्य के समान स्वयं लोकालोक को प्रकाशित करने वाली है, उनको हमारी वंदना है।

[इति श्री प्रवचनसार विषैं द्वितीयग्यानाधिकार।]+

---

* सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो।।(प्र.सा. गाथा-६८)

१. 'जुक्त' क प्रति में। २. 'पाँच' ख प्रति में। + दोनों प्रतियों में यह पंक्ति मौजूद है।

(दोहरा)

इंद्रिनि करि उतपत्य[1] है, जिहि सुख की जगमांहि।
कारन सुभ उपयोग तसु, कहौं अन्यथा नांही ॥१०७॥

अर्थ :– जगत् में जिस सुख की उत्पत्ति इन्द्रियों से होती है अर्थात् जो भी इन्द्रिय सुख संसारी जीवों में उत्पन्न होता है उसका कारण शुभोपयोग है। इन्द्रिय सुख की प्राप्ति शुभोपयोग से ही होती है, अन्यथा नहीं। इसलिये अब उसको कहता हूँ।

अब सुभोपयोग का स्वरूप कहै हैं।

(सवैया इकतीसा)

देव अरिहंत जानैं गुर निरग्रंथ मानैं
तिनही की भगति विषैं सु काल तीन है।
निश्चै करि औषधि[2] अहार अभै श्रुतग्यान
यही[3] चारि दान की प्रवर्ति जामैं लीन है॥
उपवास आदि जो क्रिया मझार रंचनीक[4]
गुन वा महाव्रत कौं धरैं तन छीन हैं।
लखौ बड़ भागी ऐसैं धर्म अनुरागी जीव
जग में सुभोपयोगी परम प्रवीन हैं॥१०८॥*

अर्थ :– जो अरंहत देव को जानते हैं और निर्ग्रन्थ गुरु को मानते हैं। तथा उनकी ही भक्ति में जिनके तीनों काल बीतते हैं अर्थात् देव-गुरु की भक्ति में ही वे हर समय लीन रहते हैं। औषधि, आहार, अभय और श्रुतज्ञान इन चारों दानों की प्रवृत्ति में जो सदैव परमार्थतया लीन रहते हैं। उपवास आदि क्रियाओं के करने में जिन अणुव्रतों या महाव्रतों को धारण किया जाना जरूरी होता है, उन व्रतों को जो धारण करते हैं। व्रत पालन करने के फलस्वरूप जिनके तन क्षीण हो जाते हैं। ऐसे वे जो भी बड़भागी धर्मानुरागी जीव जगत् में परम प्रवीण हैं, उन्हें तुम शुभोपयोगी जानो।

---

* देवजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥(प्र.सा. गाथा-६९)

१. 'उतपत्त' ख प्रति में। २ 'वोषध' ख प्रति में। ३ 'या ही' क प्रति में। ४. 'रजनीक' दोनों प्रतियों में।

आगे कहैं हैं कै सुभोपयोग करि इंद्रिय सुख हो है।

(कवित्त छंद)

सुभ उपयोग रूप परनति है
तिन्हि की जगति मांहि सुन संत।
उत्तिम नर तिरजंच[1] कै उत्तिम
धरैं अमर पदवी निहचंत॥
नाना भांति पंच इंद्रिनि के
लहैं सुख्य[2] जीवनि परजंत।
इहि परकार सुभोपयोग को
फल समुझाई कह्यौ भगवंत॥१०९॥*

अर्थ :– जगत् में शुभोपयोग रूप जो परिणति है। हे संत जन ! उसका फल सुनो। सुभोपयोग के फल से जीव उत्तम मुनष्य, उत्तम तिर्यञ्च एवं अमर पदवी अर्थात् देव पर्याय के भवों को धारण करते हैं और नाना प्रकार वाले पंचेन्द्रिय सुखों को जीवन पर्यन्त प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से सुभोपयोग का फल जो भगवंतों ने कहा है वही हमने यहाँ तुम्हें समझाकर कह दिया है।

अब इंद्रिय सुख कौं दुख ही कहैं हैं।

(सवैया तेइसा)

जे अनिमादि कहै[3] वसु रिद्धि
सुदेवनि कैं सब स्वर्गनि[4] मांही।
तौ पुनि ते सुखिया जग मैं
सु अतिंद्रिय सुख सरूप[5] सु नाहीं॥
पीडित इंद्रिनि के दुःख सौं
सु[6] मनोग्य विषैं रस सौं लपटांहीं[7]।

---

* जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदिय विविहं॥(प्र.सा. गाथा-७०)

१. 'त्रिचज' क प्रति में। २. 'सुख' क प्रति में। ३. 'कही' ख प्रति में। ४. 'सुर्गनि' ख प्रति में। ५. 'स्वरूप' क प्रति में। ६. 'सो' क प्रति में। ७. 'लपट्याही' क प्रति में।

पूरन होति नही तिन्हि की
तृसना[1] सु मरैं जब लौं सुख चांही ॥११०॥*

अर्थ :– अणिमा आदि जो आठ ऋद्धियाँ हैं वे स्वर्गों में सभी सुदेवों अर्थात् पुण्यशाली देवों में पायी जाती हैं इसलिये वे जगत् में भले ही सुखिया माने जाते हों तथापि उनका वह सुख अतीन्द्रिय सुख स्वरूप नहीं है। यदि वास्तविक रूप से विचार किया जाये तो वे सचमुच ही इन्द्रियों की चाह पूरी न कर पाने अर्थात् तृप्त न हो पाने के दुःख से पीड़ित है। इसका प्रमाण यह है कि वे पंचेन्द्रियों के सुन्दर मनोज्ञ विषयों में रुचि लेकर लिपटते हैं अर्थात् उनमें प्रवृत्ति कर उन्हें भोगते हैं। फिर भी उनकी विषयभोग संबंधी तृष्णा पूरी नहीं होती है। फलस्वरूप वे जब तक मरते नहीं तब तक विषय सुख की चाह करते रहते हैं।

आगे सुभ-असुभ उपयोग कौ फल पुण्य पाप जाकी समानता दिखावैं हैं।

(दोहरा)

नर नारक सुर पसु भजैं तन उतपति दुख जोग।
कर्म सुभासुभ फल सु वह नही सु गुन उपयोग ॥१११॥**

अर्थ :– मनुष्य, नारकी, देव और पशु अर्थात् तिर्यञ्च जीव पञ्चेन्द्रिय शरीर में उत्पन्न होकर जो भी शारीरिक या मानसिक दुःख भोगते हैं वह सब शुभ और अशुभ उपयोग के निमित्त से बंधे हुए पुण्य या पाप कर्म का फल है। अथवा आत्मा का ही पुण्य-पाप स्वरूप अशुद्ध परिणाम है इस प्रकार अशुद्धोपयोग रूप परिणामों की अपेक्षा शुभ या अशुभ दोनों ही समान हैं। चाहे शुभोपयोग हो या अशुभोपयोग दोनों ही आत्मा के सुगुन उपयोग अर्थात् सुखकारी एवं गुणकारी उपयोग नहीं हैं। आत्मा को सुखकारी-गुणकारी उपयोग

---

* सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्ठा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥(प्र सा गाथा-७१)

** णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥(प्र.सा. गाथा-७२)

१. 'त्रसना' क प्रति में तथा 'तृस्ना' ख प्रति में।

तो शुद्धोपयोग ही है। जिसमें शुभ या अशुभ परिणाम नहीं होते हैं ऐसा वह एकमात्र शुद्धोपयोग ही तो है, जो उन दोनों उपयोगों से पृथक् परमार्थ सुख स्वरूप है, दुखरूप नहीं।

आगे सुभोपयोगतैं उतपत्य जु है फलवंत पुन्य तिसहि विसेषता करि दूषन के निमित्त दिखाइयै है।

(साकिनी छंद)

इंद्र अवर चक्रेसुर पदवी सुभोपयोग फलधारी[१]।
तह करतूति भोग तन इंद्रिनि की उतपति अधिकारी॥
सेवत विषय सुखी से लागत मनवांछित जगमांहीं।
पोषन करैं सरीर आदि पर निज करि सुखी सु नाहीं॥११२॥*

अर्थ :– इन्द्र और चक्रेश्वर (चक्रवर्ती) आदि पद की प्राप्ति शुभोपयोग के फल स्वरूप पुण्य को धारण करने वालों को ही होती है। तथा विषय भोग पदार्थों का मिलना, उन्हें भोगने योग्य शरीर की प्राप्ति होना एवं इन्द्रियों में तदनुरूप सामर्थ्य की उत्पत्ति का होना आदि सभी जीव के लिये तभी संभव हैं अर्थात् जीव इन सब का अधिकारी तभी होता है जब शुभोपयोग के फल स्वरूप उपार्जित पुण्य कर्म की फलदान रूप करतूति जीव के होती है। ऐसा जीव जगत् में मनोवांछित विषय भोग पाकर उनका सेवन करता हुआ जगज्जनों को सुखी जैसा लगता है। सभी उसे सुखी समझते हैं पर वह सुखी होता नहीं है। क्योंकि पुण्योदय से प्राप्त विभूति जीव के शरीरादि पर तत्त्वों का ही पोषण करती है। आत्मा के आश्रय से होने वाला अनाकुलत्व लक्षण वाला सुख उससे नहीं होता है। इस प्रकार शुभोपयोग के बल से बंधा पुण्य कर्म और उसका फल जीव को सुख का कारण नहीं है, यह दूषण समझना चाहिये।

आगे सुभोपयोग जनित पुन्य हूं कौं दुख कौ कारन कहैं हैं।

---

* कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा॥(प्र.सा. गाथा-७३)

१. 'सुभपयोग' क प्रति में। २. 'करधारी' ख प्रति में।

(कवित्त छंद)

जो परिनाम सुभोपयोग मय
पुण्य कर्म उपजावन हारौ।
जे सुर आदि जीव संसारी
सो सबकौ जिहिं[1] विषैं पसारौ॥
उपजावै तिन्है सु[2] विषयनि की
तृसनां[3] जहाँ दुख अधिकारौ।
तातैं हेय रूप आगम में
कह्यौ मोख मारग तैं न्यारौ॥११३॥*

अर्थ :– शुभोपयोग जो जीव के परिणाम हैं वे परिणाम ही उसके लिये पुण्य कर्म उपजाने वाले हैं अर्थात् शुभोपयोग रूप परिणामों से जीव को पुण्य कर्म बँधते हैं। जो देव आदि संसारी जीव हैं उनके पास जो भी विषय भोग सामग्री का फैलाव है अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषय सुख को भोगने की सामग्री मौजूद है वह उन पुण्यशाली जीवों में सुन्दर से सुन्दर विषयों को भोगने की तृष्णा ही उत्पन्न करती है सचमुच ही तृष्णा भाव में एक मात्र दु:ख का ही अधिकार है। इसलिये ही तो आगम में शुभोपयोग को, उससे बँधे हुए पुण्य को और पुण्य के उदय में सुलभ विषय भोग सामग्री को हेय तथा मोक्षमार्ग से न्यारा कहा गया है।

आगे पुन्य विषैं दु:ख कौ बीज प्रगट करैं हैं।

(कवित्त छंद)

लै सुर आदि जीव जे बहुविधि
संसारी बरनये जु[4] समंत।
उपजे विषय सुख्य[5] इंद्रिनि तैं
चहै सु तें[6] जीवनि परजंत॥

---

* जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं॥(प्र.सा. गाथा-७४)

१. 'तिहिं' ख प्रति में। २. 'तिन्ह सो' ख प्रति में। ३. 'त्रसना' क प्रति में तथा तृस्ना ख प्रति में।
४. दोनों प्रतियों में नहीं। ५. 'सुख जे' क प्रति में। ६. दोनों प्रतियों में नहीं।

पुनि पुनि 'भोगवै सूं'[1] तृस्ना[2] करि
महा अति सु अभिलाषावंत।
पीडित सदा दुख दावानल
विषै सु पुन्यवंत निहचंत॥११४॥*

अर्थ :– देवों को आदि लेकर अनेक प्रकार के जो भी संसारी जीव हैं वे सब अंत सहित बताये गये हैं, क्योंकि जीव की देव, मनुष्यादि पर्यायें अंत हीन नहीं हैं फिर उन पर्यायों में पुण्य के कारण उपजे हुए विषय सुख हैं वे शाश्वत कैसे हो सकते हैं वे भी अंत सहित अर्थात् नाशवान् हैं तभी तो जीव उन विषय सुखों की चाह जीवन पर्यन्त करते रहते हैं। इतना ही नहीं उन विषय सुखों या तदाधारभूत पदार्थों-मनोज्ञ विषयों को बार-बार भोगते हैं जिससे तृष्णा बढ़ जाती है और उस तृष्णा से अत्यधिक विस्तार वाली अभिलाषाओं के स्वामी बन जाते हैं अर्थात् विषय भोग संबंधी उनकी इच्छायें अनंत हो जाती हैं। इस प्रकार निश्चित ही पुण्यवान् जीव विषयों को भोगता हुआ भी अनंत इच्छाओं की पूर्ति न हो पाने से दुःख के दावानल में ही सदा पीड़ित होता रहता है।

आगे बहुरि पुण्य जनित जु है इंद्रिय सुख तिसहि खौं[3] बहुत प्रकार दुःख रूप कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

होहि जगमांहि कर्म के उदै सु पराधीन
छुधा त्रषा आदि महा बाधा कौ सु कूप है।
आवत असाता के न रहै[4] तार्थे विनासीक
बंध कौ समूह जाकैं विषैं दौर धूप है॥
चंचलता करि जो तथापि हाणि[5] वृद्धि[6] लियै
जामैं पंच भांति या प्रकार की सु तूप है।

---

* जे पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता॥(प्र.सा. गाथा-७५)

१. 'भोग भोग' ख प्रति में। २. 'त्रसना' क प्रति में। ३. दोनों प्रतियों में नहीं। ४. 'है' ख प्रति में। ५. 'हांन' ख प्रति में। ६. 'व्रद्धि' क प्रति में।

हेतु[1] पाइ पुन्य कौ प्रकास्यौ पंच इंद्रिनि तैं
अैसौ सुख सर्वथा प्रकार दुखरूप है।।११५।।*

अर्थ :– इस जगत् में जो इन्द्रिय सुख की उपलब्धि जीव को होती है वह पुण्य कर्म का उदय होने पर ही होती है अत: वह इन्द्रियसुख पराधीन है। इन्द्रिय सुख में भूख प्यास जैसी बाधायें वैसे ही आती रहती हैं जैसे कूप में पानी आता रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय सुख मानों बाधाओं को उत्पन्न करने में कुये के समान ही है। असाता कर्म का उदय आने पर इन्द्रिय सुख तत्काल विनष्ट हो जाता है अत: विनाशीक है। इन्द्रिय सुख भोगने के विषय में जीव के नाना प्रकार की दौड़धूप होनी है, विना राग-द्वेष परिणति के इन्द्रिय सुख भोगा नहीं जाता है अत: इन्द्रिय सुख को भोगने के समय ही मोह राग-द्वेष वशात् अनेक कर्म समूहों का बंध अवश्य ही आत्मा को होता है इस प्रकार इन्द्रिय सुख बंध कराने वाला है। इन्द्रिय सुख में चंचलता-अस्थिरता होती है वह घटता-बढ़ता भी है, अत: विषम होता है। इस प्रकार जिस इन्द्रिय सुख में उपर्युक्त पाँचों प्रकारों की तूपना पायी जाती है अर्थात् इन्द्रिय सुख पराधीनता से, बाधाओं से, विनाशीकता से, बंधकारक होने से और बदलने वाला होने से विषमपने के कारण संतोष का हेतु नहीं बन पाता है और उससे जीव को तृप्ति नहीं हो पाती है इसे ही व्यर्थ तूपना या कष्ट भोगना समझना चाहिये। पुण्य का हेतु पाकर और पांचों इन्द्रियों से अनुभूत जो यह पराधीन, सबाध, विनश्वर बंधक एवं विषम सुख है वह सर्वथा अर्थात् हर प्रकार से दु:ख ही है।

आगे तातैं पुन्य पाप की समानता दिखावैं हैं।

(छप्पय)

दया दान पूजा सु पुन्य कारन भवि[2] जानौ।
पुन्यतैं सु[3] उतपत्य सत्य साता पहिचानौ।।

---

* सपर बाधासहिद विच्छिण्ण बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्ध तं सोक्ख दुक्खमेव तहा।।(प्र.सा. गाथा-७६)

१. 'हेति' ख प्रति में। २ 'भव' ख प्रति में। ३. 'सो' ख प्रति में।

सुभसाता तह विषयभोग 'परनति जगमांही'[१]।
'विषय भोग'[२] जह पाप बंध दुविधा कछू नांही ॥
फल पाप करम दुरगति गमन[३] दुखदाइक अमित।
इहि विधि विलोकि 'निज दिष्टि'[४] सौं पाप पुन्य इक खेत नित ॥११६॥

अर्थ :– हे भव्य ! दया, दान, पूजा आदि सत्कर्मों को तुम पुण्य जानो तथा पुण्य से ही साता की उत्पत्ति होती है इस सत्य को पहिचानो। तथा शुभ साता के कारण जीव को जगत् में विषय भोगों की परिणति (प्राप्ति) देखी जाती है किन्तु जहाँ विषय भोग हैं वहाँ पाप का बंध होता है इसमें कुछ भी दुविधा (संशय) नहीं है। पाप कर्म का फल दुर्गति में गमन कराना तथा अपरिमित-असीमित दु:ख का देने वाला है। इस प्रकार पुण्य पाप को समझकर-जानकर आत्म दृष्टि से पाप पुण्य दोनों को सदैव एक संसार रूप खेत ही समझना चाहिये। अर्थात् दोनों ही जीव के संसार दशा में पैदा होते हैं और दोनों ही जीव के संसार को फलीभूत करते हैं। जीव का संसार उसके पुण्य-पाप रूप दोनों ही भावों-परिणामों से चला करता है।

आगे पाप पुण्य कौ फल हेय रूप दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

पुन्य के 'जोग सौं'[५] भोग मिलैं पुनि
भोग तो पाप कौ पुंज भिया रे।
पाप की रीति सौं नीति लटी गति
नीच परै मरिकैं सु जिया रे ॥
त्यागवौ[६] जोग उभै करनी निज
पंथ तजै इनिकौ[७] रसिया रे ॥
कर्म तौ एक सरूप सबै रचि
कैं सु भलौ पुनि कौनै लिया रे ॥११७॥

---

१. क प्रति में नहीं। २. क प्रति में नहीं। ३. ख प्रति में नहीं तथा क प्रति में 'गमन दुरगति'। ४. 'निजकर्म दिष्ट' ख प्रति में। ५. 'योग तैं' ख प्रति में। ६. 'त्यागी वौ'' क प्रति में। ७. 'इहिकौ' ख प्रति में।

अर्थ :– संसार की ऐसी रीति है कि यहाँ जीव को पुण्य के योग से ही भोग प्राप्त होते हैं फिर भोग भोगने रूप पाप की संतति पैदा हो जाती है। अत एव भोग पाप के पुंज स्वरूप ही हैं। तू उनसे भय कर अर्थात् डर। पाप की रीति अर्थात् भोगोपलब्धि होंने पर उन्हें नीति मानकर अर्थात् लोक में मान्य हैं, ऐसा समझते हुए उनको भोगकर पाप भाव में लगने की विधि से पाप कर्म बंधते हैं जो इस जीव को बुरी अर्थात् तिर्यञ्च-नरक गति में ले जाने की क्रिया का निर्वाह करते हैं इसलिये तो निश्चित है कि पापी जीव मरकर नीच गति में पड़ जाता है। निष्कर्ष यह है कि इन दोंनो अर्थात् पुण्य-पाप की करनी त्यागने योग्य ही है क्योंकि इनकी करनी का रसिया निजपंथ को अर्थात् स्वानुभूति से गम्य आत्म रूप मोक्ष मार्ग को छोड़ देता है। यथार्थ दृष्टि से देखा जाये तो कर्म पुण्य हो या पाप एक ही स्वरूप वाला है, क्योंकि वह सभी को संसार में ही रचा पचा कर रखता है फिर भला पुण्य किस प्रकार अच्छा है और भलेपने से तीर्थंकरादि महापुरुषों में कौन ने पुण्य को अपने सुख के लिये अपनाया है या स्वीकृत किया है ? किसी ने भी नहीं अतः पाप के समान पुण्य का फल भी हेय है, यह समझ लेना चाहिये।

आगे सुभासुभ क्रिया बंध कौ कारन है सुद्ध क्रिया मुक्ति स्वरूप 'कहै है'[१]।

(दोहरा)

कर्म सुभासुभ आचरत बंध सुभासुभ होई[२]।
सुद्धपयोग जगे विना सिव पद लहै न कोई[३] ॥११८॥

अर्थ :– शुभ कर्म का आचरण करो या अशुभ कर्म का। दोंनों में से जिसका आचरण करते हैं उसी का बंध होता है अर्थात् शुभ क्रिया आचरने से या शुभ कर्म का आचरण करने से शुभ कर्म का बंध होता है एवं अशुभ क्रिया का आचरण करने से अशुभकर्म का बंध होता है। आत्मा में शुद्धोपयोग का प्रादुर्भाव या जागरण हुये विना मोक्ष पद की प्राप्ति किसी को भी नहीं होती है।

---

१. 'दिखावैं हैं' ख प्रति में। २. 'होय' ख प्रति में। ३. 'कोय' ख प्रति में। ४. ख प्रति में है - आगैं पाप पुन्य येक समांन नहीं मानै हैं तिनकी व्यवस्था दिखावै हैं।

आगे पुण्य पाप में कोई भेद नांही यह कथन[3]।

(दोहरा)

पाप पुन्य मानैं नहीं जे जन एक[1] प्रकार।
ते मोही भ्रामक सु भवि[2] भ्रमत न पावैं पार॥११९॥*

अर्थ :– जो लोग पुण्य और पाप को संसार में परिभ्रमण कराने वाला होने से एक प्रकार का नहीं मानते हैं वे मोही जन भ्रामक बुद्धि से संसार में ही अच्छी तरह भ्रमण करते रहते हैं; संसार के पार को प्राप्त नहीं करते हैं।

आगे सुद्धपयोगी का स्वरूप कहैं हैं।[5]

(सवैया इकतीसा)

पाप अरू पुन्य जानै एक ही प्रकार करि
सुभासुभ 'रीति दुरनीत'[4] मैं न दवै है।
इष्ट वा अनिष्ट दो प्रकार जे पदारथ हैं
जापै राग दोष भाव सौं न परिनवै है॥
विमल सरूप मानै[5] आपनी सहज जानै
भयौ सांचौ सुद्ध उपयोगवंत तवै है।
जाकी देह तैं न उतपत्य होत दुख खेद
सो तौ संत पराधीन वेदना न सवै है॥१२०॥**

अर्थ :– जो पाप और पुण्य को एक ही प्रकार से जानते हैं कि दोनों का फल ससार है। शुभ का फल अच्छा और अशुभ का फल बुरा - इस भेद की दुर्नीति से जो अपने आपको दबने नहीं देते हैं। मतलब यह है कि वे शुभ अच्छा है इसलिये राग के प्रभाव से तथा अशुभ बुरा है इसलिये द्वेष के प्रभाव से अपने ज्ञान को दबने नहीं देते हैं। तथा इष्ट व अनिष्ट के भेद से जो पदार्थ जानने में आ जाते हैं उन पर राग या द्वेष करके खुद राग-द्वेष रूप परिणमित

* ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो॥(प्र.सा. गाथा-७७)

** एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं॥(प्र.सा. गाथा-७८)

१. 'येक' ख प्रति में। २. 'भव' ख प्रति में। ३. ख प्रति में "आगैं पाप पुन्य में कोई भेद नहीं इह कथन"। ४. 'रीत विपुरीतु' ख प्रति में। ५. "स्वरूप आन्यौ" क प्रति में।

नहीं होते हैं। शुद्ध नय के अनुसार कहे गये निज आत्मा के विमल स्वरूप को शास्त्र से मान लेते हैं और सहजपने स्वानुभव होने पर विमल-निर्मल निज आत्मा को जानते हैं तो उनके शुद्धोपयोग हो जाता है और तब ही वे परमार्थतः शुद्धोपयोगवंत कहलाते हैं। उनके शुद्धोपयोग परिणति की उत्पत्ति देह अर्थात् शरीर से नहीं होती है आत्मा ही उसका कारण है। शुद्धोपयोगी की देह से दुःख अथवा खेद की भी उत्पत्ति नहीं होती है। जो दुःख या खेद की वेदना है वह पराधीन है देह के विना आत्मा दुःख व खेद का स्वामी नहीं है, कर्त्ता नहीं है किन्तु देह में या देह के साथ रहता हुआ आत्मा शुद्धोपयोग के काल में देह से पराधीन नहीं होता है। जिससे शुद्धोपयोगी सभी संतों के वेदना नहीं होती है, यह सिद्ध हो जाता है।

यह बात दिष्टांत करि फेरि दिढ़ाइये है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे आगि लोहपिंड संगति[1] विहीन होत
सो तो आगि एक खेद खिन्नता न लहै है।
आगि लोहपिंड के अभाव सौं सु आप ठान
एकता सौं घन की सु चोट कौ न सहै है।।
जैसैं वीतराग वेदि आपनौ स्वरूप आप
सरवंग[2] चेतना सुभाव ही कौ गहै है।
इंद्रिय वितीति रीति परम अतिंद्रिय है
पराधीन विषैं सुख दुःख कौन चहै है[3] ।।१२१।।

अर्थ :– जिस प्रकार जो आग लोहपिंड की संगति से रहित होती है तो वह अकेली आग घन घात से होने वाली खेद-खिन्नता को प्राप्त नहीं होती है तथा लोहपिण्ड के अभाव से अर्थात् लोह पिण्ड में संयोगाभाव के कारण अपने स्थान में ही रहने वाली आग अपनी एकता मात्र से अर्थात् अकेलेपन से लोहपिण्ड का संयोग नहीं करती हुई घन की चोट को नहीं सहती है। वैसे ही पर के संयोगों में न उलझता हुआ जीव द्रव्यदृष्टि से अपने वीतराग स्वरूप को

१ 'संग' ख प्रति में। २. 'सरवाग' क प्रति में। ३. क प्रति में नहीं।

खुद-स्वयं ही अनुभव करके सम्पूर्ण-अखण्ड चेतना स्वभाव को ही ग्रहण करता है। चिदनुभवन में चैतन्य मूर्ति निज अखण्ड आत्मा को जानता है तो इन्द्रियों से जानने की रीति समाप्त हो जाती है अर्थात् आत्मा को जानने वाला परम सर्वश्रेष्ठ अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट हो जाता है। अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा आत्मोत्थ अतीन्द्रिय सुख का वेदन हो जाने पर आत्मानुभवी जीव पराधीन इन्द्रियसुख, जो वस्तुत: दु:ख है, को नहीं चाहता है।

आगे कहैं हैं कै जो यह जीव पापारंभ क्रिया छोड़ि कैं जो सुभक्रिया आचरै तो पुनि सुद्ध आतमा कौ लाभु न होइ, यह कथन।

(अडिल्ल छंद)

कारन पापारंभ दसा सु विमुक्त हैं
सुभ स्वरूप चारित्र क्रिया सजुक्त हैं।
त्यागे विनु मोहादि न कर्म नसावहीं
निर्मल ब्रह्म स्वरूप सु ताहि न पावहीं ॥१२२॥*

अर्थ :– जो लोग (साधु-सुजन) पापारंभ दशा को कारण भूत सावद्ययोग क्रिया से विमुक्त हैं अर्थात् सर्वपापाचरण रूप क्रियाओं को छोड़ चुके हैं तथा अणुव्रतों या महाव्रतों का परिपालन कर शुभ क्रिया रूप चारित्र से संयुक्त हैं। उनके भी मोहादि अर्थात् मिथ्यात्व व राग-द्वेष रूप भावों का त्याग हुये विना कर्मों का नाश नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि पापारंभ क्रिया छोड़कर और शुभोपयोग परिणति के वशीभूत होकर व्रतादिरूप चारित्र पालते हुये भी यदि मैं मोह के उन्मूलन का प्रयास कर उसे त्यागूंगा नहीं तो केवल शुभभाव सम्पन्न व्रताचरण की क्रिया मात्र से मेरे कर्म नाश नहीं होंगे और न ही उस शुभपरिणति मात्र से मुझे निर्मल, शुद्ध, ब्रह्म स्वरूप आत्मा की प्राप्ति हो सकेगी।

आगे मोह सेना मोपर कैसैं जीती जाई ऐसौ विचार कहैं हैं।[1]

---

* चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥(प्र.सा. गाथा-७९)

१ ख प्रति में पाठ है - आगै कहैं हैं कैं मोपरि मोह सैंना कैसैं जीती जाये।

(कुंडलिया)

पहिचानैं अरिहंत के दरव सुगुन परजाई।
जानै जो जिय आपनौं आप स्वरूप सु ताई॥
आप स्वरूप सु ताइ निरखि निश्चैकरि जैसौ।
वीतराग सरवग्य देव तिन्हि कौ पद तैसौ॥
मोह कर्म कौ नास होहि यह उद्यिम[1] ठांनै।
लखै सुद्ध अरिहंत सुद्ध निज गुन पहिचानै॥१२३॥*

अर्थ :– जो जीव आगम से अरंहत के द्रव्य गुण पर्यायों को पहिचानता है वह अपनी आत्मा को अपने ही स्वरूप से जानता है। यहाँ आगम से अरहंत को द्रव्य गुण पर्याय से जानने पहिचानने का अभिप्राय इसलिये प्रकट किया गया है कि इससे ही संज्ञी पंचेन्द्रियपने को पाकर भी अपने स्वरूप को जानने में अनभिज्ञ संसारी जीव के लिए अपने को भी द्रव्य गुण पर्याय से जानने का लक्ष्य बन जाये तथा आगम से द्रव्य गुण पर्याय की अपेक्षा अरहंत को जानने के काल में मोह का उद्रेक व कषायों का वेग शांत होकर विशुद्धि की भूमिका बनें, क्योंकि ऐसा होने पर ही आत्मा को जान पाना संभव होता है। तदनन्तर जिनोपदेश रूप अपने स्वरूप या आत्मा के बारे में जो देशना है उसे निश्चयनय के प्ररूपणानुसार जैसा कहा है वैसा ही मेरा आत्मा है ऐसा अपने में निरख कर अर्थात् पहिचान कर निर्णय करता है कि वीतरागी सर्वज्ञ देव और उनका यह अर्हन्त पद वैसा ही है जैसा निश्चयनय के द्वारा निरूपित मेरा स्वरूप बताया गया है। इस प्रकार अरहंत के जैसे ही अपने स्वरूप का भान होने पर मोहकर्म की मंदता होने से वह यह समझ जाता है कि क्रमशः क्षीण होते होते मोह का नाश हो ही सकता है और मेरे भी हो जायेगा। परिणामस्वरूप वह अपने अनादिकालीन मोह को मिटाने के लिये जरूरी उद्यम करना ठान लेता है। और अपनी आत्मा को द्रव्य गुण पर्याय की अपेक्षा आगम से जानकर तथा

---

* जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥(प्र.सा. गाथा-८०)

१. 'उदिम' क प्रति में।

बार-बार जानते हुये वह स्वानुभूति के यथोचित्त पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को जानने में सफल हो जाता है। इसप्रकार निज शुद्ध गुणों की पहिचान हो जाने से उसे अरिहंत के भी शुद्ध गुणों का जानना हो जाता है।

आगे कहैं हैं कै मोह कौ विनास[1] भऐं सुद्ध आत्मा का लाभ हो है।

(सवैया तेईसा)

मोह विनास भयै यह जीव
सही सु जिनेसुर[2] मारग लागै।
आप सरूप जथारथ वेदि
उमेद भर्यो अपनैं रस पागै॥
राग विरोध प्रमाद उभै विधि
भाव महा दुख कारन त्यागै।
निर्मल ब्रह्म स्वरूप लहै सु
भयौ निहचंत निरंतर जागै॥१२४॥*

अर्थ :– मोह का विनाश होने पर यह जीव सही रूप में जिनेश्वर द्वारा बताये मोक्षमार्ग पर, अपने आपको लगा देता है अर्थात् मोह के विनास होने पर ही उसे सच्चे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। मोक्षमार्ग में यथायोग्य अपने स्वरूप का यथार्थ वेदन करके अर्थात् भूमिकानुसार आत्मानुभव होने पर वह इस उम्मीद-आशा से भर जाता है कि अब क्षण दो क्षणवर्ती स्वानुभूति का रस मैंनें चख लिया है तो अनंतकाल के लिये भी मैं अपने अनुभव रस में ही लीन रह सकूँगा अर्थात् अरहंत-सिद्ध परमात्मा बनना मेरे लिये सहज है, यह विश्वास उसे हो जाता है। और अपने विश्वास को साकार करने के लिये वह अन्तरङ्ग-वहिरङ्ग रूप उभयविध तपश्चरण के द्वारा महा दुःख के कारण स्वरूप अपने राग-द्वेष और प्रमाद भावों का त्याग करता है तथा अपने निर्मल ब्रह्म स्वरूप आत्मा को अच्छी तरह प्राप्त कर लेता है और निश्चिंत अर्थात् चिन्ता रहित

---

* जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥(प्र सा. गाथा-८१)

१. 'नास' ख प्रति में। २. 'जनेस्वर' क प्रति में।

होकर मात्र ज्ञाता दृष्टा हो जाता है तथा सदैव अपने स्वरूप साधन अर्थात् स्वानुभूति के विषय में जागता रहता है।

आगे कहैं हैं कै भगवान् अरहंत[1] देव ने आपु अनुभव करि यही एक मोक्षमार्ग बतायौ है।

(सवैया इकतीसा)

सरवग्य भये जे समस्त तिनिहूं[2] नैं पुनि
प्रथम अरिहंत कौ स्वरूप पहिचान्यौ है।
द्रव्य गुन पर जाय रूप करि जाही भांति
आपनौ निजातमा सुभाव ताहि जान्यौ है॥
नासिकैं सु कर्म उपदेस दीनौ तैं ही विधि
याही एक मुकति कौ मारग बखान्यौ है।
चल्यौ जात अवै चल्यौ जैहै और आगैं कछू
जाकौ काल पंचमै के अंत लौ ठिकानौ है॥१२५॥*

अर्थ :– आज तक जो भी सर्वज्ञ हुये हैं उन सभी में सर्व प्रथम आगम से द्रव्य गुण और पर्याय की अपेक्षा अरिहंत का स्वरूप पहिचाना है और फिर वैसे ही द्रव्य गुण पर्याय की अपेक्षा अपने स्वभाव को ही निजात्मा जाना है। स्वभावत: निज आत्मा को सतत जानने से अर्थात् अविरल-अविच्छिन्न आत्मानुभव द्वारा जिन्होंने सभी घातिया कर्मों का नाश करके अरहंत अवस्था को पा लिया है उन्होंनें अपने उपदेस में उस ही प्रकार का अर्थात् आत्मानुभव रूप एक ही मुक्ति के मार्ग का बखान किया है। यह आत्मानुभव रूप एक ही मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप होंने से रत्नत्रयमय जानना चाहिये; क्योंकि एक आत्मानुभूति होने पर तीनों का होना संभव हो जाता है, आत्मानुभूति के विना नहीं। ऐसा यह रत्नत्रय स्वरूप स्वानुभूति जन्य मुक्ति का मार्ग अब तक बराबर चला आया है, अभी भी अर्थात् इस समय पंचमकाल

---

* सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेस णिव्वादा ते णमो तेसिं॥(प्र सा. गाथा-८२)

१. दोनों प्रतियों में नहीं। २. 'तिन्हि हूं' क प्रति में।

में भी चल रहा है तथा आगे भी कुछ काल तक चलता रहेगा। कुछ काल तक का रहस्य यह है कि पंचमकाल के अंत तक मोक्षमार्ग का ठिकाना है अर्थात् पंचमकाल के अंत तक अरहंत भगवान् द्वारा बताया गया मोक्षमार्ग बना रहेगा, यह जानना चाहिये।

आगे सुद्धात्मा लाभ का घातक मोह तिसके स्वभाव और भूमिका कौं कहै हैं।

(सवैया इकतीसा)

द्रव्य गुन परजाय के सु भेद जानैं नाहिं
जग मैं सु तिन्हि के अजानता सु हियै है।
और की सु और कहै न ही ठीक ठौर गहै
ऐसौ महामोह जे धतूरौ पान कियै है॥
ताहि मोह के अछादैं छोभ की सु प्रापति है
अंतर की दिष्टि के विषैं सु[1] पटु दियै है।
'मानैं जे अनातमा कौं आतमा विकल बुद्धि
बहिरातमा सु राग दोष भाव लियै है'[2] ॥१२६॥*

अर्थ :– जो लोग जगत् में अरहंत को या किसी वस्तु को अथवा अपनी आत्मा को द्रव्य, गुण और पर्यायों के भेद सहित समीचीन नय विधि से नहीं जानते हैं उनके हृदय में अरहंतादि विषयक अज्ञानता ही बनी रहती है। वे अरहंतादिक को 'और की सु और' अर्थात् अन्यथा प्रकार कहते हैं और उनके सही स्वरूप को ग्रहण नहीं करते हैं। ऐसा उनका यह महामोह ही तो है। क्योंकि जिन्होंने महामोह स्वरूप धतूरे का पान किया है वे यथार्थ वस्तु स्वरूप के विषय में अचेत ही रहते हैं वैसे ही जैसे किसी धतूरे का सेवन करने वाले की बेहोशी या अचेतता की दशा बनी रहती है। उस मोह से आच्छादित रहने अर्थात् मोही बने रहने पर उन्हें केवल क्षोभ या व्याकुलता की ही प्राप्ति होती

---

* दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा॥(प्र.सा. गाथा-८३)

१. 'सु' क प्रति में नहीं। २. ख प्रति में नहीं।

है मानों अंतर्दृष्टि के विषय में अर्थात् आत्मानुभव करने के बारे में उन्होंने अपनी बुद्धि के द्वार ही अच्छी तरह बंद कर लिये हैं अथवा अपनी आत्मा को जानने में सक्षम बुद्धि पर पट अर्थात् परदा ही डाल दिया है। इस प्रकार जो मोही जन शरीरादि संयोग को ही आत्मा जानते-मानते हैं वे विकलबुद्धि अर्थात् राग-द्वेष भावों से युक्त बहिरात्मा ही हैं।

आगे कहैं हैं कै यह मोह अनिष्ट कारज करै है तार्थें इस तीनि भांति मोह का नास करना जोग्य है।

(सवैया इकतीसा)

मोह कर्म के उदै सु जीव जासौं प्रीति करै
जगत के विर्षै जो पदारथ मनोग्य हैं।
अथवा सु दुष्टता विचारै देखि जाकौ तहाँ
'नहीं सुखरूप पंच इंद्रिन कौ भोग्य है'[१] ।।
तीन ही सुभाव ए अनिष्ट के करैया महा
'ग्यानावरनादि कर्मबंध कौन योग्य है'[२]।
तार्थें मोह राग दोष सहित न होहि मोख
भैया इन्हैं तुरत[३] खिपाइवे कौ जोग्य है।।१२७।।*

अर्थ :– इस जगत् में जो मनोज्ञ पदार्थ हैं उन पदार्थों में जीव मोह के उदय से पराधीन होकर प्रीति करने लगता है। यह उसका राग भाव है। अथवा जिन पदार्थों का सुखरूप भोग्यपना उसको प्राप्त नहीं है ऐसे उन पदार्थों को जान कर वह उनके बारे में दुष्टता रूप विचार करता है। यह उसका द्वेष भाव है। इस प्रकार ये दोनों राग-द्वेष रूप तथा पूर्वोक्त विपरीत मान्यता रूप मूढ़ भाव के भेद से मोह के ये अपने तीन स्वभाव हैं। इस जीव के लिये ये तीनों ही महा अनिष्ट को करने वाले हैं फिर ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होना उनके लिए कौन योग्य है अर्थात् कौन सी बड़ी बात है। स्पष्ट है कि उनसे ही ज्ञानावरणादि कर्मों का

* मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बधो तम्हा ते सखवइदव्वा।।(प्र.सा. गाथा-८४)

१ क प्रति मे नहीं। २ क प्रति में दो बार। ३. 'तरत' क प्रति में, 'तुरति' ख प्रति में।

बंध भी सरलता से ही उसके हो जाता है। इसलिये मोह राग-द्वेष सहित होने पर जीव को मोक्ष नहीं होता है। अत: भैया! इन्हें तुरन्त ही खिपा देना अर्थात् छोड़ देना ही योग्य है।

आगे कहैं हैं कै ये तीनि भाव इनि लछिननि करि उपजते देखिकैं नास करनैं जोग्य हैं।

(अडिल्ल छंद)

ग्रहै पदारथ जो सु और के और ही
नर तिरजंचनि विषैं प्रीति अति दौर ही।
विषयन लगै सु हो सम चुंबक लौह के
लछिन ये विधि तीनि सु उतपति मोह के ।।१२८।।*

अर्थ :- जो पदार्थों को और के और ही अर्थात् अन्यथा ग्रहण करके उनका अन्यथा श्रद्धान करता है एवं मनुष्य व तिर्यञ्चों में प्रीति या करूणाभाव के होने को ही अत्यधिक प्रभावी अर्थात् धर्म मान लेता है। यह उसका विपरीताभिनिवेश रूप मिथ्यात्व (मोह) ही है। तथा जिस प्रकार चुम्बक के होने पर लोहखण्ड उससे चिपक जाते हैं उसके समान ही मोही जीव भी पंचेन्द्रियों के विषयों में चिपक जाता है अर्थात् उन्हें भोगने लगता है फलस्वरूप कर्मोदयानुसार प्राप्त पंचेन्द्रिय के विषयों में उसे जो इष्टपने से अभिप्रेत होते हैं उनसे राग करने लगता है तथा जो अनिष्टपने से अहितकारी होते हैं, उनसे द्वेष करने लगता है। इस प्रकार मोह की उत्पत्ति में ये तीन चिह्न (लक्षण) होते हैं - १. अयथार्थ ग्रहण स्वरूप मिथ्या श्रद्धान २. पंचेन्द्रिय के मनोज्ञविषयों में प्रीति रूप राग ३. पंचेन्द्रिय के अमनोज्ञविषयों में अप्रीति स्वरूप द्वेष।

आगे मोह के नास को और विचार कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

परतछ वा परोछ ज्ञान के प्रमाण करि
भेद जिन्हि के हिदै जिनागम को आयौ है।

---

* अट्ठे अजधागहणं करूणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ।।(प्र.सा. गाथा-८५)

चेतनि अत्रेतनि उभै प्रकार जगत् में
सकल पदारथ कौ मर्म तिन्हि पायौ है॥
दरसन मोह उदै सदा कौ अजानपनौ
सरधान[1] और कौ सु और सौं गमायौ है।
तार्थे भव्य सवद सु ब्रह्म जाकी भली भांति
कीजिये सु सेव[2] बार बार समुझायौ है॥१२९॥*

अर्थ :– प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण स्वरूप ज्ञान के द्वारा जिनके हृदय में जिनागम का रहस्य आ गया है अर्थात् जिन्होंने जिनागम के मूल मर्म को जान लिया है। उन्होंनें ही जगत् में विद्यमान उभयविध चेतन-अचेतन रूप सभी पदार्थों के मर्म को पाया है। तथा दर्शन-मोहनीय के उदयवश सदा काल से चला आया जो आत्मादि पदार्थ के विषय में अजानपना तथा अन्यथा रूप श्रद्धान था उसे जिनागम का मर्म समझकर गँवा दिया है अर्थात् जिनागम का सार स्वानुभूति है जिसे करके उन्होंने मिथ्यादर्शन रूप अपने विपरीत श्रद्धान को मिटा दिया है। इसलिये हे भव्य ! तुम भी शब्द ब्रह्म अर्थात् जिनागम की उपासना भली भांति अर्थात् यथोचित नय-प्रमाण की प्ररूपणानुसार करो। यही बात श्री गुरु हमें बार-बार समझाते हैं।

आगे कहैं हैं कै जिन प्रनीत शब्द ब्रह्म विषैं सब पदारथनि के कथन की स्थिति जथार्थ है।

(सवैया इकतीसा)

अधार गुन के तथा 'सु सब परजाइ के'[3]
जगमांहि जो समस्त वस्तु सरदही[4] है।
द्रव्य विषैं गुनविषैं पुनि परजाय[5] विषैं
अर्थ नाम संग्या तीन हू के विषैं लही है॥

---

* जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं॥(प्र.सा. गाथा-८६)

१. 'परधान' ख प्रति में। २. 'सेवा' क प्रति में। ३. 'सु परजाई के सु' दोनों प्रति में। ४. 'दरसही' ख प्रति में। ५. 'परजायी' क प्रति में।

सरव स्वगुन कौ सु और परजायनि कौं
निश्चैकरि दरव प्रमान बात यही है।
जानि कैं सुभव्य याही भांति हिरदै मैं धरै
ऐसी वीतराग जू की वानी मौंही कही है ॥१३०॥*

अर्थ :– जगत् में मौजूद सभी वस्तुयें सकल गुणों और पर्यायों का आधार हैं। मतलब यह है कि प्रत्येक द्रव्य या पदार्थ में गुण-पर्यायों का ही सद्भाव होता है । तथा द्रव्य-गुण और पर्याय के विषय में अर्थ संज्ञा का व्यवहार किया जाता है अतः द्रव्य गुण पर्याय इन तीनों की ही अर्थ संज्ञा है। निश्चय नय की यथार्थ दृष्टि में प्रत्येक द्रव्य अपने सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों को लिये है यह प्रमाण भूत-प्रामाणिक बात वीतराग जिनेन्द्र देव की वाणी में ही कही गयी है अतः भव्य जीव शब्द ब्रह्म स्वरूप जिनोपदेश में जो वस्तु का स्वरूप कहा गया है उसे उसी प्रकार जानकर वस्तु को अपने हृदय में धारण करे अर्थात् उसका वैसा ही श्रद्धान करे।

आगे मोह नास करन कौ उपाइ जिनेश्वर को उपदेस है जाकौ लाभ पुरुषार्थकारी है सो उद्यम कहै हैं।

(सवैया तेईसा)

जे जग मैं जिनराज प्रनीत
महा उपदेस विषैं भवि आवैं।
जे निहचै नय सौं सरवंग[1]
सु राग विरोध विमोह नसावैं॥
जे लघु काल विषैं हनि कैं
दुख की करनी सुखवंत कहावैं।
जे निजु आपु लखै परिताप[2]
सुधी जब ही सिवमारग पावैं ॥१३१॥**

---

* दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥(प्र.सा. गाथा-८७)

** जो मोह रागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥(प्र.सा. गाथा-८८)

१. 'सरवग्य' क प्रति में। २. 'परतापु' क प्रति में।

अर्थ :– इस जगत् में जो भव्य जन जिनराज प्रणीत परम उपदेश में अपनी बुद्धि लगाते हैं वे निश्चय नय से उपदेश की यथार्थता को जानकर अपने राग-द्वेष और मोह का नाश करते हैं और थोड़े समय में ही दुःख की करनी अर्थात् मोह-राग-द्वेष की निज परिणति का हनन कर सुखवंत कहलाते हैं अर्थात् अतीन्द्रिय सुख का वेदन कर सुखी हो जाते हैं। तथा जो परम या परिपूर्ण तपश्चरण में अपनी आत्मा को लगाकर अपने को जब ही लखते हैं अर्थात् स्वानुभव से जानते हैं तब ही वे सुधी शिव के मार्ग अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग को पा जाते हैं।

आगे कहैं हैं कै स्वपर भेदविग्यान की सिद्धि तैं मोह को नास हो है ताथैं स्वपरभेद दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

जे[1] निहचैं नय सौं जग मैं
परमातम ग्यान स्वरूप निहारैं।
जा सम सुद्ध सुभाव लियैं
अपने उर अंतर मांहि विचारैं।।
पुग्गल आदि अचेतन भाव
लखैं जड़ रूप जुदै निरवारैं।
जे लखि आपु स्वरूपु विचक्षन
आपु तरैं अरु औरनि तारैं।।१३२।।*

अर्थ :– जगत् में जो निश्चय नय से परमात्मा को ज्ञान स्वरूप निहारते हैं अर्थात् समझते हैं। उनकी दृष्टि में परमात्मा मात्र जगत् को जानते हैं उसे अच्छा-बुरा नहीं जानते हैं तथा किसी भी रूप में उसे बनाते या संचालित नहीं करते हैं। वे तो जगत् के मात्र ज्ञाता हैं, उसके कर्त्ता भोक्ता नहीं हैं, यही उनका शुद्ध स्वभाव है तथा उनके समान ही मेरा भी स्वभाव निश्चय नय से शुद्ध ही है ऐसा जो अपने अंतरंग चित्त में विचार करते हैं और शरीरादि पुद्गल को एवं

* णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।।(प्र.सा. गाथा-८९)

१. 'वे' ख प्रति में।

उनके निमित्त से होने वाले अचेतन पौद्गलिक भावों को जड़ रूप जुदे जान लेते हैं वे ही उनका निवारण करते हैं ऐसे वे पुरुष अपने पर निरपेक्ष स्वरूप को जानकर आप भी संसार से पार होते हैं तथा निमित्तपने औरों को भी तारते हैं।

आगे सर्वथा स्व पर भेद विग्यान की सिद्धि जिन प्रनीत आगम तैं करनौं जोग्य है।

(कुंडलिया)

लाहौ लीजे भविक जन परम जिनागम खोजि।
गुन विशेष करिकैं छहू दरवनि विषैं विलोजि॥
दरवनि विषैं विलोजि आप अपनौं पद जानौ।
अन्य जीव निरजीव भिन्न करिकैं पहिचानौ॥
मोह विवर्जित वीतराग भावनि जौ चाहौ।
परम जिनागम मांहि खोजि लीजे भवि लाहौ॥१३३॥*

अर्थ :– हे भविक जन! जिनागम में परम तत्त्व की खोज करके लाभ ले लो अर्थात् लगन पूर्वक जिनागम का अभ्यास करो। तथा प्रत्येक द्रव्य की पहिचान उसके विशेष गुणों से करके छहों द्रव्यों के बारे में शास्त्रवचनानुसार पर्यवलोकन करो। इतना ही नहीं सभी द्रव्यों के विषय में जानकारी हासिल करके अपने स्वरूप से अपनी आत्मा को ही आप रूप जानों अपना पद (स्वरूप) ही अपना है। अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी जीव द्रव्य और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये सभी निर्जीव-अजीव द्रव्य मुझसे भिन्न हैं। इस प्रकार स्व-पर भेदज्ञान द्वारा निज आत्मा और पर पदार्थों की यथार्थ पहिचान करना चाहिये। हे भव्य! यदि तुम सचमुच मोह विवर्जित अर्थात् राग-द्वेष व मोह से रहित वीतराग भावों को अपने में प्रगट करना चाहो तो जिनागम का अभ्यास कर उसमें स्व-पर द्रव्यों को यथार्थ जानकर परम प्रयोजन को पूर्ण करने वाले आत्मा को खोज लो और मनुष्य भव को सार्थक करने का परम लाभ प्राप्त करो।

---

*तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा॥(प्र.सा. गाथा-९०)

आगे वीतराग कथित पदारथ की सरधा विना इसकैं धरम का लाभ न होइ, यह कथन।

(कुंडलिया)

सरधा विनु अस्तित्व जे जन सामान्य विसेष।
सहित जतित्व क्रिया धरैं नगन दिगंबर भेष ।।
नगन दिगंबर भेष दरवलिंगी जग* माहीं।
तिन्हि कौ सुद्ध स्वरूप धर्म की प्रापति नाहीं ।।
खेद खिन्न करि सहैं त्रास मूरख सम वरधा।
वीतराग भाषित पदारथनि[1] की विनु सरधा ।।१३४।।*

अर्थ :—सादृश्यास्तित्व और स्वरूपास्तित्व के कारण प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेष रूप है, ऐसी श्रद्धा के विना जो लोग यतिपने की क्रियाओं सहित नग्न दिगम्बर भेष धारण करते हैं वे लोग जगत् में नग्न दिगम्बर भेषधारी द्रव्यलिंगी मुनि कहलाते हैं। उनको अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव न होने से शुद्धोपयोग रूप शुद्ध धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। वे मुनि या श्रमण वीतराग जिनेन्द्र द्वारा भाषित पदार्थों की श्रद्धा किये विना ही मूरख के समान अपनी इच्छाओं-अभिलाषाओं को धारण किये हुये खेद-खिन्नता से ही त्रास-दु:ख या कष्ट को सहते हैं। सचमुच ऐसे श्रमण मुक्ति नहीं पाते हैं।

आगे वीतराग चारित्र संजुक्त महामुनि का स्वरूप कहैं हैं।

(कवित्त)

मिथ्यामोहदिष्टि 'हनि तिनिकैं'[2]
जगी सुग्यान दिष्टि घट केरी।
आगम विषैं प्रवीन उद्यमी
सावधान उर रहित अघेरी ।।
वीतराग चारित्र आचरत
साधक मुकति पंथ[3] विधि हेरी।

---

* सत्ता सबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण सभवदि ।।(प्र.सा. गाथा-९१)

१ 'पदारथ' क प्रति मे। २ 'तिन हनवै' ख प्रति में। ३. 'की सु वि' क प्रति में।

अैसें मुनि सुधर्म महिमा जुत
तिनकौं नित प्रनाम[1] है मेरी ॥१३५॥*

अर्थ :– जो सच्चे श्रमण हैं उनके मिथ्यात्व या मोह गर्भित मिथ्या दृष्टि का हनन-नाश हो जाने से उनकी आत्मा में सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दृष्टि जग जाती है। वे आगम के विषय में प्रवीण-चतुर होते हैं। शास्त्रों को जानने में सतत उद्यमी रहते हैं, पापचित्त वृत्ति रहित मन को वश में करने के लिये सावधान होते हैं। वे साधक वीतराग चारित्र का पालन करते हुये मुक्ति के पंथ में अर्थात् मोक्षमार्ग में लगकर कर्मों को हरने अर्थात् दूर करने वाले हैं। कर्म का क्षय शुद्धोपयोग के बल से ही होता है अत: ऐसे मुनिराज जो शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र मय धर्म की महिमा से युक्त हैं, उनको हमारी नित्य ही प्रणति-वन्दना है।

(दोहा)

एक परोछ प्रमान है एक प्रतक्ष प्रकार।
सो अव यह पूरौ भयौ ग्यान तत्त्व अधिकार ॥१३६॥

अर्थ :– ज्ञान ही प्रमाण है तथा प्रमाण के दो प्रकार हैं एक प्रत्यक्ष और एक परोक्ष। अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष है और इन्द्रियज्ञान परोक्ष। इस अधिकार में दोनों का वर्णन हो जाने के बाद अब यह ज्ञान तत्त्व अधिकार पूर्ण हुआ।

(इति श्री प्रवचनसारसिद्धांत तस्य भाषायां देवीदास विरचित[2] ग्यान तत्त्व कथनाधिकार संपूर्ण।)

---

* जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥(प्र सा. गाथा-९२)

१. 'प्रमान' क प्रति में। २. 'बिरच्यते' दोनों प्रति में।

ज्ञेयतत्त्व अधिकार

अथ ज्ञेयतत्त्वकथन प्रारभ्यते।

(दोहरा)

ग्येय तत्त्व कौ कथन अब सुनौं भव्य चितु लाइ।
प्रथम पदारथ के कहौ दरव सु गुन[1] परजाइ ॥१॥

अर्थ :— हे भव्य जीवो ! अब मन लगाकर ज्ञेय तत्त्व का वर्णन सुनो ! सर्वप्रथम यह जानो कि जो द्रव्य गुण पर्याय रूप है उसे ही पदार्थ कहा गया है।

(छप्पय)

विमलज्ञान महि प्रगट ग्येय पादारथ जे हैं।
सो सामान्य स्वरूप दर्वमय[2] सर्व कहे हैं ॥
पुनि सु दर्व संजुक्त गुन सु निज निज अनंत धुअ[3]।
द्रव्य अवर गुन के सु परिनमन करि सुभेद हुअ[4] ॥
कहिये सु दरव परजाय इक गुन परजाय सु दूसरिय।
परजाय असुद्धविषैं मगन[5] परसमय सु मिथ्यामतिय ॥२॥*

अर्थ :— विमलज्ञान अर्थात् केवलज्ञान में अथवा सम्यग्ज्ञान में जो जो पदार्थ प्रगट होते हैं अर्थात् जाने जाते हैं वे सब ज्ञान का विषय होंने से ज्ञेय पदार्थ कहलाते हैं। प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ सामान्य स्वरूप की अपेक्षा द्रव्यमय ही कहा जाता है। और विशेष अर्थात् गुणभेद की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों से संयुक्त रहता हुआ ध्रुव-नित्य पदार्थ है। द्रव्यों का और गुणों का परिणमन होता रहता है। जिससे ज्ञेय पदार्थ भेद रूप भिन्न-भिन्न स्वरूप वाला होता रहता है। द्रव्यों में होने वाली व्यञ्जन पर्याय द्रव्य पर्याय है और गुणों में होंने वाली प्रत्येक क्षणवर्ती पर्याय अर्थ पर्याय है। अतः द्रव्य की पर्यायें द्विविध

---

*अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुण पज्जाया पज्जयमूढ़ा हि परसमया ॥प्र सा. ९३॥

१ 'गुन सु' क प्रति में। २. 'दर्व्य मय' ख प्रति में। ३. 'ध्रुव' ख प्रति में। ४. 'हुव' ख प्रति में।
५ 'गमन' क प्रति में।

होती हैं - एक व्यञ्जन पर्याय (द्रव्य परिणति) और दूसरी अर्थ पर्याय (गुणपरिणति)। व्यञ्जन पर्याय एवं अर्थ पर्यायों से परिणमित होकर रहना तो द्रव्य का स्वभाव है। जो मिथ्यादृष्टि से सम्पन्न लोग मिथ्यादृष्टि होकर अशुद्ध पर्यायों में ही मगन रहते हैं उन्हें आगम में "परसमय" कहा गया है।

आगे इस व्याख्यान कौं संजोग पाइ सु समय परसमय दिखावै हैं।

(कवित्त छंद)

जे जिय मनुष्यादि परजायनि
विषैं लगे ममिता करि मोहि।
आतमीक गुन विषैं नपुंसक
ते पर समय कहे जिन टोहि॥
सुसमयवंत संत तिन्हि के घट
सहज परम पद परगट होहि।
दरसन ग्यान चरन गुन अपनौ
राख्यौ तिन्हि सु आप सौं गोहि॥३॥*

अर्थ :– जो जीव मनुष्य आदि प्राप्त पर्याय में मगन हैं और उसमें या उसके निमित्त से ममता कर-कर के मोही हो रहे हैं। वे आत्मीक गुणों को जानने के विषय में नपुंसक हैं अर्थात् आत्मा और उसके गुणों को जानने में असमर्थ हैं ऐसे वे लोग आत्मगवेषी जिनों के द्वारा पर समय कहे गये हैं। जो लोग सुसमयवंत अर्थात् शुद्धात्मा को जानने वाले संत पुरुष हैं उनके घट में अर्थात् उनकी आत्मा में सहज ही परम पद अर्थात् परमात्मदशा प्रगट होवेगी क्योंकि उन्होंने अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणों को जानकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पर्यायों स्वरूप रत्नत्रय को अपने से अपने में ही अच्छी तरह छुपा कर रखा है। मतलब यह है कि जो शुद्धोपयोग स्वरूप स्वानुभव में मगन है और स्वानुभव की ही एक मात्र लगन जिनके है, ऐसे भव्यजनों को सुसमय (स्वसमय) जानना चाहिये।

---

* जे पज्जयेसु णिरदा जीवा पर समयत्ति णिद्दिट्ठा।
आद सहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥(प्र.सा. गाथा-९४)

आगे द्रव्य का लक्षन बतावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

जो न तजै अपनै निज पोरिष
कौं नित एक स्वरूप रहैगौ।
जो जगमैं उपजै विनसै सु
तथा पुनि ध्रौव्य सुभाव गहैगौ।।
जो गुनवंत अनंत सही
परजायनि के सु प्रवाह बहैगौ।
लछिन ये लखिये जिहि मैं तिहि
सौं सु अचारज द्रव्य कहैगौ।।४।।*

अर्थ :– जो अपने स्वयं के पौरुष अर्थात् परिणमनशीलता रूप उद्यम को नहीं त्यागता है, सदा एक परिणमनशील स्वरूप वाला ही रहता है। तथा जो इस जगत् में उत्पन्न होना (उत्पाद), विनशना (व्यय) और उत्पाद-व्यय होने पर भी ध्रौव्य (स्थिरत्व-स्थायित्व, वही का वही रहना) स्वभाव को ही ग्रहण किये रहता है। जो अनंत गुणों वाला है और अपनी अनंतानंत पर्यायों के प्रवाह में सही रूप से प्रवाहित रहता है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव रूप लक्षण जिसमें जानने में आता है उसको आचार्य भगवन्त द्रव्य कहते हैं।

आगे स्वरूप दोइ-प्रकार है एक स्वरूपास्तित्व, एक सादृस्यास्तित्व। जामैं प्रथम स्वरूपास्तित्व 'कहैं हैं'[1]।

(छप्पय)

सदाकाल सो दरव[2] गहैं अस्तित्व आप[3] धुअ[4]।
मूलभूत मंडित सुभाव भाषित[5] जिनेस जुव।।

---

* अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसबद्ध।
गुणव च सपज्जायं ज त दव्व ति वुच्चंति।।(प्र.सा गाथा-९५)

१ 'दिखाइये है' क प्रति मे। २ 'दर्व्य' ख प्रति में। ३ 'आय' ख प्रति में। ४. 'वुध' ख प्रति में।
५ 'भाषी' ख प्रति में।

जुत अनंत गुन आप परत तिन्हि सौं न कहूं चल।
विविध भांति परजाय लियै तिन्हि विनु[1] न होत पल॥
उतपाद और[2] वय ध्रुअ सु यह त्रिविध रूप पर पन सहित।
सो अमिल सर्व आपुस विर्षे आदि अंत करिकैं[3] रहित॥५॥*

अर्थः— प्रत्येक द्रव्य सदाकाल ही अपने अस्तित्व को धारण किये रहता है। अस्तित्व रूप से रहना उसका अपना मूलभूत-ध्रुव स्वभाव है। इस प्रकार द्रव्य सदैव स्वरूपास्तित्व से मंडित होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा भाषित है। द्रव्य अपने अनंत गुणों से युक्त होता है वे गुण द्रव्य में कहीं से आकर नहीं पड़ते हैं और न ही द्रव्यों से उनके गुण कहीं चले जाते हैं। वे तो सदाकाल अपने स्वरूपास्तित्व के कारण द्रव्य में ही रहते हैं। वे गुण पृथक्-पृथक् योग्यता रूप अनेकविध पर्यायों को लिये रहते हैं पर्यायों के विना द्रव्य एक पल (समयमात्र) भी नहीं रहता है। उत्पाद, व्यय और ध्रुवता ये द्रव्य के तीन रूप हैं या इसे ही द्रव्य का त्रैरूप्यलक्षण कहा है। द्रव्य तो हर क्षण ऐसे ही स्वभाव सहित एक रूप ही है पर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी अपने स्वभाव सहित त्रिविध हैं सो तीनों परस्पर संज्ञा लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा भिन्न हैं और आदि-अंत पने से रहित हैं। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है कि वह उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यपने से रहे। इस प्रकार द्रव्य का सदैव अपने रूप रहने का स्वभाव ही स्वरूपास्तित्व जानना चाहिये।

आगे अब[4] सादृश्य अस्तित्व कहैं हैं[5]।

(अडिल्ल)

नानाविध लक्षिन मझार इक दरव के।
लक्षिन एक सुदर्व[6] विर्षे पुनि सरव के॥

---

* सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं॥(प्र.सा. गाथा-९६)

१. 'विना' ख प्रति में। २. 'अवर' ख प्रति में। ३. 'करकैं' ख प्रति में। ४. क प्रति में नहीं। ५. 'दिखावै हैं'' ख प्रति में। ६. 'सुदर्व्य' ख प्रति में।

यह सामान्य विशेष दुविधि सु अवाज के।
मुखतैं प्रगट भयै सुभेद जिनराज के ॥६॥*

अर्थ :– प्रत्येक द्रव्य में मौजूद स्वरूपास्तित्व के द्वारा जो अलग-अलग द्रव्य के नानाविध लक्षण कहे गये हैं उन लक्षणों में कोई ऐसा लक्षण जो एक द्रव्य का भी है और सभी द्रव्यों का भी है। अर्थात् जो लक्षण सभी द्रव्यों में एक जैसा ही अपना-अपना विद्यमान रहता है। उसे सादृश्यास्तित्व कहते हैं। सर्वज्ञ-वीतरागी परमात्मा जिनराज के मुखतैं अर्थात् उनके निमित्त से प्रगट दिव्यध्वनि के द्वारा प्रगट है कि द्रव्य में जो भी नानाविध गुण पाये जाते हैं उनको दो भेदों में बाँटा जा सकता है। सामान्य गुण और विशेषगुण। विशेषगुण अपने-अपने द्रव्य के स्वरूपास्तित्व के सूचक होते हैं तथा सामान्य गुण सभी द्रव्यों में समान-सदृश रूप से पाये जाने के कारण सादृश्यास्तित्व के सूचक समझने चाहिये।

यही अतिविस्तार करि दिखाईये हैं[1]।

(चौपई छंद)

विविधप्रकार भेद विस्तारा अन्य द्रव्यतैं अन्य प्रकारा।
आप विषैं सु आपु जब आवै सो स्वरूप[2] अस्तित्व कहावै ॥७॥
दरव-दरव को भेद न कीजे सब ही विषैं प्रवर्तन लीजे।
सदा अभेद रूप एकत्व 'सादृस्या सु नाम अस्तित्व'[3] ॥८॥

अर्थ :– स्वरूपास्तित्व के भेदों का विस्तार विविध प्रकार से संभव है जिसके कारण प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्यों से अन्य-अन्य प्रकार का जाना जाता है। विवक्षित द्रव्य के अस्तित्व के विषय में जब विवक्षित द्रव्य के ही गुण-पर्याय अपेक्षित होते हैं द्रव्य के विना गुण-पर्यायों की निष्पत्ति-सिद्धि संभव नहीं होती है। गुण-पर्यायों से ही द्रव्य की निष्पत्ति-सिद्धि संभव है, गुण

---

* इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥(प्र सा. गाथा-९७)

१ क प्रति में यह पक्ति नहीं। २. 'स्वरूपा सु' क प्रति में। ३ ख प्रति मे नहीं।

पर्यायों के बिना कदापि नहीं। अतः द्रव्य में अपने स्वरूपास्तित्व की सिद्धि अपने ही गुणपर्याय रूप विशेष स्वभावों से होती है। इसे ही स्वरूपास्तित्व कहते हैं।

तथा जब यह अमुक द्रव्य है, यह अमुक द्रव्य है – ऐसा भेद नहीं किया जाता है। यह भी सत् है, वह भी सत् है। हर द्रव्य सत् ही है - ऐसे सत् स्वभाव का होना सभी द्रव्यों में होता है। इस प्रकार सत् सभी द्रव्यों में रहने वाला अपना-अपना अलग-अलग धर्म है। एक ही सत् सभी द्रव्यों में व्याप्त नहीं है अपितु प्रत्येक द्रव्य का 'सत्' रूप अपना धर्म अन्य द्रव्यों के "सत्" रूप धर्म के सदृश-समान ही है। 'सत्' रूप धर्म द्रव्य में अभेदपने सदैव रहता है। इस प्रकार "सत्" द्रव्य में अस्तित्व की अपेक्षा परस्पर एकत्व का ही साधक है। तथा इस सत् रूप सादृश्यास्तित्व की दृष्टि में सभी द्रव्य एक जैसे ही हैं ऐसा कहा जा सकता है। अतः द्रव्य में अभेदपने से विद्यमान और एकत्व का साधक धर्म (स्वभाव) ही द्रव्य का सादृश्यास्तित्व कहलाता है।

अब इसी बात को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं।

(दोहरा)

आम-नीम[1] आदिक सु ज्यौं तरवर बहुत प्रकार।
सो पुनि वृक्ष विचार करि एक रूप निरधार॥९॥
'ज्यों स्वरूप अस्तित्व करि वस्तु प्रकार अनेक।
दीसे सो साद्रस्यता सौं सु प्रगट विधि एक॥१०॥'[2]

अर्थ :– जैसे आम, नीम, इमली, पीपल आदि की अपेक्षा वृक्ष अनेक प्रकारके होते हैं। उन सबमें वृक्षपना भी सबका अपना-अपना व अलग-अलग ही होता है कोई किसी अन्य के कारण से वृक्ष नहीं है। सारे ही वृक्षों में आमपना, नीमपना, इत्यादि विशेष स्वरूप और वृक्षत्व रूप सामान्य स्वरूप

---

१. 'आव-नींब' ख प्रति में। २. ख प्रति में इस प्रकार है –

"स्वरूपासु अस्तित्व की ज्यौं अनेक विधि दर्व।
दीखें सो साद्रस्यता सौं सु येक पुन सर्व॥"

विद्यमान होता ही है और हमें अवगत भी होता है। वृक्षों में आमपना आदि को स्वरूपास्तित्व और वृक्षपना आदि को सादृश्यास्तित्व जानना चाहिये।

वैसे ही जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आदि की अपेक्षा द्रव्य या वस्तु अनेक प्रकार की है। भिन्न-भिन्न विशेष स्वभाव वाले अनेक द्रव्य जगत् में हैं। उन सभी द्रव्यों में अपना-अपना, अलग-अलग द्रव्यत्व या सत्त्वपना (सत् धर्म) भी मौजूद है कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के कारण द्रव्य या सत् धर्म वाला नहीं है। सभी में समान रूप से अपना अपना सत् अपने द्रव्य से एकत्व रूप अभिन्न है। सभी द्रव्यों में सत् के सादृश्य रूप स्वभाव का अस्तित्व है। इस प्रकार सभी द्रव्यों में जीवपना, पुद्गलपना आदि विशेष स्वरूप और सत्पने से द्रव्यत्व रूप सामान्य स्वरूप हर द्रव्य में हर समय पाया ही जाता है और हमें अवगत भी होता है। अतः द्रव्यों में जीवपना आदि को स्वरूपास्तित्व तथा सत् रूप द्रव्यत्व को सादृश्यास्तित्व जानना चाहिये।

आगे और द्रव्यतैं सत्ता की जुदागी कौ निषेध है। (यहाँ द्रव्य और सत्ता की परस्पर पृथकता का निषेध बताया है।)

(छप्पय)

स्वयं सिद्ध सो दर्व[1] आप अपनैं[2] सुभाव जुत।
स्वयं सिद्ध सत्ता सु दर्व[3] तिहितैं न होत[4] चुत॥
सत्ता गुन पुनि गुनिय दर्व[5] सु प्रदेस एक हिय।
जद्यपि सो गुन गुनिय भेद करिकैं सु भांति[6] विय॥
निज वस्तु स्वरूप विचार उरि इहि प्रकार सु न सरदहइ[7]।
सो पुरिष जिनागम के विर्षे मिथ्यामती[8] सु परसमय॥११॥*

अर्थ :– प्रत्येक द्रव्य स्वयं सिद्ध है। वह किसी के द्वारा निर्मित नहीं है तथा स्वयं ही अपने स्वभाव से युक्त रहता है। द्रव्य में उसकी सत्ता भी स्वयं

---

* दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ॥(प्र.सा. गाथा-९८)

१. 'दर्व्य' ख प्रति में। २. 'अपुनैं' ख प्रति में। ३. 'दर्व्य' ख प्रति में। ४. 'होय' ख प्रति में। ५. 'दर्व्य' ख प्रति में। ६. 'भगति' क प्रति में। ७. 'सर्दहय' ख प्रति में। ८. 'मिथ्यामतिय' ख प्रति में।

सिद्ध-अकृत्रिम है। वह सत्ता कभी भी द्रव्य से च्युत नहीं होती है, सदैव द्रव्य के आश्रय में ही रहती है। सत्ता द्रव्य का गुण है और द्रव्य गुणी। दोनों एक साथ मिलकर एक ही स्थान पर रहते हैं। दोनों में परस्पर प्रदेश भेद नहीं है। यद्यपि जो भी गुण गुणी का परस्पर भेद है वह मात्र अच्छी तरह से द्रव्य को समझाने के लिये ही किया गया है। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा गुण गुणी में परस्पर भेद करना अयथार्थ भी नहीं है। प्रदेशभिन्नता गुण गुणी में नहीं है। इस प्रकार से ही जो पुरुष अपनी आत्म वस्तु के स्वरूप को मन में विचारकर जिनागम के विषय में अर्थात् जिनोक्त द्रव्य के स्वरूप के बारे में सही श्रद्धान नहीं करता है तो वह मिथ्यामति पुरुष परसमय ही है।

आगे उत्पाद व्यय स्वरूप के होते संतै सत्[1] द्रव्य हो है, यह कथन।

(छप्पय)

जो अपनी परनति मझार तिष्ठत सु काल चिरु।
जो सु[2] वस्तु सत्ता स्वरूप जानौं सु दर्व थिरु।।
दर्व के सु गुन विषैं पुनि सु परजायनि मांही।
निश्चय करि परिनाम[3] ताहि थिरता पद नांही।।
कहिये सुभाव सो दरव कौ उपजै विनसै थिर रहै।
इहि भांति सुलझिन दरव के त्रिविध रूप आगम कहै।।१२।।*

अर्थ :– द्रव्य का जो स्वभाव अपनी परणति में चिरकाल तक अर्थात् सदैव रहता है, उसे अथवा जो वस्तु का सत्ता रूप स्वरूप है उसे तुम द्रव्य का स्थिर-स्थायी धर्म जानों। द्रव्य के गुण होते हैं और गुणों की पर्यायें होती हैं इस प्रकार द्रव्य अपने गुणों और पर्यायों में ही सदा वर्तता है। निश्चय से जो परिणाम-परिणमन है अर्थात् पर्यायें हैं उनकी अपेक्षा द्रव्य के थिरता-स्थिरता-ध्रुवता नहीं है अर्थात् पर्यायों या परिणामों की अपेक्षा द्रव्य उत्पाद-व्यय रूप है। इसलिये ही द्रव्य का स्वभाव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। प्रत्येक द्रव्य

* सदवट्ठिदं सहावे दव्व दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो।।(प्र.सा. गाथा-९९)

१. 'तत्त्वरूप' ख प्रति में। २ 'स्व' ख प्रति में। ३. 'परसामि' ख प्रति में।

अपनी पर्यायों से प्रतिसमय उपजता है और विनशता है तथा गुणों के नित्य अवस्थित रहने से अथवा उत्पन्न ध्वंसी पर्यायों में सदा विद्यमान रहने वाला होने से द्रव्य ध्रुव रहता है। इस विधि से द्रव्य के निर्दोष लक्षण को आगम अर्थात् जिनोपदेश उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहता है।

आगे कहैं हैं कै उत्पाद व्यय ध्रौव्य ए आपुस में जुदे नाहीं एक हैं।

(दोहरा)

वय मझार उतपत्य है, उतपति सो वय मांहि।
वय उतपति दोउ सु पुनि सुथिर वस्तु विनु नांहि[1] ॥१३॥*

अर्थ :– व्यय के विना उत्पाद नहीं हो सकता और उत्पाद के विना व्यय नहीं हो सकता, इस अविनाभावपने की धारणा को पुष्ट करते हुए कवि ने लिखा है कि व्यय में उत्पत्ति होने योग्य है और जो उत्पत्ति है सो वह व्यय में ही है। उत्पाद-व्यय दोनों ही परस्पर अविनाभावी हैं। दोनों का एक-दूसरे के विना होना असंभव है। तथा व्यय और उत्पत्ति ये दोनों सुस्थिर ध्रुव वस्तु के विना नहीं होते हैं। अतः उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी जानने चाहिये। इनमें से किसी एक के विना किसी अन्य का होना असंभव है। ये तीनों एकसाथ ही द्रव्य में होते हैं।

(कवित्त छंद)

वय उत्पत्य ध्रौव्यता इन्हि कौ
परजायनि के विषैं निवास।
परजायनि कौ सदा प्रवर्तन
तथा अवस्य दर्व[2] के पास॥
तिहि कारन उत्पाद आदि दै
अरु परजाय एक ही रास।

---

* ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो विय भंगो ण विणा धौव्वेण अत्थेण॥(प्र.सा. गाथा-१००)

१ 'जाहि' ख प्रति में। २. 'दर्व्य' ख प्रति में।

सो सब ही सु दरव[1] निश्चै[2] करि
 भेद अवर दुसरौ न जास ॥१४॥*

अर्थ :– प्रत्येक द्रव्य में जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यता कही गयी है सो इन तीनों उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यता का होना अर्थात् पाया जाना पर्यायों में ही है और पर्यायों का सदैव प्रवर्तन अवश्य-निश्चित ही द्रव्य के पास है अर्थात् द्रव्य में ही पर्यायों का प्रवर्तन है। यही कारण है कि उत्पाद को आदि करके जो व्यय और ध्रौव्य हैं वे सब एक ही पर्याय की राशि है अर्थात् एक ही पर्याय में तीनों पाये जाते हैं। सो यह सब होना अर्थात् हर पर्यायों में उत्पादादि त्रय का होना निश्चय से द्रव्य का स्वभाव ही है। गुण-पर्याय का होना अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का होना द्रव्य का स्वभाव है द्रव्य का दूसरा भेद नहीं है, तीनों द्रव्य रूप ही हैं – यह जानना।

आगे इन उत्पाद आदि कौ समय भेद नांही एक ही समै हो है। द्रव्यतैं अभेद कहैं हैं।

(कवित्त)

उतपति ध्रौव्य और वय इनि कौं
 संग्या कही पदारथ नाम।
सदाकाल तिन्हिं कौं सु दरव कौ
 निश्चय एकमेक परिनाम॥
परनति समैं अभेद एक हो
 जिनि सौं दरव सौं सु वसु जाम।
तिहि कारन उतपाद आदि जो
 दरव स्वरूप एक ही ठाम॥१५॥**

अर्थ :– उत्पत्ति (उत्पाद), व्यय और ध्रौव्य इन तीनों की द्रव्य (पदार्थ)

---

* उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
 दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥(प्र.सा. गाथा-१०१)

** समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
 एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥(प्र.सा. गाथा-१०२)

१. 'दर्व्य' ख प्रति में। २. 'निश्चय' ख प्रति में।

संज्ञा ही कही गयी है अर्थात् ये द्रव्य ही हैं। क्योंकि उत्पाद,व्यय, ध्रौव्य का और द्रव्य का सदाकाल निश्चय ही एकमेक परिणाम है अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्यमय ही हैं तथा द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से सदैव वर्तता रहता है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप परिणति एक समय में ही होती है अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से द्रव्य का और द्रव्य से उत्पादादि का आठों याम अर्थात् सदैव अभेदपना है। इस अभेदपने के कारण ही तो जो उत्पाद आदि हैं वे द्रव्य का ही स्वरूप हैं,दोनों का ठौर एक ही है। एक ही ठाम अर्थात् एक ही स्थान पर उनका परस्पर अवस्थान है। संज्ञा लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा उन उत्पादादि में और द्रव्य में भेद होने पर भी प्रदेश की अपेक्षा भेद नहीं है।

आगे एक द्रव्य परजाय रूप द्वार करि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यता दिखावैं हैं।

(दोहरा)

उपजै विनसै दरव कौ अन्य अन्य परजाय।
सो उपजै विनसै न पुनि थिर निज वस्तु सुभाय।।१६।।
दरव परिनवै[1] आपु इक गुन सुरूप तैं और।
स्वरूपा सु अस्तित्व करि सो पुनि सुथिर-सुठौर।।१७।।
तिहि कारन तैं गुननि के लहिये पुनि परजाय।
सो सरदहिये दरव ही कहिये और न ताय।।१८।।''*

अर्थ :– द्रव्य पर्याय या व्यंजन पर्याय की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य की अन्य ही पर्याय उत्पन्न होती है और अन्य ही व्यय होती है। अर्थात् व्यञ्जन पर्याय की अपेक्षा द्रव्य में पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है। इस प्रकार एक समय में अन्य अन्य पर्याय का उत्पाद व्यय जानना चाहिये। दोंनों ही पर्यायों के होने पर अर्थात् पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के व्यय होने तथा

---

* पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स त पि दव्व णेव पणट्ठ ण उप्पण्णं।।(प्र.सा गाथा-१०३)
परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुण पज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति।।(प्र.सा गाथा-१०४)

१. 'परन कैं' - ख प्रति में।

उत्तरक्षणवर्ती पर्याय के उत्पाद होने के काल में द्रव्य स्थिर-ध्रुव ही रहता है। यह द्रव्य या वस्तु का निज स्वभाव ही है।

द्रव्य स्वयं ही परिणमित होता है क्योंकि पूर्वावस्था में अवस्थित गुण स्वरूप से और उत्तर अवस्था में अवस्थित गुणपने से जो परिणमन होता है वह उस द्रव्य में ही होता है। इस प्रकार क्रमशः होंने वाली अनंत पर्यायों में स्वरूपास्तित्त्व ही कायम रहता है अर्थात् ज्ञान गुण की होंने वालीं अनंतानंत पर्यायें अपने स्वरूपास्तित्व याने जाननपने के स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़तीं हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण गुण में विशेष-विशेष परिणमन होते हुये भी स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा वह सुस्थिर एवं अपने द्रव्य के प्रदेशों में ही होता है। इसलिये कहा जाता है कि द्रव्य में होने वाली गुणपर्यायें द्रव्य ही हैं और कुछ नहीं, यह श्रद्धान कर लेना चाहिये।

यह बात दिष्टांत सौं[1] दिढ़ावैं[2] हैं।

(दोहरा)

जैसें फल इक आम कौ हरित लखै सब कोइ।
समै पाइ करि सो कछु पीत वरन पुनि होइ॥१९॥
पूरव उत्तर आम के विषैं अवस्था दोइ।
तिन्हि करिकैं वह आम पुनि और वस्तु नहिं होई॥२०॥
पीतता सु करि उपजही विनसै हरित सुभाय।
आम दसा करि थिर लियैं दरव सुगुन परजाय॥२१॥

अर्थ :— जैसे एक आम्र फल को हरित रूप से सभी लोग देखते हैं। फिर वही आम समय पा करके कुछ पीले वर्ण वाला हो जाता है। इसप्रकार आम में पूर्वोत्तर अवस्था के भेद से दो अवस्थायें हुईं पूर्व अवस्था हरित रूप तथा उत्तर अवस्था पीत (पीले) रूप। पूर्वोत्तर हरित, पीत अवस्थाओं से परिणमित होकर भी वह आम आम ही है, हरित से पीत परिणमन हो जाने से वह आम के अलावा अन्य वस्तु नहीं होता है।

---

१. 'द्रष्टात कर फेर' - ख प्रति में। २. 'दिखावै' - ख प्रति में।

आम ही पीतता से उत्पन्न होता है, यह उत्पाद है और आम का ही हरित स्वभाव विनशता है, यह उसका व्यय है। दोनों ही हरित पीत अवस्थाओं में आम आम ही रहता है। उसका आम्रपन स्थिरता को लिये है, ध्रुव है। इसप्रकार द्रव्य पर्यायों और गुण पर्यायों से आम आम ही है अन्य नहीं।

आगे सत्ता द्रव्य को अभेद दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

जौ न होहि[1] दर्व[2] सत्ता रूप तौ सु सत्तारूप
दर्व[3] ताहि भयौ सो असत्ता रूप चहिए।
सत्ता विना वस्तु है सु कैसैं दर्व[4] रूप होहि
अथवा सु वस्तु सत्तातैं सु भिन्न लहिये।।
तार्थै दर्व[5] आप ही अभेद एक सत्ता रूप
जानि जिन उकति प्रमान सरदहिये।
द्रव्य है सु गुनी जाकौ गुन है स्वरूप सत्ता
गुन गुनी भेद न प्रदेस भेद कहिये।।२२।।*

अर्थ :– द्रव्य स्वयं अपने स्वरूप से सत्तारूप होता है। यदि यह न माना जाये अर्थात् द्रव्य स्वयं अपने सत्ता रूप स्वभाव से सत्तावान् नहीं होवे तो फिर द्रव्य से भिन्न किसी सत्ता स्वरूप पदार्थ के कारण द्रव्य को सत्तारूप अर्थात् सत्ता वाला मानना होगा। जिससे यह सिद्ध होगा कि द्रव्य को स्वयं में तो असत्ता रूप ही होना चाहिए। यहाँ नैयायिक मत के अनुसार द्रव्य को सत्ता से भिन्न मानता हुआ कोई शिष्य कहता है कि द्रव्य सत्ता से भिन्न या अन्य ही होता है तथा सत्ता के साथ समवाय सम्बन्ध से वह द्रव्य सत्ता स्वरूप अर्थात् सत् होता है। यहाँ जैनाचार्य उनसे पूछते हैं कि द्रव्य में सत्ता समवाय संबंध से आती है और वह सत्ता रूप होता है तो बताइये सत्ता के साथ द्रव्य का समवाय संबंध होने से पूर्व द्रव्य सत् है या असत् है ? यदि समवाय संबंध से पूर्व द्रव्य

* ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।(प्र.सा गाथा-१०५)

१ 'होय' ख प्रति में। २,३,४,५. 'द्रव्य' ख प्रति में।

को सत् मानेंगे तो सत्ता के साथ समवाय की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और असत् मानेंगे तो सत्ता का समवाय संबंध असत् द्रव्य के साथ मानना सिद्ध हो जायेगा, जिससे अति प्रसङ्ग अनिवार्य हो जायेगा। अतः असद्रूप खपुष्प या वन्ध्यासुत आदि के साथ भी सत्ता का समवाय संबंध मानना पड़ेगा और वे भी द्रव्य के जैसे सत् हो जायेंगे जिससे लोक विरुद्धता आ जायेगी। इस सबको हृदय में रखकर कवि कहता है कि सत्ता के विना कोई भी वस्तु द्रव्य रूप अर्थात् सत् रूप कैसे हो सकेगी अथवा सत् रूप वस्तु को सत्ता से भिन्न कैसे ग्रहण किया जायेगा ? नहीं किया जा सकेगा इसलिए द्रव्य को स्वयं ही अपनी सत्ता से अभेद-अभिन्न होने के कारण एक सत् या सत्ता स्वरूप वाला जानकर जिनोक्त वचनों अथवा सर्वज्ञ के कथन प्रमाण ही श्रद्धान करना चाहिए। तदनुसार द्रव्य गुणी है जिसका सत्ता स्वरूप गुण है अर्थात् सत्ता भी गुणी द्रव्य का एक गुण है। इस जिनोक्त वचन के अनुसार द्रव्य और गुणादिकों में या गुण-गुणी में परस्पर संज्ञा-लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा भेद कहा गया है, किन्तु उनमें परस्पर प्रदेश भेद नहीं है।

आगे सिद्धांत विर्षं भेद दोइ हैं। एक प्रथक्त्व एक अन्यत्व। तिनका[1] लक्षण बतावैं है।

(दोहरा)

"दर्व दर्व तिन्हि के जु हैं जुदे जुदे सु प्रदेस।
सो प्रथक्त्व भाष्यौ विर्षं महावीर उपदेस।।२३।।"[2]
सत्ता दर्व[3] प्रदेस करि नहीं जुदागी मांहि।
जैसें वस्त्र सुपेत गुन विर्षं अन्यता[4] नांहि।।२४।।
भेद नाम अन्यत्व करि सत्ता दर्व[5] मझार।
जाकौ जिन आगम विर्षं सुनौ भव्य निरधार।।२५।।
संग्या संख्या आदि करि जुदौ जुदौ औ रूप।
जो सुभाव है दरव कौ सत्ता कौ न सरूप।।२६।।

---

१. 'तिहिकौ' ख प्रति में। २. ख प्रति में नहीं। ३. 'द्रव्य' ख प्रति में। ४. 'अन्यथा' ख प्रति में।
५. 'दर्व्य' ख प्रति में।

सत्ता कौ जु स्वरूप है दरव विषैं सु निषेद।
कह्यौ नाम अन्यत्व करि यह[1] सु गुन गुनी भेद॥२७॥*

अर्थ :– इस जगत् में जितने भी द्रव्य हैं, उनके प्रदेश जुदे-जुदे अर्थात् पृथक्-पृथक् होते हैं अर्थात् प्रदेश (द्रव्य के स्वक्षेत्र) की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् ही है, इसे ही भगवान् महावीर के उपदेश में पृथक्त्व कहा गया है। द्रव्य (गुणी) और सत्ता (गुण) में परस्पर प्रदेश की अपेक्षा भी जुदायगी अर्थात् पृथक्पना नहीं है। वैसे ही जैसे वस्त्र (गुणी) और उसका सफेदपना (गुण) में प्रदेश अपेक्षा भी अन्यत्त्व नहीं होता है। इसप्रकार दोनों में प्रदेश की अपेक्षा अभिन्नता-एकता जाननी चाहिए। प्रदेश की अपेक्षा द्रव्यों में परस्पर पृथक्त्व होने पर भी प्रत्येक द्रव्य में पायी जाने वाली सत्ता का अपने द्रव्य से जो भी कथंचित् भेद है, वह अन्यत्व के कारण से ही है। जिसको जिन भगवान् के उपदेश स्वरूप आगम से जानकर तथा अपनी बुद्धि में निर्धारण करके मैं कहता हूँ हे भव्य! तुम उसे मन लगाकर सुनो। संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से द्रव्य रूप गुणी और सत्तादिकरूप गुणादिकों में जुदापना अर्थात् अन्यपना भी मौजूद है। द्रव्य का एवं उसमें रहने वाले प्रत्येक गुण की अपनी अलग-अलग संज्ञा, संख्या, प्रयोजन और स्वभाव अन्य-अन्य ही हैं, कोई गुण किसी अन्य गुण में समाता नहीं है। परस्पर एक दूसरे का परिणमन रूप कार्य भी नहीं करता है। सदाकाल हर द्रव्य और उसका हर गुण अपना और जुदा-जुदा ही परिणमन करता है। कोई किसी का परिणमन कर ही नहीं सकता है, इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुणों एवं उनके परिणमन स्वरूप पर्यायों-कार्यों की अपेक्षा अन्यत्व ही है और प्रदेश भिन्नता के अभाव से एकत्व भी है। इसी को ध्यान में रखकर कवि कहते हैं कि जो द्रव्य (गुणी) का स्वभाव है, वह सत्ता (गुण) का स्वरूप नहीं है और जो सत्ता का स्वरूप है,

---

* पविभत्तपदेसत्त पुधत्तमिदि सासण हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भव होदि कधमेगं॥(प्र.सा. गाथा-१०६)

१. 'यहु' क प्रति में।

वह द्रव्य में सत्ता (गुण) के विना कतई संभव नहीं है। मतलब यह है कि द्रव्य का सत्ता गुण ही सत्ता रूप से परिणमन करता है, जिससे द्रव्य की सत्ता है। सत्ता के विना द्रव्य के होने का निषेध है। गुणों के बिना गुणी हो ही नहीं सकता, क्योंकि गुणों के आश्रय-आधार को ही गुणी कहते हैं। वैसे ही सत्तादिक गुणों के आश्रय-आधार को ही द्रव्य कहा है। गुण-गुणी के भेद को अन्यत्व स्वभाव के कारण ही कहा गया है – यह समझना चाहिए।

इहाँ कोई वितर्क करै है सो कहैं हैं।

(कवित्त छन्द)

जो कोई जन कहै दरव के
सत्ता के प्रदेस जे सोइ।
जिन्हि के विषैं एकता निश्चय
करि[1] सुभेद दूसरौ न होइ॥
सो अन्यत्व[2] नाम करिकैं पुनि
किहि कारन कहे सु विधि दोइ।
जाकौ कहैं सुगुरु फिरि उत्तर
पूंछनहार कौं भ्रम[3] खोइ॥२८॥

अर्थ :– कोई शिष्य जन प्रश्न करता है कि द्रव्य के जो प्रदेश हैं सो वे ही प्रदेश सत्ता के भी हैं, इन प्रदेशों में अर्थात् एक क्षेत्रावगाह स्वरूप आकाश प्रदेशों में रहने से द्रव्य और सत्ता में एकता का निश्चय होता है कि सत्ता और द्रव्य परस्पर में दूसरे नहीं हैं, एक ही हैं। तो फिर सत्ता और द्रव्य में परस्पर अन्यत्व किस कारण से कहा है, जिससे गुण-गुणी ये दो भेद होते हैं। उसका प्रश्न जानकर ही श्रीगुरु पूँछनहार प्रश्नकर्ता को उसका भ्रम दूर करने के लिए कहते हैं।

अब गुरु उत्तर कहैं है।

(सवैया इकतीसा)

सत्ता के सु दर्व के मझार है सुभाव सोई
कहै कोई एक ही स्वरूप सो न[4] मानिये।

१. क प्रति में नहीं। २. 'अनित्व' क प्रति में। ३. 'सुभ्र' क प्रति में। ४. ख प्रति में नहीं।

सत्ता दर्व विषैं नाम संख्या आदि लक्षन[1] के
भेद सौं अवस्यकैं स्वरूप भेद जानिये ॥
सत्ता दर्व तार्थें कही कैसे एक रूप होहि
अन्यत्व नाम सौं जुदे-जुदे सु मानिये।
यहै गुन गुनी को सु भेद जामैं एकता कौ
कीनौ है निषेद जो हियें सु भव्य आनिये ॥२१॥

अर्थ :—सत्ता और द्रव्य के बीच में परस्पर प्रदेश भिन्नता न होने से उनमें एकत्व रूप अभेदपने का स्वभाव ही अकेला है सो ऐसा एक ही स्वरूप द्रव्य और सत्ता के बीच नहीं मानना चाहिए और भी अनेक स्वभाव हैं। सत्ता और द्रव्य में परस्पर नाम (संज्ञा) की भिन्नता, संख्या की भिन्नता जैसे गुणी (द्रव्य) की संख्या एक तथा गुणों (सत्तादिकों) की संख्या अनेक (अनंत), लक्षण आदि की अपेक्षा भिन्नता तथा प्रयोजन की अपेक्षा भिन्नता बुद्धिगम्य है ही, अत: संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा दोनों में भेद होने से अवश्य ही द्रव्य और सत्ता का परस्पर अन्यत्व रूप भेद स्वरूप भी जानना-मानना चाहिए। इसप्रकार सत्ता और द्रव्य में परस्पर भेदात्मक अन्यत्व स्वरूप होने से बताइये यह कैसे कहा जाये कि द्रव्य और सत्ता सर्वथा एक रूप ही है, अभिन्न ही है। नहीं कहा जा सकता है अत: अन्यत्व स्वरूप के कारण द्रव्य और सत्ता को जुदे-जुदे, भिन्न-भिन्न भी जानना चाहिए तथा द्रव्य और सत्ता के बीच में परस्पर गुण-गुणी का भेद है, जिसमें संज्ञा, लक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा एकता का अर्थात् सत्ता और द्रव्य दोनों का परस्पर सर्वथा एक होने का निषेध किया है। सो भव्य जीव के हृदय (मन) में अथवा बुद्धि में यह बात समझ में आ जाती है कि सत्ता और द्रव्य दो नहीं हैं, उनमें एकपना भी है और पृथक्पना भी है।

आगे यह बात द्रष्टांत कर दिखावैं हैं।[2]

---

१ 'लछिन' क प्रति में। २. यह बात दिष्टांत सौं दिखावै है – क प्रति में।

(चौपई छंद)

जैसैं वसन सुकल गुन मांही, जह अन्यत्व एकता नाहीं।
दीसैं 'सुकल वरन'[1] करि नैना, तार्थें सेत[2] वसन गुन है ना ॥३०॥
वसन सेष इंद्रिनि करि गहिये, तिहि कारन सु जुदागी लहिये।
भेद गुन गुनी करि जिम दोऊ परदेसनि करि जुदे न कोऊ ॥३१॥

अर्थ :– जैसे वस्त्र और उसके शुक्ल गुण में जिस कारण केवल अन्यत्व या एकत्व (एकता) ही नहीं है, किन्तु दोनों ही हैं अर्थात् वस्त्र और शुक्ल गुण में प्रदेशों की अपेक्षा भिन्नता न होने से दोनों में एकत्व भी है तथा श्वेत गुण ही सम्पूर्ण वस्त्र नहीं है एवं वस्त्र में मात्र श्वेत गुण रूपता ही नहीं है, उसमें तद्भिन्न अनेक मृदु-कठोर-स्पर्शादि गुण भी हैं, अतः श्वेत गुण मात्र ही वस्त्र नहीं है, इस अपेक्षा अन्यत्व भी है। दृष्टांत को स्पष्ट करते हुए कवि का कहना है कि वस्त्र में शुक्ल वर्ण नेत्रों के द्वारा दिखाई देता है, इसलिये वस्त्र में श्वेत गुण है या वस्त्र श्वेत है – ऐसा एकपने का बोध होता ही है। किन्तु जब वही वस्त्र नेत्र के अलावा अन्य इन्द्रियों से जाना जाता है तो वस्त्र तो जानने में आता है, पर श्वेत वस्त्र जानने में नहीं आता, इससे सिद्ध होता है कि वस्त्र और श्वेत गुण में परस्पर जुदायगी-भिन्नता भी है। सम्पूर्ण वस्त्र सर्वथा श्वेत ही नहीं है और भी कुछ है तथा श्वेतपना वस्त्र का एक गुणमात्र है और सम्पूर्ण वस्त्र श्वेतादि अनेक गुणों का आश्रय होने से गुणी है। इसप्रकार गुण-गुणी का परस्पर भेद करके जैसे दोनो को भिन्न कहा है, वैसे ही प्रदेशों की अपेक्षा देखें तो गुण और गुणी में कोई भी किसी से अर्थात् गुण गुणी से या गुणी गुण से जुदा नहीं है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

(दोहरा)

सत्ता दरव लखौ सु ज्यौं परदेसनि करि एक।
भाव गुन गुनी करि सु पुनि, जुदे नहीं इक टेक ॥३२॥

अर्थ :– इसप्रकार जब सत्ता और द्रव्य प्रदेशों की अपेक्षा से देखे-जाने

---

१. "सुकलता सु" ख प्रति में। २. 'श्वेत' क प्रति में।

जाते हैं तो एक हैं तथा फिर जब भावस्वरूप योग्यता के कारण गुण-गुणी के भेद से जाने-देखे जाते हैं तो उन-उन अपेक्षाओं से ही वे जुदे हैं, उस दृष्टि से वे कतई एक नहीं हैं।

आगे अन्यत्व का लक्षिन विसेषता करि दिखाइयै है दिष्टांत सौं।

(सवैया इकतीसा)

जैसें एक मौतिन की माला में सुपेत गुन[1]।
तीनि भाँति सेत मोती सेत[2] सूत हार है।
भेद करि हार सूत मोती सेत[3] गुन नांहि
सेत[4] गुन मोती हार सूत बेलगार है।।
जैसे एक दरव कौ सत्ता गुन दर्व[5] रूप
गुन परजाय रूप त्रिविध प्रकार है।
सत्ता कौं सु[6] दर्व[7] गुन परजाय कौ अभाव
अन्यत्व नाम सौं जुदे[8] जुदी पसार है।।३३।।*

अर्थ :– जैसे एक मोतियों की माला में सफेद गुण तीन प्रकार का है। एक प्रकार है मोतियों का सफेद गुण। दूसरा प्रकार है – सूत का सफेद गुण और तीसरा प्रकार है – हार (माला) का सफेद गुण। भेद को मुख्य करके जब माला को जानते हैं तो हार, सूत और मोतियों का जो-जो सफेद गुण है वह एक-दूसरे का नहीं है। सफेद गुण मोती का है, हार का है और सूत का है। सभी का सफेद गुण बेलगार है अर्थात् एक-दूसरे के कारण से सफेद नहीं है। सभी का सफेदपना अपना-अपना तथा अलग-अलग है। तीनों का सफेद गुण भिन्न-भिन्न भेद स्वरूप ही है। वैसे ही एक द्रव्य का सत्ता गुन तीन प्रकार से कहा जाता है। एक द्रव्य रूप सत् (सत्ता), दूसरा गुण रूप सत् और तीसरा पर्याय रूप सत्। इस प्रकार सत्ता या सत् के तीन प्रकार बताये गये हैं – १. द्रव्य

---

* सद्दव्व सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो।।(प्र.सा. गाथा-१०७)

१. 'गुण' ख प्रति में। २,३,४. 'श्वेत' ख प्रति में। ५. 'दर्व्य' ख प्रति में। ६. ख प्रति में नहीं। ७ 'दर्व्य' ख प्रति में। ८. 'जुदौ' ख प्रति में।

सत् २. गुण सत् और ३. पर्याय सत्। परस्पर अभिन्न अखण्ड सत्ता को द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद से प्ररूपित करने में संज्ञा लक्षण प्रयोजनादि भेद रूप अतद्भाव या अन्यत्व की विवक्षा है। मतलब यह है कि अखण्ड सत्ता स्वरूप एक ही द्रव्य द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत् की अपेक्षा अन्यत्व स्वरूप है, क्योंकि इनकी संज्ञा, इनके लक्षण और प्रयोजन आदि न्यारे-न्यारे हैं। द्रव्य सत् का काम गुण सत् या पर्याय सत् से नहीं हो सकता है। इसीप्रकार अन्य का भी जानना। इस प्रकार सबका अपना विशिष्ट-विशिष्ट स्वरूप है, जो परस्पर में अन्य-अन्य स्वरूप वाला होने से अन्यत्व स्वरूप है। इस प्रकार अन्यत्व धर्म की सिद्धि अखण्ड द्रव्य में जाननी चाहिए, जो द्रव्य है, वह गुण मात्र नहीं है, गुण या गुणों से कुछ विशेष अन्य रूप भी द्रव्य है तथा द्रव्य है वह मात्र पर्याय रूप नहीं है। पर्याय या पर्यायों से कुछ विशेष अन्य रूप भी द्रव्य है। एक द्रव्य में अवस्थित सभी पर्यायें भी परस्पर अपनी विशेषताओं से अन्य-अन्य रूप भी हैं। इस प्रकार अन्यत्व धर्म-स्वभाव की अपेक्षा इन द्रव्य गुण पर्याय सत् को जुदे-जुदे भी जानना और सबके परिणमन आदि का जो प्रसार-फैलाव है, उसे भी संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा से अन्यत्व रूप जुदा-जुदा ही समझना चाहिए।

आगे सर्वथा अभाव रूप गुनगुनी 'भेद कौं निषेधैं हैं'[1]।

(दोहरा)

"जो है दरव सु गुन नहीं, गुन सु न दरव स्वरूप।
दरव सुगुन दोऊ सदा अपनैं अपनैं रूप॥३४॥
यहु सु गुन गुनी भेद है दुधा सरवथा[2] नांहि।
सम्यक दिष्टि[3] जगैं सहज प्रगट होइ घट मांहि॥३५॥"*

अर्थ :– प्रत्येक द्रव्य में जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है, वह

---

* जं दव्वं त ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
ऐसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो॥(प्र.सा. गाथा-१०८)

१ 'भेद दिखावै है' ख प्रति में। २. 'सर्वथा' क, ख प्रतियों में। ३. 'द्रष्ट' ख प्रति में।

द्रव्य नहीं है अथवा गुण ही द्रव्य का स्वरूप नहीं है। द्रव्य और गुण दोनों ही सदैव अपने-अपने विशिष्ट स्वरूप में ही होते हैं। इस प्रकार द्रव्य गुणी है और गुण गुण। जो यह गुण गुणी भेद है अर्थात् द्रव्य, गुण नहीं व गुण अन्य द्रव्य नहीं यह परस्पर अतद्भाव रूप भेद है, वह सर्वथा भेद रूप नहीं है। द्रव्य, गुण का जो परस्पर भेद है, वह वस्तुगत भेद नहीं है अर्थात् द्रव्य अलग वस्तु है और गुण अलग वस्तु है – ऐसा दोनों में सर्वथा भिन्नता स्वरूप भेद नहीं है, अपितु उनमें सत्ता लक्षण-प्रयोजनादि भेद वाला जो अतद्भाव है, उससे जन्य भेद ही यहाँ जानना चाहिए। जब सम्यग्दृष्टि जग जाती है तो संसारी अल्पज्ञ आत्मा को भी यह बात सहज प्रगट हो जाती है अर्थात् समझ में आने लगती है।

आगे सत्ता दर्व कौं गुन गुनी भाव दिखाइये है।

(सवैया इकतीसा)

निश्चैकरि दरव कौ परिनाम उतपत्य[1]
वय[2] ध्रौव्य रूप सौं सदा सुभावभूत है।
सत्तातैं अभिन्न असतित्व[3] रूप गुन है सु
सत्ता कौ सु गुन कौ अनादि एक सूत है।।
असतित्त्व[4] रूप तिष्ठै सत्ता के विषैं सु दर्वी[5]
तार्थें सत[6] रूप गुनी दरव अनूत है।
गुन है सु सत्ता गुनी दरव अभेद दोऊ
गुनगुनी भेद पै अभेद करतूत है।।३६।।*

अर्थ :– परमार्थतः निश्चय करने से ज्ञात होता है कि द्रव्य का परिणाम सदैव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है सो यह द्रव्य का स्वभाव ही है। सत्ता स्वरूप द्रव्य से अस्तित्व रूप गुण अभिन्न है, अभेद है। स्व सत्ता स्वरूप द्रव्य

* जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिद सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं॥(प्र.सा. गाथा-१०९)

१. 'उत्पाद' ख प्रति में। २. 'नाम' क प्रति में। ३. 'अस्तित्व' क प्रति में। ४ 'अस्तित्व' ख प्रति में। ५ 'दर्व्य' ख प्रति में। ६. 'सतु' क प्रति में 'सत्' ख प्रति में।

और उसके स्व गुण अनादि से एकस्यूत अर्थात् अभिन्न हैं। द्रव्यदृष्टि का विषय भूत जो द्रव्य है वह अस्तित्वपने ही सत्ता स्वरूप द्रव्य में तिष्ठता है। इसलिये सत् रूप गुण और द्रव्य रूप गुणी परस्पर अनूत हैं अर्थात् एक दूसरे से कम या अलग या अन्य नहीं हैं। जो सत् रूप (सत्ता) गुण है और द्रव्य रूप गुणी (समूचा द्रव्य) है। ये दोनों अभेद-अभिन्न ही हैं। ऐसा होने पर भी द्रव्य में जो गुण-गुणी का भेद है सो यह अभेद-अखण्ड द्रव्य की ही करतूत है।

आगे गुन गुनी का भेद दूर करें हैं।

(सवैया इकतीसा)

यह लोक मांहिं कोई और ऐसौ गुन नांहि
तासौं द्रव्य सौं जुदागी करिकैं बताइये।
तैसैं[1] ही सु ऐसौ और पुनि परजाय नांहीं
दरव सौ जासौं भिन्न भिन्नता लगाइये[2]।।
द्रव्य गुन परजाय तीन ही अभेद आथैं[3]
वस्तु आपु सत्ता के स्वरूप समुझाइये।
गुन पीततादि कुंडलादि परजाय जैसैं
कंचन स्वरूपतैं जुदे न कहूं पाइये।।३७।।*

अर्थ :—इस जगत् में कोई भी ऐसा द्रव्य या गुण या पदार्थ नहीं है जो द्रव्य से जुदी जाति का अर्थात् द्रव्य से भिन्न स्वरूप वाला हो, जिसे द्रव्य से अतिरिक्त बताया जा सके। उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप या गुणपर्याय स्वरूप द्रव्य से भिन्न ऐसा कोई गुण या पर्याय नहीं है जिसको द्रव्य से भिन्न करके अथवा उन गुण पर्यायों से द्रव्य को भिन्न करके द्रव्य गुण पर्यायों में भिन्न-भिन्नता लागू की जा सके। इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ही परस्पर अभेद रूप हैं; अभिन्न हैं। वस्तु स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप या गुण पर्याय रूप सत्ता के स्वरूप वाली है यह बात ही यहाँ समझायी गयी है। जैसे स्वर्णाभूषण विशेष में पीतादि गुण

---

* णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।(प्र.सा. गाथा-११०)

१. 'तैस ही' क प्रति में। २. 'लगाई है' ख प्रति में। ३. ''तार्थे' ख प्रति में।

और कुण्डलादि पर्यायें तथा स्वर्ण रूप द्रव्य ये स्वभावत: ही एक दूसरे से जुदे नहीं पाये जाते हैं क्योंकि जहाँ स्वर्ण है वहीं उसके पीतादिक गुण धर्म एवं कुण्डलादिक पर्यायें-अवस्थायें अवश्य ही होती हैं। वैसे ही द्रव्य-गुण-पर्यायें तीनों ही सत्तास्वरूप वस्तु से जुदे नहीं हैं। अत: जगत् में सभी पदार्थ द्रव्य रूप ही हैं यह जान लेना चाहिये।

आगे द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय की विवक्षा करि द्रव्य कैं सत्ता (सत्) का उत्पाद और असत्[1] का उत्पाद, यह दोइ प्रकार उत्पाद हौ है, तिनिविषैं अविरोध दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

आप परिनमन सुभाव विषैं सदाकाल
उपजै सु वस्तु सो अनादि अनअंत है।
धरै परजाइ जो जो दरव 'अरथ नैं सो[2]'
तिनिके विषैं सु दर्व[3] उपजै समंत है।।
और उतपाद परजाय की सु[4] अपेक्ष्या सौं
जो जो परजाय दर्व[5] धरै गुन वंत है।
परजाय तिन्हि के मझार सोई द्रव्य और
कहिये सु[6] पलटै अवस्था और भंत है।।३८।।*

अर्थ :– प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने अनादि अनंत परिणमन स्वभाव में सदाकाल उत्पाद को प्राप्त होती है अर्थात् वस्तु में पर्याय उपजती है। हर समय द्रव्य-पर्याय को प्राप्त होता है अत: अनादि अनंत काल तक सदा ही जो भी द्रव्य में पर्यायों का उत्पाद है, वह द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा में सद्भाव निबद्ध उत्पाद है क्योंकि हर उत्पाद में द्रव्य का ही सद्भाव पाया जाता है जैसे किसी स्वर्णाभूषण की कटक पर्याय में जो स्वर्ण है वही स्वर्ण कुण्डल पर्याय में भी

---

* एवंविह सहावे दव्व दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भाव सदा लभदि ।।(प्र सा. गाथा-१११)

१ 'सत्' क, ख दोनों प्रति में। २. 'अरथन सौं' ख प्रति में। ३ 'दर्व्य' ख प्रति में। ४, ख प्रति में नहीं।
५ 'द्रव्य' ख प्रति में। ६ ख प्रति में नहीं।

है। कटक पर्याय के उत्पाद में जो स्वर्ण निबद्ध है वही स्वर्ण कुण्डल पर्याय के उत्पाद में भी निबद्ध है। स्वर्ण की हर पर्याय के उत्पाद में स्वर्ण सत् रूप से निबद्ध रहता है अत: स्वर्ण द्रव्य की अपेक्षा कटक-कुण्डलादि रूप उत्पाद स्वर्ण के सद्भाव से निबद्ध है वैसे ही प्रत्येक द्रव्य की अपनी सभी पर्यायों में वह द्रव्य ही स्वयं निबद्ध रहता है द्रव्य में होने वाली पर्यायों का जो क्रमप्रवृत्त उत्पाद है उन पर्यायों के प्रत्येक उत्पाद में द्रव्य ही सत् रूप से विद्यमान रहता है, अन्य कुछ भी नहीं रहता है अर्थात् द्रव्यार्थिक विवक्षा में द्रव्य में होने वाला हर उत्पाद सद्भाव निबद्ध अर्थात् सत् का ही उत्पाद कहलाता है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य में होने वाली समस्त पर्यायों के अपने अपने उत्पाद में अर्थात् अनादि अनंत काल तक होने वाले हर उत्पाद में वही द्रव्य पाया जाता है अत: अनादि अनंत द्रव्य की सम्बद्धता वाला जो उत्पाद है वह सत् का उत्पाद कहलाता है।

तथा द्रव्य में होने वाली अनादि-अनंत पर्यायों का जो उत्पाद है वह यदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से देखा-जाना जाये तो एक पर्याय के उत्पाद में अन्य पर्याय का सद्भाव नहीं है अत: हर उत्पाद में अन्य पर्याय के सद्भाव का अभाव होने से वह उत्पाद असद्भाव निबद्ध उत्पाद है। इसप्रकार असत् का उत्पाद समझना चाहिये। द्रव्य के गुणों में होने वाली हर पर्याय को द्रव्य धारण करता है किन्तु उन पर्यायों को पर्यायों की मुख्यता से जाना जाये तो होने वाली किसी भी पर्याय में विवक्षित पर्याय के अलावा अन्य किसी का भी सद्भाव नहीं है अत: वह विवक्षित पर्याय असद्भाव सम्बद्ध होने से उस पर्याय का उत्पाद असत् का उत्पाद कहा जाता है।

सदाकाल अपने क्रम में प्रवृत्त होने वाली पर्यायों में अर्थात् उनके मध्य में द्रव्य तो वही का वही होता है किन्तु पर्यायों की मुख्यता से देखा जाये तो अपने क्रम में प्रवृत्त किसी भी पर्याय में कोई भी अन्य पर्याय नहीं होती है जिससे कहा जा सके कि यह तो वही की वही पर्याय है। पर्यायें तो पलटती रहती हैं अत: उनकी अवस्था आदि अंत सहित है। मतलब यह है कि पर्याय

रूप अवस्था अस्थायी है, उसका आदि-अंत है। द्रव्यार्थिकनय से वस्तु अनादि अनंत है और पर्यायार्थिकनय से सादि सांत। द्रव्यार्थिक नय हो या पर्यायार्थिक नय दोनों एक ही वस्तु को कहते हैं या बताते हैं। वस्तु को न तो ये बनाते हैं और न ही सम्पूर्ण वस्तु को बता पाते हैं। अतः वस्तु में जायमान प्रत्येक उत्पाद को द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा में सत् का उत्पाद तथा पर्यायार्थिक नय की विवक्षा में असत् का उत्पाद कहते हैं। इसप्रकार उत्पाद की विविधता होने पर वस्तु में कोई विरोध पैदा नहीं होता है। अतः दोनों प्रकार के उत्पाद वस्तुतः होने से उनमें कोई विरोध नहीं है, यह जान लेना चाहिये।

आगे सत् उत्पाद कौ परजायतैं अभेद दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

आतमा दरव एक परकार सो अनेक
अपनै सु दरव सुभाव परिनवही।
नरदेव अथवा सु नारकी त्रिजंच[1] सिद्ध
होंहि याही भांति परजाय रूप सब ही।।
पुनि परजाय रूप 'होहि करि'[2] सो तथापि
दरवत्व[3] सकति न छोड़ै आप कब ही।
दरवत्व सकति न छोड़ै आपु आपनी सु
कहो सो तौ और के स्वरूप कैसैं हवई।।३९।।*

अर्थ :– सभी आत्मायें चेतनत्व स्वभाव की अपेक्षा या अपने अनंत गुणों की अपेक्षा एक प्रकार ही हैं सो प्रत्येक आत्मा अपने ही द्रव्य स्वभाव के अनुसार ही परिणमन करती है। उस आत्मा की मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यञ्च अथवा सिद्ध रूप सभी द्रव्य पर्यायें (व्यंजन पर्यायें) भी इसी भांति अर्थात् द्रव्य स्वभाव के अनुरूप नाना प्रकार की होती रहती हैं। ये सभी पर्यायें पुनः पुनः उत्पन्न-विनष्ट होकर भी कभी एक नहीं होती हैं और न ही कभी अपनी द्रव्यत्व

---

* जीवो भव भविस्सदि णरोमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि।।(प्र.सा. गाथा-११२)

१. 'तिरजंचि' ख प्रति में। २. 'होय कर' ख प्रति में। ३. 'दर्व्वत्व' ख प्रति में।

शक्ति को छोड़ती हैं। इस प्रकार जब कोई भी पर्याय अपने द्रव्य से ही सम्बद्ध रहती हुई अपनी द्रव्यत्व शक्ति को नहीं छोड़ती है तो वह अन्य के स्वरूप वाली या अन्य द्रव्य रूप कैसे हो सकती है। अर्थात् नहीं हो सकती है।

'आगे अब असत् उत्पाद कौं और करि दिखावैं हैं'[1]।

(छप्पय)

नर न होहि 'सुर सिद्ध'[2] सुर सु नर सिद्धि होहि सु न।
धरि सु और परजाय[3] और विधि कह्यौ जात पुन॥
नर सोई सो देव देव सोई सु सिद्ध सिव।
पलटे विनु परजाय क्यौं सु कहिये प्रकार इव॥
नहि और अवस्था और सौं असत् भाव उतपति यही।
किहि भांति दुंद ताकौ सु यह[4] एक अर्थ लहिवै सही॥४०॥*

अर्थ :– प्रत्येक द्रव्य में होने वाली पर्यायें अपने स्वकाल में ही विद्यमान होंने से सत् है किन्तु अपने स्वकाल से अतिरिक्त अन्य कालों में विद्यमान न होंने से वे असत् भी हैं। कोई भी पर्याय अपने स्वकाल क्षण से व्यतिरिक्त कालों-क्षणों की अपेक्षा से द्रव्य में असत् ही होती है। इस दृष्टि से विचार किया जाये तो जो पर्याय विद्यमान न होने से असत् थी उसी का अपने स्वकाल क्षण में उत्पाद हुआ अत एव उस पर्याय के उत्पाद को असत् का उत्पाद भी कहा जाता है। इसी बात को अवगत कराने हेतु कवि कहता है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य देव या सिद्ध नहीं होता है ऐसे ही कोई देव भी मनुष्य या सिद्ध नहीं होता है। यहाँ कोई जीव ही मनुष्य पर्याय या देव पर्याय को धरने वाला है; क्योंकि कोई जीव ही अपने कृतकर्मों के फलानुसार मनुष्य पर्याय को धारण करने वाला होने से मनुष्य होता है और फिर कर्मफलानुसार मनुष्य पर्याय को छोड़कर किसी अन्य देव आदि पर्याय को प्राप्त कर देव, तिर्यञ्च आदि कहलाता

---

*मणुवो ण होहि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि॥(प्र.सा. गाथा-११३)

१ आगै असतु उत्पाद और दिखावै हैं- ख प्रति में। २. दोनों प्रतियों में दो बार। ३. ख प्रति में दो बार। ४. 'इव' ख प्रति में।

है। यहाँ जो जीव मनुष्य था वही देव या तिर्यञ्च आदि हुआ है। मनुष्य, देव आदि पर्यायों में विद्यमान जीव अन्य-अन्य नहीं है अपितु अनन्य ही है। तथापि मनुष्य पर्याय का नाश हुये विना अर्थात् मनुष्य पर्याय के पलटे विना जीव के देव पर्याय नहीं हो सकती है अथवा देव पर्याय के पलटे-विनशे विना मनुष्य पर्याय भी नही हो सकती है। यहाँ दोंनों मनुष्य या देव पर्यायें एक ही जीव की हैं तथापि ये एक साथ नहीं होती हैं। जीव में जब मनुष्य पर्याय का सद्भाव है उस समय देव पर्याय असत् है। यही असत् देव पर्याय मनुष्य पर्याय के पलटने-विनशने पर अपने स्वकाल क्षण में उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार स्वकाल-व्यतिरिक्त क्षणों में असद्भूत देव पर्याय का उत्पाद अपने स्वकाल क्षण में हो जाना ही यहाँ असत् का उत्पाद जानना चाहिये। सचमुच ही यह एक आपेक्षिक सत्य है क्योंकि उस ही देव पर्याय का उत्पाद अपने स्वकाल क्षण में विद्यमान होने से सत् होता है अतः इतनी ही अपेक्षा करने से वह उत्पाद सत् का उत्पाद भी है।

किसी भी द्रव्य में होने वाली नाना क्षणवर्ती अनेक अवस्थायें किसी अन्य अवस्था के कारण उत्पन्न नहीं होती हैं अपितु अपनी योग्यतानुसार स्व व्यतिरिक्त काल में असत् रहती हुईं भी स्वकाल में स्वयमेव उत्पन्न हो जाती हैं। कोई भी एक पर्याय अपने स्वकाल में विद्यमान होने की अपेक्षा मात्र से सत् का ही उत्पाद है तथा स्व व्यतिरिक्त काल में विद्यमान न होने की अपेक्षा से असत् रही हुई उत्पन्न होती है अतः असत् का उत्पाद भी है। सदुत्पाद या असदुत्पाद का यह द्वन्द किस प्रकार है, ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान यह है कि दोंनो विवक्षायें एक ही द्रव्य (पदार्थ) को लेकर ही हैं जिससे एक ही द्रव्य में द्रव्यत्वान्वयशक्ति से अनुस्यूत क्रम प्रवृत्त नाना पर्यायें स्वकालक्षण में सत् एवं स्वव्यतिरिक्तकाल के क्षणों में असत् हैं, यह वास्तविक सही स्थिति है।

आगे द्रव्यकैं अन्यत्व अनन्यत्व[1] ये दोइ भेद हैं। ये दोंनों एक विषैं कैसैं होंहि यह विरोध दूरि करै है।

---

१. क प्रति में नहीं।

(दोहरा)

दरव दिष्टि करिकैं सबै वस्तु स्वरूप सु एक।
पुनि परजाय सुदिष्टि करि सो परकार अनेक ॥४१॥*

अर्थ :– यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय का परस्पर एकत्व (अनन्यत्व) दिखाने हेतु कहा जा रहा है कि शुद्ध, अखण्ड, परिपूर्ण द्रव्य को विषय करने वाले द्रव्यार्थिक नय से जानने पर सारी की सारी वस्तु अर्थात् अखण्ड पूर्ण द्रव्य एक स्वरूप है, अन्य रूप नहीं। इसी प्रकार द्रव्य गुण पर्यायों में अन्यत्व दिखाते हुये कथन है कि शुद्ध-अशुद्ध, खण्ड-अखण्ड भेद रूप एक देश वस्तु को विषय करने वाले पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से जानने पर वही वस्तु अनेक प्रकार की अलग-अलग योग्यताओं वाली जानने में आती है जो एक गुण अथवा पर्याय है, वह वही है; वैसी योग्यता स्वरूप दूसरा गुण-पर्याय नहीं है उनमें अपनी अपनी विशेषता होने से सभी में अन्यत्व (अनेकता) है। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि पर्यायार्थिक दृष्टि गौण करके द्रव्यार्थिक नय से द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा वस्तु अनन्यत्व स्वरूप है तथा द्रव्यार्थिक दृष्टि गौण करके पर्यायार्थिक नय से पर्याय दृष्टि की अपेक्षा वस्तु अन्यत्व रूप है। दोनों ही वस्तु के स्वभाव हैं उनमें विरोध नहीं है।

आगे सब विरोध की दूरकरनहारी सप्तभंग[1] बानी कहैं हैं।

(दोहरा)

द्रहतैं कमलापति सु उर गंगा सम निकसाइ।
दरव छ गुन मरजादयुत सरस्रुति रही समाई ॥४२॥

अर्थ :– लोक में जैसे यह माना जाता है कि गंगा भगवान् विष्णु के उर (हृदय) से निकल कर भगवान् शंकर की जटाओं में समा गयी तथा फिर वहाँ से लोकोपकार का प्रतीक बनकर पृथ्वी पर अवतरित हुई। वैसे ही यहाँ जैन परम्परा में सर्वविरोधों को दूर करने में समर्थ सप्तभङ्गमयी वाणी स्वरूप जिनवाणी

---

* दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥(प्र.सा. गाथा-११४)

१. 'सप्तभंगी' ख प्रति में।

गंगा भी कमलापति अर्थात् अंतरंग-बहिरङ्ग लक्ष्मी के स्वामी भगवान् जिनेन्द्र रूपी सरोवर से निकल कर गणधरों के हृदय कमल को विकसित करने वाली वाणी में समा जाती है तथा फिर सप्तभङ्गसमलङ्कृत होकर सर्वविरोधों के परिहार से वस्तुस्वरूप का निरूपण करती हुई सरस्वती के रूप में अर्थात् द्रव्यश्रुत ज्ञान के रूप में जगत् में विख्यात होती है। यहाँ कवि का कथन है कि छहों द्रव्यों का उनके गुण-पर्यायों की मर्यादा सहित प्ररूपण करनेवाली सरस्वती अर्थात् जिनेन्द्र रूपी सरोवर से निःसृत वाणी ही मानों सप्तभङ्ग न्याय से समन्वित स्याद्वाद सिद्धान्त को अपने में समाहित किये हुए है। यहाँ कहा जा सकता है कि स्याद्वाद के विना किसी भी वाणी से वस्तु स्वरूप का निरूपण असंभव है, अत एव यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने वाली वाणी को जगत् में वाग्देवी सरस्वती का विरुद प्राप्त हुआ है।

यहाँ कहा जा सकता है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्ररूपण करने वाली वाणी स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुसरण-अनुकरण करने वाली होती है। स्याद्वाद के विना वाणी द्वारा यथार्थ कथन सर्वथा असंभव है। यही कारण है कि यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने वाली वाणी को ही जगत् में वाग्देवी सरस्वती का विरुद प्राप्त है। जो सत्यवक्ता होता है, उसके सत्यनिष्ठ वक्तृत्व को हृदयंगम करके ही तो कहा जाता है कि इसके मुख में तो सरस्वती विराज रही है या यह साक्षात् सरस्वती का वरद पुत्र है।

(सवैया इकतीसा)

अपने चतुष्टय की अपेछा द्रव्य अस्तिरूप
पर की अपेक्षा वही नासति बखानियै।
एक ही समै सौं[1] अस्ति नासति सुभाव धरै
ज्यौं है त्यौं न कह्यौ जाइ[2] अवक्तव्य मानियै॥
अस्ति कहै नासति[3] अभाव अस्ति अवक्तव्य
यौं ही नास्ति कहैं नास्ति अवक्तव्य जानिये।

---

१. 'सु' ख प्रति में। २. 'जात' ख प्रति में। ३. 'नास्ति सु' ख प्रति में।

एक बार अस्ति नास्ति कही जाई कैसें तासैं
अस्तिनास्ति अवक्तव्य ऐसौं परवानियै ॥४३॥*

अर्थ :– प्रत्येक द्रव्य "स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव" रूप चतुष्टय वाला होता है। इसे ही द्रव्य का स्वचतुष्टय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप होता है तथा पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप बताया गया है। वही द्रव्य एक ही समय में अस्ति स्वभाव और नास्ति स्वभाव को धारण करने वाला है अत: उसे जब क्रमशः स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा कहा जाता है तो वह अस्ति नास्ति रूप होता है। कोई भी द्रव्य जितना और जैसा है उसे उतना और वैसा ही युगपत् कह पाना संभव नहीं होता है अत: वह द्रव्य अवक्तव्य है। अवक्तव्य के साथ अस्ति कहने के लिये मात्र स्वचतुष्टय की अपेक्षा रखें नास्ति की नहीं, तो सम्पूर्ण वस्तु को कहना अशक्य होने से अवक्तव्य और स्वचतुष्टय के कारण अस्ति विवक्षित होने पर "अस्ति अवक्तव्य" रूप द्रव्य होता है। इसी प्रकार अवक्तव्य के साथ नास्ति कहने के लिये मात्र परचतुष्टय की अपेक्षा रखें अस्ति की नहीं, तो सम्पूर्ण वस्तु को कहना अशक्य होने से अवक्तव्य और पर चतुष्टय के कारण नास्ति विवक्षित होने से "नास्ति अवक्तव्य" रूप द्रव्य होता है। पुनश्च अवक्तव्य के साथ अस्ति एवं नास्ति दोनों ही धर्म कहने के लिये जब क्रमशः स्व चतुष्टय से अस्ति और परचतुष्टय से नास्ति विवक्षित होती है तो "अस्ति नास्ति अवक्तव्य" रूप द्रव्य कहा जाता है। ऐसे सप्तभङ्ग रूप वाणी से वस्तु के बारे में सभी विरोध परिहृत हो जाते हैं - यह प्रमाण करना चाहिये। यदि घट पदार्थ का अस्ति नास्ति धर्म युगल विवक्षित किया जावे तो 'अस्ति नास्ति स्वरूप वाला घट पदार्थ सात भङ्गों से इस प्रकार कहा जायेगा –

(१) स्यात् अस्ति घट: (घट स्व चतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति रूप है)

(२) स्यान्नास्ति घट: (घट परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति रूप है)

---

* अत्थित्तिय णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥(प्र.सा. गाथा-११५)

(३) स्यादस्ति नास्ति घटः (घट स्व-पर चतुष्टय की क्रमार्पित दिवक्षा से अस्ति नास्ति रूप है)

(४) स्यादवक्तव्यः घटः (घट को पूर्णतया अथवा उसके अस्ति-नास्ति रूप धर्म युगल को युगपत् नहीं कहा जा सकता है, अतः वह अवक्तव्य है।)

(५) स्यादस्ति अवक्तव्यः घटः (अवक्तव्य के साथ जब स्वचतुष्टय से अस्ति विवक्षित हो तो घट अस्ति अवक्तव्य रूप कहा जाता है।)

(६) स्यान्नास्ति अवक्तव्यः घटः (अवक्तव्य के साथ जब परचतुष्टय से नास्ति विवक्षित हो तो घट नास्ति अवक्तव्य रूप कहा जाता है।)

(७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यः घटः (अवक्तव्य के साथ जब स्वचतुष्टय एवं परचतुष्टय दोनों से क्रमशः अस्ति एवं नास्ति धर्म घट के विवक्षित हों तो घट को अस्ति नास्ति अवक्तव्य रूप कहा जा सकता है।)

(दोहरा)

असद्भूत[1] परजाय जो लखौ आतमा पास।
मोह क्रिया तिहि कौ सु फल सो है जगत विलास।।४४।।

अर्थ :—इस प्रकार ग्रंथकार अब वस्तु स्वरूप को समझाकर तथा उसको जानने की विधि बताकर यह बता रहे हैं कि यदि आतमा के पास या अपने समीप कोई असद्भूत कार्य-पर्याय देखो तो उसे सर्वथा निरपेक्ष वस्तु का स्वरूप नहीं समझ लेना क्योंकि इसका फल मोह की क्रिया का होना ही है जिससे जगत् का विलास ही बढ़ता है अर्थात् सर्वथा असद्भूत कार्य को वस्तु का स्वरूप समझ लेना संसार को बढ़ाना ही है।

आगे यह कथन दिढ़ाइये[2] हैं।

(सवैया इकतीसा)

पुग्गलकरम यो अनादि जाकौ हेतु पाइ
जीव द्रव्य विषैं नानाभांति परनति[3] है।

---

१ 'असतभूत' क प्रति में तथा 'असत्भूत' ख प्रति में। २. 'करैं' क प्रति में। ३. 'वरनत' ख प्रति में।

तातैं राग दोष मोह क्रिया जो अनादि ही की
क्रिया फल सौं सु नर नारकादि गति है ॥
उतपाद सो कहावै अग्र परजाइ धरैं
वय पीछिली सु परजाय विनसति है।
सुद्ध वीतराग धर्म निर्फल[1] कह्यौ सु पर्म
जहाँ नर नारकादि की न उतपति[2] है॥४५॥*

अर्थ :—अनादिकाल से ही जीव के पुद्‌गल कर्म का बंध है। जिस पुद्‌गल कर्म के कारण अर्थात् कर्मोदयादि के निमित्त से जीव द्रव्य में नाना प्रकार की परिणतियाँ होती रहती हैं। नाना प्रकार के संयोग और उन परिणामों - क्रियाओं के कारण जीव में मोह राग द्वेष की क्रियायें-पर्यायें-परिणतियाँ अनादिकाल से ही होतीं आ रहीं हैं जिनके फल से जीव की मनुष्य, देव, तिर्यञ्च, नारकी आदि दशायें (गतियाँ) होती हैं। जीव जिस अगली पर्याय को धारण करता है तो उसे उसके उस गति रूप पर्याय का उत्पाद कहते हैं तथा जो पिछली पर्याय विनशती है तो उसे उसके उस गति रूप पर्याय का व्यय कहते हैं। नर नारकादि पर्यायों का उत्पाद विनाश (व्यय) कर्मों के फल के अनुसार ही होता है तथा कर्म भी जीव के मोह-राग-द्वेष परिणामों से बँधते हैं। कर्म का फल तो संसार है किन्तु जो शुद्ध भाव रूप वीतराग धर्म है वह निष्फल अर्थात् फल रहित है उसे ही परम धर्म कहा गया है। जिस परम धर्म के होने पर जीव को नर नारकादि गति की उत्पत्ति नहीं होती है अर्थात् परम धर्म के प्रभाव से ही जीव चतुर्गति परिणाम को प्राप्त नहीं होता है।

आगे जीव के मनुष्यादिक जे परजाय हैं ते क्रिया का फल हैं, यह कथन।

(कवित्त छंद)

नामकर्म तिहि कौ सुभाव गति
नारकादि परिनमन अनादि।

---

* एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥(प्र सा. गाथा-११६)

१. 'निफल' ख प्रति में। २. 'उत्पत्ति' ख प्रति में।

जासौं सुद्ध स्वरूप जीव कौ
राख्यौ निज स्वभाव आछादि ॥
नर नारक तिरजंच देव के
करि स्वरूप गति गति उतपादि ।
यह संसार रूप दुखदाइक
अचल वोझु सिर दियो सु लादि ॥४६॥*

अर्थ :– अष्टविध कर्मों के बँधन में बद्ध जीव को जो नामकर्म का बँध है उसका स्वभाव ही नारकादि गति में जीव का परिणमन-परिभ्रमण कराना है। उन गतियों में पड़कर शुद्ध स्वरूप वाला जीव अपने निज स्वभाव को आच्छादित करके रखता है अर्थात् स्वयं का शुद्ध जीव स्वरूप जैसा है उसे वैसा नहीं जानता है फलतः नर, नारक, तिर्यञ्च और देव के रूप में ही अपने स्वरूप को समझकर गति गति में अर्थात् एक गति से दूसरी गति में उत्पन्न होता रहता है। इस प्रकार चतुर्गति परिभ्रमण स्वरूप संसार वैसे ही दुःखदायक होता है जैसे कोई अपने सिर पर इतना बोझ लाद ले कि चल न पाये अर्थात् शक्ति से अधिक बोझ सिर पर लाद कर चलने पर दुःखी होता है उसी प्रकार यह संसारी जीव संसार में कर्मों का बोझ लादकर अर्थात् उनका कर्त्ता भोक्ता बनकर दुःखी होता है।

आगै मनुष्यादि परजायनि विषैं जीव का स्वभाव[1] नांही, यह कहैं हैं[2]।

(छप्पय)

नरगति गति तिरजंच देव गति गति सु नारकिय ।
नाम कर्म तिहि के निमित्त करि कैं सु होत जिय ॥
निश्चयकरि जे करे कर्म आपु करि[3] कै सु छांही ।
तिनि स्वरूप परिनमन जीव परिनाम सु नाहीं ॥

---

* कम्म णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥(प्र.सा. गाथा-११७)

१. 'स्वरूप' ख प्रति में। २. क प्रति में नहीं। ३. 'आपनी' क प्रति में तथा 'आपु कर करे' ख प्रति में।

ज्यौं नीम चंदनादिक विषैं सहज स्वाद जलु परिहरै।
त्यौं चिदानंद तजिकैं सु पद कर्मरूप परनति धरै॥४७॥*

अर्थ :–मनुष्य गति, तिर्यञ्च गति, देव गति और नरक गति ये चारों नाम कर्म की ही प्रवृत्तियाँ हैं। जिसके निमित्त से ही जीव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारकी होता है। निश्चय से जीव स्वयं अपने को मोहादि से आच्छादित करके अथवा स्वच्छंद होकर जो कर्म करता है उसके अनुसार ही वह मनुष्यादि स्वरूप से परिणमन करता है। सच में देखा जाये तो मनुष्यादि रूप परिणमना जीव का ही परिणाम नहीं है अपितु संयोगजन्य जीव का परिणाम है अथवा संयोगी अवस्था है। जैसे नीम, चंदनादिक वृक्षों में जाकर जल अपने सहज स्वाद को छोड़ देता है और वृक्षों के संयोग में पहुँचकर जल उस स्वाद वाला सहज ही हो जाता है। वैसे ही चिदानंद निर्मल आत्मा अपने स्वपद को तजकर कर्म नोकर्म की संगति करके सहज ही मनुष्यादि रूप परिणम जाता है यहाँ उसके चिदानंद स्वभाव का अभिभव होता है, पर नाश कतई नहीं होता है, यह जानना चाहिये।

आगे जीव कौं द्रव्यत्व[1] करि जद्यपि एक अवस्था है परजायनि[2] करि अनवस्थित कहैं हैं।

(कुंडलिया)

विनसै छिन छिन प्रति सु जिय जाकी ही उतपत्य[3]।
पुनि उपजै विनसै नहीं निश्चय नय करि सत्य॥
निश्चय नय करि सत्य जो सु उतपाद बताई।
सोई वस्तु विनास रूप तार्थें थिरताई॥
भेद लगै व्यवहार[4] सौं सु जग मैं जिय जिन सै।
विविध भांति परजाय[5] लियै उपजै अरू विनसै॥४८॥**

---

* णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि॥(प्र सा. गाथा-११८)

** जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा॥(प्र.सा. गाथा-११९)

१. 'द्रव्यतत्त्व' क प्रति में। २. 'परजाय' ख प्रति में। ३. 'उतपत्त' ख प्रति में। ४. 'विवहार' ख प्रति में। ५. 'पर जा' ख प्रति में।

अर्थ :—मनुष्य, देव आदि अवस्थाओं (गति स्वरूप पर्यायों) में जो जीव है वह प्रतिक्षण उत्पाद व्यय स्वरूप वाला है। अर्थात् ऐसा मनुष्य या देव या तिर्यञ्च या नारकी जीव, जिसके प्रतिक्षण उत्पाद-विनाश हो रहा है, वह भी यदि निश्चयनय या द्रव्यार्थिक नय से जाना या समझा जाये तो उसके उत्पाद-विनाश नहीं है। वह हर पर्याय में जीव ही है। मनुष्य पर्याय का उत्पाद हुआ, देव पर्याय का विनाश हुआ तथापि उत्पाद काल में तथा विनाश काल में वह जीव द्रव्य की अपेक्षा वही जीव द्रव्य है जो मनुष्य पर्याय में था और देव पर्याय में है। अत: द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में जीव सदा एक रूप ही विद्यमान रहने वाला होने से अवस्थित है, यह सत्य है। द्रव्यार्थिक नय उत्पाद-विनाश को गौण करके ध्रौव्य स्वभाव की अपेक्षा से कथन करता है अत: उस नय की दृष्टि में जीव न तो उपजता है और न ही विनशता है, यह सही है।

परमार्थ से ही प्रत्येक वस्तु में उत्पाद भी है विनाश भी है तथा उत्पाद-विनाश होने पर वस्तु वही की वही है अत: उसमें स्थिरता-ध्रौव्यता भी है। जीव की मनुष्यादि पर्यायों के उत्पन्न होने एवं पलटने-विनशने के फलस्वरूप जीव की मनुष्यादि अवस्थाओं में जो भेद मालुम होता है वह द्रव्यकर्मों के उदयादि के कारण से होने वाले संयोग या संयोगीभाव का परिणाम है इसे व्यवहारनय से समझना चाहिये। इस प्रकार इस जगत् में जीव अनेक व्यञ्जन पर्यायों स्वरूप मनुष्य देव आदि अवस्थाओं में उपजता है, विनशता है और नानाविध बाल बृद्ध आदि दशाओं को प्राप्त होता है यह उसका अनवस्थितपना है अत: हे जीव ! इस जगत् में तुम्हें जिन कारणों से जीव का अनवस्थितपना उत्पाद-व्यय रूप बदलाव समझ में आये उसे तुम व्यवहार नय के उपदेश से यथार्थ जान लो तथा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के अवस्थितत्व को भी ध्यान में रखो।

आगे जीव के[1] अथिरभाव का कारन दिखाइये है।

---

१. 'कौ' क प्रति में।

(सवैया इकतीसा)

जीव द्रव्य है सु आदिं जद्यपि सु थिर आप[1]
परजाय भेदसौं तथापि[2] सो अथिर है।
कोई भी सुभाव विधि कौन हुं न थिर रूप
न ही नर-नारकादि की सु गति थिर है॥
भ्रम्यौ जीव पर्यो सो[3] विभावता के चक्रमांहि
पाटि[4] बांधि जैसे कोल्हू को सु बैल फिर है।
पीछिली दसा कौं त्यागि आगली दसा सौं लागि
जल मैं कलोल ज्यों झकोर तव[5] हि रहै॥४१॥*

अर्थ :– जो जीव द्रव्य है वह यद्यपि अपने द्रव्य स्वभाव से स्थिर है-ध्रुव है तथापि पर्यायों के भेद से अस्थिर या अध्रुव भी हैं। इस संसार में कोई भी स्वभाव से समवस्थित प्रतीत नहीं होता है जिसे स्वभावविधि सम्पन्न होने से अनवस्थित कहा जाये। यहाँ संसार में किसी का भी स्थिर रूप नहीं है क्योंकि नर-नारकादि दशाओं की अवस्थिति चिर नहीं है। यह जीव इन दशाओं में भ्रमण करता हुआ विभावता के चक्र में अर्थात् मोह राग द्वेष परिणामों के जंजाल में पड़कर कोल्हू में जुते एवं आँखों पर पट्टी बंधे बैल की भांति वहीं का वहीं अर्थात् नर नारकादि चतुर्गति रूप संसार में ही घूमता रहता है। वह अपनी नर नारकादिक पूर्व पर्याय को छोड़कर तथा देवादिक अगली पर्याय को पाकर उसी प्रकार रहता है जैसे जल में कंकड़ आदि झकोरने पर कलोल बनती बिगड़ती रहती है। कवि ने यहाँ "आगली दशा को त्यागि पीछली दसा सौं लागि" लिखकर भव्यजनों को झकझोर दिया है कि तुम अपनी आगे की उज्ज्वल पर्याय को नहीं देख रहे हो अपितु कोल्हू के बैल के समान ही परवश होकर अज्ञानमय ही आचरण कर रहे हो। ज्ञानी गुरुवर्यों द्वारा समझाये जाने पर भी नहीं चेतते हो जैसे जल में कंकड़ आदि पटकने पर लहर का वलय बनता

---

* तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारो।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स॥(प्र.सा. गाथा-१२०)

१. 'आपु' क प्रति में। २. 'तथाप' ख प्रति में। ३. ख प्रति में नहीं। ४. पटि क प्रति में, 'पाटे' ख प्रति में। ५. तिव ख प्रति में।

है और फिर मिट जाता है तुम उसके सौन्दर्य को देखो कि यह जो वलय या घेरा है वह संसार है किन्तु तभी तक जब तक कंकड़ादिक से उसे आन्दोलित किया जाने वाला है। आगे नहीं कंकड़ादि के संयोग बिना निष्पन्द जल लहरवलय रहित ही है। वैसे ही हमारे जीवन में परपदार्थों के संयोग वियोग आदि के होने पर उनसे सुखी दुखी होने व उनके कर्त्ता भोक्ता बनने की आकुलता पैदा हो जाती है इसी आकुलता से आन्दोलित होकर जीव के चारों तरफ कर्मबंधन के निमित्त वाला संसार रूप वलय बन जाता है। यहाँ कवि कहते हैं कि हे भव्य जीव! तू अपनी अगली शुद्ध निर्मल चिदांनदमयी अवस्था को मत त्याग और पिछली मिथ्यात्व-कषायजन्य परभाव स्वरूप वैभाविक अवस्थाओं में मत लग, नहीं तो इसी कर्म संसार में पड़ा रहेगा। जैसे लहर का स्वभाव अपने आप अर्थात् निमित्तादि नहीं मिलने पर सहज ही मिटने का है वैसे ही तेरे भी कर्मसंसार का वलय पर निमित्तादि के अभाव में अपने स्वभाव का भान होने पर अवश्य ही अपने आप सहजपने से मिटने वाला है। चेतो, संभलो, यह मनुष्य भव मिल जाने पर और सद् देव गुरु धर्म की शरण के मिल जाने से यह संभव ही है। अब भी मोही-अज्ञानी मत बने रहो अन्यथा संसारी ही रहोगे क्योंकि जीव अपनी अगली शुद्ध स्वभाव मयी सिद्ध दशा को छोड़कर अपनी पूर्व की पिछली पर कर्तृत्व गर्भित अज्ञानमयी मिथ्या मान्यताओं वाली दशाओं में ही लगा रहता है, उनमें ही मगन रहता है तभी तो वह जल में कल्लोल के घेरे में रहने के समान अपने कर्म के घेरे में बंधन को ही मजबूत करता रहता है। इस प्रकार संसार में उसकी नर-नारकादि नाना अवस्थायें अनवस्थित होती हैं और वह मजे से उसमें रहा आता है।

आगे कहैं हैं कै असुद्ध परिनति रूप संसार विषैं पुद्गल का संबंध काहे तैं हो है।

(सवैया इकतीसा)

चेतन[1] अनादि को मलीन 'दर्व करम'[2] सौं
राग दोष आदि सौं विभावता समेत है।

---

१ 'चेतनि' क प्रति में। २ 'दर्व्यकर' ख प्रति में।

परिनाम पाई जे असुद्धता विभाव रूप
जासौं पुग्गलीक दर्व[1] कर्म बांधि लेत है ॥
करम कौ बंध है सु[2] महांभ्रम कौ च फंद
उदै तसु आनि जो विभाव स्वाद देत है।
अति ही परै सु और बार-बार कैं सु और
पुग्गलीक कर्म को सुभाव कर्म हेत है ॥५०॥*

अर्थ :– चेतन आत्मा अनादिकाल से ही द्रव्यकर्मों के कारण से मलिन है, अर्थात् सदा से ही मोही-रागी और द्वेषी है। तथा उन्हीं कर्मों के उदय से विभावता स्वरूप मोह-राग-द्वेष परिणामों से सहित है। उसके निरन्तर मोहादिक अशुद्ध परिणाम हो रहे हैं। जिनसे वह नवीन पौद्‌गलिक कर्मों को भी बांध लेता है। इस प्रकार उसके जो यह कर्म का बंध है सो महाभ्रम कारक फंदा ही है जिसमें जीव उलझा रहता है। अनादि काल से कर्मबंधवशात् जीव उसके उदय में मोह राग द्वेष परिणाम करता है तथा मोह रागादि परिणामों से नूतन कर्म का बंध कर लेता है। फिर वे उदय में आते हैं और मोह-राग-द्वेष परिणामों के कारण बन जाते हैं। इस प्रकार यह परम्परा चलती रहने से इसे ही यहाँ महाजाल रूप फंदा कहा गया है।

मोहादिक कर्मों का उदय आने पर यह जीव स्वयं उनमें मगन होकर विभाव परिणाम करता है तो वे कर्म उसे मोहादिक रस का स्वाद देने वाले हो जाते हैं। उसे मोह (ममत्व) का, राग (प्रीति-स्नेह, इष्टता आदि) का और द्वेष (अप्रीति-घृणा, अनिष्टता आदि) का स्वाद कर्मोदय होने पर ही होता है अतः उन्हें मोह-रागादिक स्वरूप स्वाद देने वाला कहा है। जब इन कर्मों का तीव्र उदय होता है तो यह जीव बार-बार अधिक-अधिक मोहादि रस के स्वाद में मगन हो जाता है। जो उसके पुद्‌गल कर्म के बंध का कारण बनता है। कारण में कार्य का उपचार करने पर कहा जा सकता है कि मोह रागादि परिणाम आत्मा

---

* आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥(प्र.सा. गाथा-१२१)

१. दर्व्य ख प्रति में। २. 'सो' ख प्रति में।

के विभाव स्वभाव होकर भी पुद्गल कर्म ही हैं। यहाँ मोहादि विकारों को कर्म का हेतु (कारण) जानना चाहिए और द्रव्यकर्म के बंध को कार्य।

आगे निश्चयनय करि आत्मा द्रव्य कर्म कौ अकर्त्ता¹ है, यह कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

चेतन दरव कौ सु परिणाम चेतन ही
आप ही तैं आप जो त्रिकाल² आप छांहीं है।
परिनाम रूप सोई पुनि करतूति करै
आपु करि सो तौ आप मई आप मांहीं है॥
तार्थे जीव की सु करतूति³ जाकौ⁴ नाम कह्यौ
भाव कर्म जग में विभावता सु पांहीं है।
जाही भावकर्म कौ करैया तिहि कारन तैं
द्रव्यकर्म कौ सु करतार जीव नांहीं है॥५१॥*

अर्थ :– चेतन द्रव्य आत्मा का परिणाम भी चेतन ही है जो आत्मा में स्वयं से ही त्रिकाल होता रहता है अर्थात् आत्मा सदैव अपने परिणामों से युक्त रहता है। आत्मा में जो भी परिणाम है, वह ही उसके अपने परिणमन की करतूति (कर्त्तव्य क्रिया) का कर्त्ता है क्योंकि वह करतूति-परिणति स्वयं से ही और स्वयं में ही होती है, अत: वह परिणति आत्मा मयी ही है। इसलिये जीव की जो मोह-राग-द्वेष रूप करतूति-परिणति है उसे आत्मा का ही भावकर्म कहा गया है। जगत् में उसे भाव के नाम से जाना जाता है अथवा जीव के लिये जगत् परिभ्रमण का कारण होने से उस भावकर्म रूप परिणति-करतूति में विभावता स्वीकार की गयी है अत: मोह-राग-द्वेष रूप परिणाम आत्मा के विभाव परिणाम हैं। जीव ही भावकर्म रूप अशुद्ध परिणामों का अर्थात् मोह-राग-द्वेष रूप परिणामों का कर्त्ता है तथा इसलिये ही वह जीव द्रव्य कर्मों का कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार यहाँ जीव को कर्मों का अकर्त्ता कहा है।

---

* परिणामो सयमादा सा पुण किरिया त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता॥(प्र.सा. गाथा-१२२)

१. "कर्त्ता" ख प्रति में। २. 'त्रकाल' क प्रति में। ३ 'करतव्य' ख प्रति में। ४. 'ताकौ' ख प्रति में।

आगे जिस रूप आत्मा[1] परिनवै है सो दिखाइये है।

(अडिल्ल)

परिनति[2] जीव सुभाव चेतना रूप है।
सो चेतना मझार त्रिविध औ कूप है॥
ग्यान चेतना पुनि सो चेतना कर्म है।
कर्म फल सु[3] चेतना कहत जिनधर्म है॥५२॥*

अर्थ :– जीव का स्वभाव तो चेतना है ही इसकी परिणति भी चेतना रूप ही है अर्थात् आत्मा चेतना रूप ही परिणमित होता है। यह चेतना त्रिविध मानी गयी है। चेतन आत्मा में होने वाली इस त्रिविध चेतना का स्रोत-कूप आत्मा ही है। कवि जिनधर्म की साक्षी देकर त्रिविध चेतना के नाम कह रहा है – १. ज्ञान चेतना २. कर्म चेतना ३. कर्मफल चेतना।

आगे इस तीनि प्रकार चेतना का स्वरूप दिखाइये है। प्रथम[4] ग्यान चेतना कथन।

(कवित्त छंद)

जीव अजीव आदि जे जग में
पादारथ समस्त गुनवांन।
जे जह धरै हैं सु ज्यों के त्यों
समै एक ही[5] विषैं निदान॥
सो केवली जिनेस्वरजू कैं
सरदहिये सु चेतना ज्ञान।
कर्म कर्मफल रूप चेतना
जाके भेद हैं 'सु पुनि आंन'[6]॥५३॥

अर्थ :– जगत् में जीव अजीव आदि जितने भी पदार्थ है। वे सभी गुण-

---

* परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा॥(प्र.सा. गाथा-१२३)

१ ख प्रति में नहीं। २. 'परनत' ख प्रति में। ३. 'कर्म सु फल' ख प्रति में। ४. क प्रति में नहीं। ५. 'के' ख प्रति में। ६. 'कह्यौ सु आन' ख प्रति में।

पर्यायों सहित हैं तथा जगत् में जहाँ और जैसे धरे हुये हैं अर्थात् विद्यमान हैं उन सभी को ज्यों के त्यों एक ही समय में युगपत् जानना जिस ज्ञान में होता है सो वह केवलज्ञान केवली जिनों का होता है उसे ज्ञान चेतना कहते हैं, ऐसा मान लो अर्थात् श्रद्धान कर लो। तथा कर्म चेतना और कर्मफल चेतना ये दोनों ज्ञान चेतना के ही अन्य भेद हैं जो संसारी छद्मस्थों के यथायोग्य रूप में पाये जाते हैं।

आगे कर्म चेतना कहैं हैं।

(कवित्त छंद)

चिदानंद अपनी करनी सौं
समैं समैं प्रति करै सु ठौर।
भावकर्म जद्यपि जिय जाकी
अपेक्ष्या सु पर कारन और॥
पुग्गलीक रूपी तथापि पुनि
द्रव्यकर्म संबंधी दौर।
भेद सुभासुभ सौं अनेकविधि
सो है कर्म चेतना भौंर॥५४॥

अर्थ :– चिदानंद आत्मा अपनी करनी से अर्थात् परिणमन क्रिया की योग्यता से प्रत्येक समय क्रिया करती है। अपने में होने वाली भावकर्म रूप क्रिया यद्यपि जीव की है तथापि मोह-राग-द्वेषादि भाव कर्मों के करने में जिस अन्य पर कारण की अपेक्षा होती है वह पौद्गलिक-रूपी पदार्थ है। पुनश्च वह पौद्गलिक पदार्थ जीव को कर्म एवं नो कर्म के रूप में उपलब्ध होता है जिसमें उपयोग (ज्ञान) लगाने से ही द्रव्यकर्मों के बंध का दौर प्रारंभ होता है और आत्मा को अनेकविध शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बंध होता रहता है इस प्रकार जीव की चेतना कर्म को समर्पित हो जाती है और जीव को शुभ-अशुभ कर्म का ही वेदन होता रहता है अत: उसे कर्म चेतना कहते हैं, यह कर्मचेतना जीव को संसार-सागर में डुबोने वाली भंवर अर्थात् जलावर्त ही तो है।

आगे कर्म फल चेतना कहैं हैं।

(दोहरा)

फल सु वेदनी कर्म कौ सुख दुख भुगतै जेह।
'है सु'[१] कर्म फल चेतना कही जिनागम एह।।५५।।

अर्थ :– जीव जिस हेतु से वेदनीय का फल सुख अथवा दुःख भोगता रहता है। मात्र कर्म फल भोग में ही मस्त रहता है। उसे यह पता रहे अथवा नहीं कि मैंने ही जो कर्म किये थे उनका ही यह फल है इस प्रकार के फल भोगनें में लगी चेतना को जिनागम में कर्मफल चेतना कहा गया है।

आगे ग्यान, कर्म[२], कर्मफल चेतना अभेद नय करि आत्मा ही दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

भव्य जन सुनौ सर्व जीव परिनामी दर्व[३]
'देखत सु'[४] परिनाम ही सुभाव आनिवौ।
परिनाम है सु ग्यान रूप पुनि कर्म रूप
कर्म फल रूप हूवे कौ समर्थ मानिवौ।।
ताथैं ग्यान परिनाम कर्म परिनाम और
कर्म फल परिनाम जुदे कैं न भानिवौ[५]।
तीनि परिनाम ऐसैं वरनैं सु जोग्य[६] जैसैं
देवीदास कहै जीव ही[७] स्वरूप जानिवौ।।५६।।*

अर्थ :– हे भव्य जन ! सुनो सभी जीव परिणमनशील होने से परिणामी द्रव्य हैं अर्थात् प्रत्येक जीव द्रव्य परिणमन करने वाला होने से कभी परिणाम या परिणामों से रहित नहीं होता है। गुणों में प्रति समय परिणाम होता ही रहता है। किसी भी द्रव्य को देखते ही उसका परिणाम स्वभाव जानने में आ जाता है कि यह ज्ञान स्वभाव वाला परिणाम है या चारित्र स्वभाव वाला या अन्य

---

* अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हाणाणं कम्म फलं च आदा मुणेदव्वो।।(प्र.सा. गाथा-१२५)

१. 'सु है' दोनों प्रतियों में। २. दोनों प्रतियों में नहीं। ३. क प्रति में नहीं। ४ क प्रति में नहीं। ५. 'भादिवौ' क प्रति में। ६. 'जोग' ख प्रति में। ७. 'हू' ख प्रति में।

कोई। आत्मा का चेतन परिणाम ही ज्ञान रूप, कर्म रूप और कर्मफल रूप से परिणमित होने में समर्थ है, ऐसा मानने में आता है। इसलिये ज्ञान परिणाम, कर्म (भावकर्म) परिणाम, कर्मफल (शरीरादि संयोगों में सुखी दुःखी होने रूप) परिणाम जुदे-जुदे समझ में नहीं आते हैं क्या? आते ही हैं अतः ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना ये तीनों परिणाम मैंनें आगम के अनुसार वैसे ही वर्णित किये हैं जैसे कि वे वर्णन करने योग्य हैं। यहाँ देवीदासजी कहते हैं कि इन तीनों ही परिणामों को जीव का ही स्वरूप जानना चाहिये।

आगे इस जीव कै सुद्ध स्वरूप की ठीकता के कारण चारि भाव दिखाइये है।

(दोहरा)

"करता करन सु करम फल भेद ये सु विधि चार।
सो स्वाधीन दशा विषैं वरनौं करि निरधार॥५७॥

(चौपाई)

आपु विषैं सु आप अनुसरता, मै निज विमलभाव कौ करता।
साधन निज स्वरूप विधितैं ही, करन भाव दूसरौ सु मैं ही॥५८॥
निज परिनाम आप करि पायौ, मैं ही कर्म आपु अपनायौ।
निर्मल निज सुभाव उर जाग्यौ, मैं फल निराकुल सु 'मुँहि मांग्यौ'[1]॥५९॥

(दोहरा)

निश्चय इहि परकार करि उर अंतर धरि ठीक।
सुद्धातम पद पाव ही जे मुनिवर तहकीक[2]॥६०॥"*

अर्थ :– शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति परावलम्बन से कदापि नहीं होती है तथा परावलम्बन छोड़ने के लिये श्रमण को यह जानना जरूरी है कि कर्त्ता, कर्म,

---

* कत्ता करणं कम्म फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्ण जदि अप्पाण लहदि सुहे॥(प्र.सा. गाथा-१२६)

१ 'मोहि लाग्यौ' ख प्रति मे। २. 'तहतीक' ख प्रति में

करण और फल आत्मा ही हैं। क्योंकि शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति में आत्मा ही कर्त्ता है, आत्मा ही कर्म है, आत्मा ही करण है और आत्मा ही फल है। आत्मा के अलावा अन्य कुछ भी नहीं है। अत: शुद्ध स्वरूप के ठिकाने को पाने में कारण स्वरूप जो भी कर्त्ता, कर्म, करण और फल है उनका वर्णन ग्रन्थकार यहाँ करते हैं। शुद्धस्वरूप को पाने रूप क्रिया के करने में आत्मा ही स्वाधीन होने से कर्त्ता है। तथा अपनी आत्मा को जानने में स्वयं ही अनुसर्ता है और स्वयं ही अपने निर्मल-विमल परिणाम को करता है अत: आत्मा ही कर्त्ता है। निज स्वरूप का साधन स्वरूपावलोकन विधि से अर्थात् सुविशुद्ध चैतन्य स्वभाव को जानने के द्वारा ही होता है। आत्मा को जानने में साधकतम कारण स्वानुभूति स्वरूप उसका अतीन्द्रिय ज्ञान ही है अत: करण भी आत्मा ही है। भेद विवक्षा से यदि ज्ञान दूसरा है तो वह ज्ञान स्वरूप मैं ही तो हूँ। यहाँ साधक आत्मा है और साधकतम करण अतीन्द्रिय ज्ञान है। इसलिये आत्मा को ज्ञान दूसरा भी है किन्तु आत्मा से अलग नहीं होने से वह मैं ही हूँ, यह भी सही ही है अत: करण आत्मा ही है। आत्मा स्वानुभूति करके अपने ही निज निर्मल परिणाम को पाता है अत: यहाँ कर्म भी आत्मा रूप ही है। निर्मल निज स्वभाव को पाने हेतु जब मन जागरुक हो जाता है और स्वानुभूति से निराकुल सुख का मानों मुंह मांगा फल आत्मा को ही मिलता है अत: आत्मा ही फल रूप है। इस प्रकार शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये 'कर्त्ता, करण, कर्म और फल सभी आत्मा ही हैं ऐसा जो निश्चय करता है वह निश्चित ही इस प्रकार से शुद्धात्मा को मन में धारण करके उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। यही श्रमणों अर्थात् मुनिवरों की तहकीक है अर्थात् सच्चाई है जिसके बल पर वे निरन्तर स्वानुभूति के पुरुषार्थ में जागरुक रहते हैं।

[इति श्री प्रवचनसार भाषायां देवीदास विरचित[१] द्रव्य का सामान्यवर्णन समाप्त।]

---

१. 'विरच्यते' दोनों प्रतियों में।

(दोहरा)

अब विसेषकरि दरव कौ कहौं कथन समुझाइ।
तहां जीव निरजीव की परख मिलै सुखदाइ ॥६१॥

अर्थ :– अब विशेष स्वरूप की अपेक्षा से द्रव्यों का कथन समझाकर कह रहा हूँ। उस कथन में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य को सही-सही परखने की जो सुखदाई समझ है; वह पुरुषार्थ करने पर तुम्हें मिल सकती है।

(अडिल्ल)

दरव जीव निरजीव उभै विधि जानिये।
पुनि चेतना स्वरूप जीव पहिचानिये॥
सहित वहुरि उपयोग जानिवौ देखिवौ।
पंचभाव तन आदि अचेतन लेखिवौ ॥६२॥*

अर्थ :– द्रव्य को जीव और अजीव इन दो प्रकार से जानना चाहिये। जो चेतना स्वरूप वाला है और जानने-देखने रूप उपयोग सहित है, उसे जीव द्रव्य पहिचान लेना चाहिये तथा पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश और काल इन पांचों द्रव्यों को अचेतन-अजीव जान लेना चाहिये।

आगे लोक-अलोक ऐसे दोई भेद दिखावैं हैं।

(छप्पय)

जो अनंत तन[1] भवित[2] जीव पुग्गल कर मंडित।
धर्म अधर्म सु व्योम काल संजुक्त अखंडित॥
सदा काल सोई लोक[3] जान[4] कहिवै में आवत।
लोक अलोक उभै प्रकार आकाश कहावत॥
तहलौ निवास षट् दरव कौ यह सु जगत बहु थोक है।
जह गगन वस्तु निवसै सु इक रहित प्रजाद अलोक है ॥६३॥**

---

* दव्व जीवमजीव जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गल दव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं॥(प्र.सा. गाथा-१२७)

** पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु॥(प्र.सा. गाथा-१२८)

१ क प्रति में नहीं है। २ 'भवेत' क प्रति में। ३. 'सु लोक' क प्रति में। ४. क प्रति में नहीं।

अर्थ :– जो अनंत तनभवित अर्थात् सशरीरी जीवों और पुद्गलों से सुशोभित है। (यहाँ 'तन भवित जीव' पद को एकदेश कथन मानकर तथा एकदेश कहने पर सर्वदेश का ग्रहण किया जा सकता है इस नियम के अनुसार अशरीरी सिद्ध जीवों को भी शामिल समझना चाहिये।) तथा जो अखंडित धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्यों से सदाकाल संयुक्त है अर्थात् जिसमें जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-काल ये सभी द्रव्य व्याप्त रहते हैं, उसे लोक जानना चाहिए अथवा 'जीवादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोकः' इस निरुक्ति के अनुसार वह लोक कहने में आता है, जहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल अवलोके अर्थात् जाने-देखे जाते हैं। तथा इसी कारण से अखंड आकाश द्रव्य दो भेदों या दो प्रकार वाला कहलाता है। जहाँ तक जीव पुद्गलादि द्रव्यों का निवास है तहाँ तक ही लोक है इस प्रकार षड् द्रव्यों का यह बहुत बड़ा समूह ही लोक या जगत् जानना चाहिये। तथा जहाँ तक एक मात्र अकेला आकाश द्रव्य रहता है ऐसे मर्यादा रहित अनंत आकाश को अलोक जानना चाहिये।

आगे षट् द्रव्यनिविषैं क्रियावंत के हैं और भाववंत के हैं ऐसा भेद दिखावै हैं।

(अडिल्ल)

पुग्गल दरव सु जीव सु गुरु ये दो कहैं।
इनकी परनति रूप क्रिया सो लोक है।।
उपजै अरु थिर रूप 'नसै इहि'[1] घाट हैं।
विछुरन और मिलाप[2] सौं सो बहु ठाट हैं।।६४।।*

अर्थ :–गुरु ने जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों को क्रियावान् (क्रियाभाववत्त्वस्वरूप) कहा है अर्थात् इन दो द्रव्यों में ही क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होने रूप क्रियावती शक्ति कही गयी है। इन दोनों की क्षेत्र से क्षेत्रान्तर रूप परिणति-

*उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो ॥(प्र.सा. गाथा-१२९)

१. 'नसै यह' ख प्रति में। २. 'मिलाय' ख प्रति में।

क्रिया जहाँ तक हो सकती है, वह लोक ही है। इस लोक रूपी घाट पर ही सभी द्रव्यों में उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य परिणाम होते रहते हैं। इन दोनों द्रव्यों के मिलने से (संघातात्) और विछुड़ने से (भेदात्) यह जगत् (लोक) नाना ठाट अर्थात् विचित्रताओं वाला है।

आगे गुनन[1] के भेदतैं द्रव्यनि का भेद दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

लक्षन[2] भेद 'जुदे-जुदे'[3] जिहि सौं
गनि वस्तु सु जीव अजीव पिछानौं।
जासु जथारथ[4] चिन्ह लखौ तिन्हि
मांहि विसेष लिये गुन मानौं॥
मूरतिवंत अचेतनि पुग्गल
सेष अमूरतिवंत बखानौं।
आतम धर्म अधर्म सु काल
अकास छहु सु उभै[5] विधि जानौ॥६५॥*

अर्थ :– द्रव्यों में अपने विशेष गुणों के कारण लक्षण भेद है जिससे सभी द्रव्य अपने विशेष स्वभाव या लक्षणवश जुदे-जुदे भिन्न जाति वाले जाने जाते हैं जिन्हें जानकर ही यह जीव वस्तु है या अजीव वस्तु है – ऐसी पहिचान होती है। जिन द्रव्यों में जो वस्तुगत विशेष चिन्ह यथार्थ लक्षण लखा जाता है या पहिचाना जाता है वह चिन्ह स्वरूप विशेष ही उन द्रव्यों में विशेष गुण माना जाता है। छहों द्रव्यों में अचेतन पुद्गल द्रव्य मूर्तिवन्त-मूर्तिक द्रव्य है तथा शेष द्रव्य अर्थात् आत्मा, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य और आकाश द्रव्य अमूर्तिवन्त या अमूर्तिक हैं। इस प्रकार छहों द्रव्यों को उभयविध अर्थात् मूर्तिक-अमूर्तिक जानना चाहिये।

---

* लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया॥(प्र.सा. गाथा-१३०)

१. 'गुन' क प्रति में। २. 'लक्षिण' क प्रति में। ३. 'जुदे' मात्र ख प्रति में। ४. 'लथरथ' ख प्रति में।
५. 'भे' ख प्रति में।

(दोहरा)

जीव एक चैतन्यता सहित अचेतन पांच।
जामैं तन चेतन करै जगत मांहिं बहु नांच॥६६॥

अर्थ :– इन छहों द्रव्यों में एक जीव द्रव्य ही चेतनता सहित है शेष पांचों द्रव्य अचेतन ही हैं। इनमें शरीर सहित चेतन आत्मा और शरीर रूप पुद्गल दोनों ही जगत् में बहुविध नाच दिखाते हैं अर्थात् विचित्रताओं को धारण करते रहते हैं।

आगे यही कथन[1] दिढ़ावैं हैं।

(कवित्त छंद)

इंद्रिनि करि ग्रहनैं सु जोग्य है
समुझौ मूरतीक गुन जेह।
वरन गंध रस फरस[2] आदि जे
वहु परकार दरव महिं देह॥
धरम और अधरम सु गगन पुनि
काल जीव मूरति विनु तेह।
कह्यौ अमूरतीक पद तिन्हि कौ
परगट जैनधर्म महिं[3] एह॥६७॥*

अर्थ :– जिस कारण से जो पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य है उनको तुम मूर्तिक पदार्थ समझो। जो बहुप्रदेशत्वरूपी काय अर्थात् देह में स्पर्श रस वर्ण गंध आदि की विचित्रता से पुद्गल द्रव्य हैं, वे नाना प्रकार के हैं। तथा धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य और जीव द्रव्य मूरति के विना ही जिस कारण से होते हैं उसी कारण से उन्हें अमूर्त्तिक कहा गया है। इस प्रकार यह मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्यों का भेद जैन धर्म में प्रगट अर्थात् स्पष्ट रूप से दिखाया-समझाया गया है।

---

* मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताण गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा॥(प्र सा. गाथा-१३१)

१. 'कथन कौ' क प्रति में। २. 'सफरसफरस क प्रति में। ३ 'मैं' क प्रति में।

आगे मूरतीक पुग्गल के गुन कहैं हैं।

(दोहरा)

"पंच वरन रस पंचविधि गंध दुविधि परकार।
आठ फरस ये बीस गुन पुदगल[1] के अवधार॥६८॥
लै परमानु आदि दै प्रमुख धरा परजंत।
सो पुनि बहुविधि खंध है जाकौ आदि न अंत॥६९॥
खंधनि के व्याघाततैं बहुत सब्द उतपाद।
भाषा अनभाषा दुविध तन परजाय सुनाद॥७०॥*

अर्थ :– पाँच वर्ण (रूप), पाँच प्रकार के रस, दो प्रकार की गंध और आठ प्रकार का स्पर्श ये बीस गुण पुद्गल के जानने चाहिये। परमाणु को आदि लेकर जोड़ने से उसमें पृथ्वी पर्यन्त जितने भी भेद हो सकते हैं उतने अनेक प्रकार के स्कंध बनते हैं जिनका आदि अंत नहीं है अर्थात् ये स्कन्ध परम्परा की अपेक्षा से अनादि अनंत जानने चाहिये। स्कन्धों के परस्पर व्याघात से ही बहुत प्रकार के शब्दों का उत्पाद होता है। शब्द भाषा और अनभाषा के भेद से द्विविध होते हैं। तन अर्थात् स्कन्ध रूप पुद्गल पर्याय के घर्षण से ही नाना प्रकार की नाद या ध्वनि स्वरूप पुद्गल की पर्याय को शब्द कहते हैं।

आगे पुद्गल दरव का संछेप स्वरूप कहैं हैं।

(दोहरा)

अविभागी जामैं नहीं आदि मध्य अवसान।
सबद रहित है सबद कौ कारन रूप निदान॥७१॥
हेत[2] रूप जिहि कौ सवै भू जल पावक पौंन।
वरनादिक पलटै तुरत बहुविधि कारन तौंन॥७२॥
सदा पाँच गुन पाइयै अविभागी जिहि[3] मांहिं।
अवधि ग्यान सौं जानियै इंद्रिय गोचर नांहि॥७३॥

---

* वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहमादो।
पुढवी परीयंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥(प्र.सा. गाथा-१३२)

१. 'पुग्गल' ख प्रति में। २. 'देत' क प्रति में। ३. 'जिस' क प्रति में।

वरन पाँच रस पाँच में[1] एक एक ही होइ।
एक गंध दो गंध में आठ फरस में दोइ॥७४॥
ये परमानू पंच गुन सात बंध में जानि।
वरनादिक[2] जे बीस हैं ते गुन जात बखानि॥७५॥

अर्थ :– जिसके भेद-हिस्से न किये जा सकें ऐसा जो अविभागी है तथा जिसमें आदि-मध्य और अंत का भेद संभव नहीं है। जो शब्द रहित है किन्तु शब्दों का आदि कारण है। परमाणु न हों तो उनके मिलने या बंध रूप होने के अभाव में स्कंध नहीं हो सकता तथा स्कंधों के बिना शब्द कैसे होंगे अतः स्पष्ट है कि परमाणु शब्द का परम्परया आदि कारण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप जितने भी स्कन्ध हैं उन सबका आदि हेतु परमाणु ही है। वह परमाणु बहुविध कारणों से अनेक स्पर्शादिक गुणों से तुरत फुरत बदलता भी रहता है क्योंकि परमाणु के वर्णादिकों में, उनके अविभागी प्रतिच्छेदों में पलटना-बदलना भी होता है जिससे उनमें परस्पर बंध की प्रक्रिया चलती रहती है और स्कंधों का बनना बिगड़ना होता रहता है।

जिस किसी भी अविभागी परमाणु में पाँच गुण सदा पाये जाते हैं ऐसा वह परमाणु अवधिज्ञान से जाना जा सकता है। इन्द्रिय गोचर अर्थात् इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है। जो बीस गुण (पर्यायें) पुद्गल के बताये हैं उनमें पाँच वर्णों में से एक, पाँच रसों में से एक, दो गंधों में से एक तथा आठ स्पर्शों में से दो ही एक समय में हो सकते हैं। इस प्रकार ये परमाणु पाँच गुण वाले ही होते हैं किन्तु बंध होने पर ये सात गुण वाले भी जानने चाहिये। तथा जो वरणादिक के बीस भेद बतायें हैं वे गुण नाना पुद्गलों की अपेक्षा से होते हैं, यह जानना चाहिये।

आगे षट् प्रकार के पुद्गल बतावें हैं।

(कवित्त)

कहिये ते गुन जात अति सूछम
पुनि सूछम बखानिये बीजौ।

---
१. 'ये' ख प्रति में। २. 'वर्नादिक' ख प्रति में।

सूछमथूल नाम संग्या है
जाकौ जो[1] सुभाव गुन[2] तीजौ ।।
और थूल सूछम चतुर्थमौं
थूल नाम पंचमौं सु लीजौ।
थूल थूल इहि विधि प्रकार षटु
पुद्गल भव्य सरदहन कीजौ ।।७६।।

अर्थ :– जिन गुणों के कारण पुद्गल को छह प्रकार वाला बताया है, अब वे गुन कहते हैं। पहला गुण है अति सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म-सूक्ष्म। दूसरा गुण कहा गया है सूक्ष्म। सूक्ष्म-स्थूल नाम संज्ञा है जिसकी सो उसका वह स्वकीय भाव तीसरा गुण जानना। स्थूल सूक्ष्म चौथा गुण है। पाँचवाँ गुण है स्थूल तथा छठवाँ है स्थूल-स्थूल अर्थात् अति स्थूल। इन गुणों के कारण ही पुद्गलों को छह प्रकार का कहा गया है। इसलिए हे भव्य ! पुद्गलों का ऐसा ही श्रद्धान तुम्हें करना चाहिये।

आगे इन पुदगलनि का भेद भिन्न-भिन्न करि दिखावै हैं।

(चौपाई)

पुदगल परमानू अविभागी, अति सूछम समझौ सु इकांगी।
कारमान वरगना सु कहियै, सो सूछम प्रमान कर गहिये ।।७७।।
लखिवे कौ न नैन कर दोई, ग्रहौ[3] चार इंद्रिनि करि सोई।
सब्द सपर्स गंध रस मांही, सूछम थूलता सु सक नांहीं ।।७८।।
आंखिनि करि सु दिष्टि मैं आवै, हस्तादिक सौं पकरि न पावै।
जहा[4] थूल सूछम पद थांमौ, छायादिक सु चाँदनी घांमौ ।।७९।।
जुदे जुदे सु हौंहि जौ[5] कीजै, भाजन एक मांहि धरि लीजै।
घृत अरू तेल आदि जो पानी[6], थूलता सु इनि विषै बखानी ।।८०।।
विछुरैं टूटि फूटि पुनि पोले, मिलिकरि फिरि[7] न हौंइ इक ठौले।
उपल काठ ईंटादिक माटी, थूल थूल ताकी परपाटी ।।८१।।

---

१ क प्रति में नहीं है। २. 'गति' क प्रति में। ३. यहौ क प्रति में। ४. 'जस' ख प्रति में। ५. 'जु' ख प्रति में। ६. 'म्यानी' ख प्रति में। ७. ख प्रति में नहीं।

अर्थ :—जो अकेला, अविभागी पुद्गल परमाणु है उसे अतिसूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गल समझ लेना चाहिये। जो कार्माण वर्गणा कही गयी है सो उसे सूक्ष्म प्रमाण पुद्गल जानना चाहिये। जिनको दोनों नेत्रों से न लखा जा सके और चार इन्द्रियों से जाना जा सके, ऐसे शब्द, स्पर्श, गंध, रस की मुख्यता वाले पुद्गलों में सूक्ष्म स्थूलता होती है सो इसमें संशय (शक) नहीं है। जो आँखों से तो देखा जा सके पर हस्तादिक से पकड़ा न जा सके ऐसे पुद्गलों में स्थूल सूक्ष्म गुन (पद) जान लो अर्थात् बुद्धि में थाम लो या निश्चय कर लो कि छायादिक अथवा रात्रि में चाँदनी तथा दिन में घाम-धूप वगैरह इसके उदाहरण हैं। जो पुद्गल जुदे जुदे हैं, होते भी हैं और कर लिये जाते हैं तथा पुन: जिनको एक भाजन-बरतन में रखने पर वे एकमेक हो जाते हैं ऐसे घृत तेल पानी आदि पुद्गलों में स्थूलता बखानी अर्थात् बतायी गयी है। जो पुद्गल बिछुड़े हुए हैं, परस्पर विच्छिन्न हुये हैं, टूटे-फूटे और पोले हैं तथा मिल कर फिर एकमेक नहीं हो सकते हैं वे पुद्गल स्थूल स्थूल कहलाते हैं। पत्थर, कंडा, लकड़ी, ईंट, माटी आदिक पदार्थ परिपाटी से स्थूल-स्थूल पुद्गल समझने चाहिये।

(दोहरा)

इनि पुदगलनि विषैं सु गुन मुख्य गौन करि चार।
तिनि करि निरमापित सु यह चतुरगती[1] संसार ॥८२॥

अर्थ :—इन पुद्गलों में सूक्ष्म-सूक्ष्म आदि जो पुद्गल बताये हैं उनमें ही मुख्यता-गौणता से ये चार गुण भी होते हैं अर्थात् उन गुणों से ही चार गति रूप संसार निर्मापित होता है। कवि का कहना यहाँ यह प्रतीत होता है कि पंचेन्द्रियों तथा मन के विषयभूत जो पुद्गल पदार्थ हैं वे मुख्य-गौण की विवक्षा में चतुर्विध हो सकते हैं जिन्हें जीव अपना जानकर या उनमें राग-द्वेष मयी इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके अपने लिये मनुष्य देव नारकी तिर्यञ्च स्वरूप चतुर्गति संसार का निर्माण स्वयं ही कर लेता है।

---

१. 'चतुर्गति' ख प्रति में।

अब पुद्गल की पर्जाय बतावैं हैं।

(चौपाई)

सब्द बंध छाया तम[1] जान, सूछमथूल भेद संठान।
अरु उदोत आताप सुभाय यह[2] दस विधि पुद्गल परजाय ॥८३॥

अर्थ :– शब्द, बंध, छाया, अन्धकार, सूक्ष्म, स्थूल, भेद, संस्थान, उद्योत, आताप ये दस प्रकार की पुद्गल की पर्यायें हैं।

अब अमूरतीक पंच द्रव्यनि के गुन कहैं हैं।

(छप्पय)

गगन दरव अस्थान देत सब दरव कौं सु नित।
तन चेतन तिन्हि काज गमन सहकार धरम हित ॥
इन्हि दो कौं सु अधर्म दर्व थिरता पद धारन[3]।
काल दरव सब दरव तिन्हैं नव जीरन कारन ॥
चैतन्य एक आतम दरव पँच अमूरति मानियै।
वरनैं तिनिके संछेप करि जे विशेष गुन जानियै ॥८४॥*

अर्थ :– आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों को सदैव स्थान देता है। धर्म द्रव्य, पुद्गल (तन) और जीव (चेतन) द्रव्यों के गमन कार्य में सहकारी कारण होता है इस प्रकार यह धर्म द्रव्य का हित (उपकार) बताया। अधर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल इन दोनों ही द्रव्यों को स्थिरता धारण करने रूप काज में सहकारी कारण होता है। काल द्रव्य सभी द्रव्यों के नये पुराने होंने में कारण होता है। तथा चैतन्य स्वरूप जो आत्मा द्रव्य है वह भी एक है। इस प्रकार सभी मिलकर आकाश, धर्म, अधर्म, काल और जीव ये पाँचों द्रव्य अमूर्तिक मान लेना चाहिये। यहाँ हमने उनका संक्षेप से जो स्वरूप वर्णन किया है उसे तुम उन उनका विशेष गुण समझो।

---

* आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्त।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥(प्र.सा. गाथा-१३३)
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया सखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥(प्र.सा. गाथा-१३४)

१ 'तन' दोनों प्रतियों में। २ 'जह' ख प्रति में। ३. 'कारन' ख प्रति में।

आगे षट् द्रव्यनि विषैं कौन प्रदेसी है कौन अप्रदेसी है, यह कथन।

(कवित्त छंद)

चेतन धर्म अधर्म दरव सो
असंख्यात परदेसी कहियै।
पुनि अनंत परदेसी आगम
विषैं अकास दरव सरदहिये॥
तन संख्यात प्रदेसी संख्यातीत
अनंत प्रदेसी गहिये।
पंच दरव परदेस भांति इहि
एक प्रदेस काल कैं लहिये॥८५॥*

अर्थ :– जीव द्रव्य (चेतन), धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य ये सभी असंख्यात प्रदेसी हैं, आगम में आकाश द्रव्य को अनंत प्रदेशी कहा है ऐसा श्रद्धान करना चाहिये। पुद्गल द्रव्य (तन) संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशी जान लेना चाहिये। इस प्रकार पाँचों द्रव्यों के प्रदेशों का प्ररूपण किया। काल द्रव्य का मात्र एक प्रदेश ही होता है अत: उसे अप्रदेशी भी कहते हैं।

(दोहरा)

क्रियावंत चेतन सु तन बाकी अचल अलाल।
सप्रदेसी इहि विधि सरव अप्रदेसी इक काल॥८६॥

अर्थ :– चेतन जीव और शरीर रूप पुद्गल ये दो प्रकार के द्रव्य ही क्रियावंत हैं अर्थात् क्रियावती शक्तिवाले हैं शेष चार द्रव्य अचल (स्थिर रहने वाले या क्षेत्र से क्षेत्रान्तर रूप क्रिया नहीं करने वाले) हैं, मानों अलाल-आलसी ही पड़े रहते हैं। इनमें एक काल द्रव्य ही एक प्रदेशी अर्थात् अप्रदेशी है तथा शेष पाँच द्रव्य सप्रदेशी अर्थात् बहुप्रदेशी जानने चाहिये। सप्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय भी कहते हैं। इस प्रकार पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं हैं।

---

* जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स॥(प्र.सा. गाथा-१३५)

आगे सप्रदेसी अप्रदेसी कहाँ तिष्ठै है, यह कथन।

(कवित्त छंद)

लोक अलोक माँहिं नभ निवसत
धरम अधरम लोक के माँहिं।
तिन्हि की गति स्थिति सु परिनति सौं
पुद्गल जीवन कैं जग माँहिं[१]॥
तन चेतन परिनाम काल कौ
समय[२] आदि परजाय सु ताँहिं।
तार्थं काल लोक महिं सब ही
दरव लोक भीतर सु रहाहिं॥८७॥*

अर्थ :– आकाश (नभ) द्रव्य लोक अलोक में सर्व व्याप्त होकर रहता है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य लोक में सर्व व्याप्त होकर रहते हैं। उन धर्म-अधर्म द्रव्यों के निमित्त से क्रमशः गति रूप, स्थिति रूप परिणमित होने से जीव और पुद्गल द्रव्य जगत् के भीतर यथायोग्य गतिमान या अवस्थित होकर रहते हैं। जीव पुद्गलों के परिणमन के लिये निमित्त कारण काल द्रव्य समय आदि पर्याय वाला होता है। जो जीव पुद्गलों के समान ही लोक में एक एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान अवस्थित होकर रहता है। इस प्रकार सारे ही द्रव्य लोक के भीतर ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार रहा करते हैं।

आगे इन द्रव्यनि कैं प्रदेसत्व अप्रदेसत्व काहे तैं हो हैं, 'यह कथन'[३]।

(कवित्त छंद)

अविभागी पुदगल परमानू
रोकै क्षेत्र तेतनौं लेस।
ऐसें है अनंत अंबर[४] के
अंस नाम जाकौ परदेस॥

---

* लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा॥(प्र.सा. गाथा-१३६)

१ 'नाहिं' क प्रति मे। २ 'सम' क प्रति मे। ३. क प्रति में नहीं। ४. 'अमर' क प्रति में।

असंख्यात पूरव ही वरनैं
धरम अधरम एक जिय जेस।
पुद्गल दरव त्रिविध परदेसी
समझ लेउ[1] मत[2] विषैं जिनेस॥८८॥*

अर्थ :—एक अविभागी पुद्गल परमाणु आकाश में जितना क्षेत्र (स्थान) रोकता है उतना क्षेत्र लेस अर्थात् सबसे कम या छोटा क्षेत्र (प्रदेश) कहलाता है। इस प्रकार अनंत आकाश के अंश भूत उतने क्षेत्र को, जो अविभागी परमाणु ने रोका है, प्रदेश कहते हैं। ऐसे वे प्रदेश धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य के असंख्यात पूरव ही बताये गये हैं। पुद्गल द्रव्य तीन प्रकार से सप्रदेशी है अर्थात् उसे संख्यात प्रदेसी, असंख्यात प्रदेसी और अनंत प्रदेशी जानना चाहिए। एक प्रदेश वाले पुद्गल परमाणु को अप्रदेशी भी कहते हैं। इस प्रकार मूलतः अप्रदेशी होकर पुद्गल त्रिविध होते हैं यह सब जिनेश अर्थात् वीतरागी-सर्वज्ञ जिनेन्द्र के मत में अच्छी तरह प्रतिपादित है। सो हमें समझ लेना चाहिये।

आगे कालानू कौ अप्रदेसी दिखावैं हैं।

(दोहरा)

नभ सु प्रदेस[3] प्रदेस प्रति कालानु सु रहां हि।
रत्न रासि सम जे जुदे[4] मिलें न आपु समांहि॥८९॥
पुद्गल परमानू करैं सहज मंद गति दौर।
पहुँचे एक प्रदेस तैं चालि सु दूसरे ठौर॥९०॥
सोई व्योम प्रदेस पर कालानूं सु रहांइं[5]।
समय जो सु वह काल की समझि लेउ परजाय॥९१॥

---

* जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो॥(प्र.सा. गाथा-१३७)

१ 'लेहु' ख प्रति में। २. 'मति' ख प्रति में। ३. 'पदेसी' क प्रति में। ४. 'सम जे जुदी' ख प्रति में तथा 'जुदी' क प्रति में। ५. 'रहाय' ख प्रति में।

तार्थैं कालानू जु है मात्र एक परदेस।
अप्रदेसी कहिये 'जु सो'[1] निर्विकल्प निरभेस ॥९२॥*

अर्थ :— लोक पर्यन्त आकाश के एक एक प्रदेश पर एक कालाणु रहता है तथा वे सभी कालाणु रत्न राशि के समान जुदे जुदे रहते हैं, आपस में मिलते नहीं हैं। एक पुद्गल परमाणु अपनी सहज मंदगति से गमन करता है और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर पहुँचता है तो आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर पहुँचने में जितना काल लगता है, उसे समय कहते हैं। एक परमाणु आकाश में जितना स्थान घेरता है, वह एक प्रदेश कहलाता है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर कालाणु सदैव अचल रहता है। पुद्गल परमाणु के उपरोक्त प्रकार से हुये गमन में लगे समय को काल द्रव्य की ही समय नामक एक पर्याय समझो तथा इसी प्रकार जीवादिक द्रव्यों के परिणमन में भी काल द्रव्य की पर्याय, जो समय है, की निमित्तता जाननी चाहिए। कवि कहते हैं कि यह जो कालाणु है वह सदैव एक प्रदेशी रहता है इसलिए उसे अप्रदेशी कहते हैं वह निर्भेद (निरवयव स्वरूप) तथा अरूपी-निराकार होता है।

आगे काल पदारथ के द्रव्य परजाय दिखावैं हैं।

(छप्पय)

तितनैं गगन प्रदेस तुल्य तिनही कालानू।
तिन्हि प्रति करि गति मंद चलै पुद्गल परमानू॥
एक प्रदेसहि छोड़ि दूसरे विषैं सु आवै।
सूछम समय[2] जु[3] काल की सु परजाय कहावै॥
सो प्रापति होत विनास कौ सोई पुन उत्पत्य है।
थिर कालानू उपजै नही विनसै नहीं सु सत्य है॥९३॥*

अर्थ :— जितने लोक पर्यन्त आकाश के प्रदेश हैं उनके ही बराबर लोक

---

*समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स॥(प्र सा. गाथा-१३८)

* वदि वददो त देस तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी॥(प्र.सा. गाथा-१३९)

१ 'सुजो निरविकलप' ख प्रति मे। २ 'काल' क प्रति में। ३. 'सु' ख प्रति में।

में कालाणु हैं उन कालाणुओं के प्रति लक्ष्य करके एक अप्रदेशी पुद्गल परमाणु अपनी मंद गति से चलता है और एक प्रदेश में स्थित कालाणु का साथ छोड़-कर दूसरे प्रदेशस्थित कालाणु के पास में आ जाता है तो उसके गमन में लगने वाले काल को सूक्ष्म समय कहते हैं यह काल द्रव्य की एक द्रव्य पर्याय है ऐसा तुम जानो। यह समय रूप पर्याय उत्पन्न होती है, विनसती है। पुनः-पुनः उत्पत्ति विनाश होता रहता है किन्तु कालाणु स्थिर रहता है, वह उत्पन्न ध्वंसी नहीं है, सो यह उपदेश सत्य ही है।

आगे आकास के[1] प्रदेस का लछन कहैं हैं।

(कवित्त छंद)

परमानू जह[2] सु अविभागी
तिन्हि करि रह्यौ व्यापि भर जास।
अैसें हैं प्रदेस तसु जामैं
पंच अरथ परदेस निवास॥
पुग्गल खंध परिनये जे पुनि
सहज रूप सूछमता पास।
सरव दरव तिन्हि कौं जागा के
दीवे[3] कौं समर्थ आकास॥१४॥*

अर्थ :– जो अविभागी परमाणु हैं ऐसे अनंत परमाणुओं से व्याप्त होकर जो लोकाकाश है जिसके भीतर ऐसे असंख्यात प्रदेश हैं और जिसमें जीव पुद्गलादि सभी पंचविध पदार्थों या द्रव्यों के प्रदेशों का भी निवास है। स्कंध रूप से परिणमित पुद्गल सूक्ष्म हों या स्थूल वे सहजपने से ही एकक्षेत्र मे मिलकर रहते हैं अर्थात् सभी उसी अवगाह में समा जाते हैं। इस प्रकार के सभी द्रव्यों को जगह अर्थात् स्थान देने में जो समर्थ है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

---

* आगासमणुणिविट्ठ आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि त देदुमवगासं॥(प्र.सा. गाथा-१४०)

१. क प्रति में नहीं। २. 'मह' ख प्रति में, 'महा' क प्रति में। ३. 'दैवे' ख प्रति में।

आगे कहैं हैं कै समय परज्जाय विषैं काल पदारथ के उत्पाद व्यय ध्रौव्यता सधै है।

(छप्पय)

कालानू जिहि रूप दरव इक है सु काल ही।
समय नाम परजाय विषैं जानौं सु हाल ही॥
उपजैं अरु विनसैं सु बहुरि थिर रूप बखानौं।
तीनि भाव तिन्हि की प्रवर्त्ति निश्चै[1] करि जानौं॥
अस्तित्व यह सु इहि काल कौ काल सरवदा रहैगौ[2]।
अपनौं सुभाव निज छोड़कर अवर[3] सुभाव न गहैगौ[4] ॥९५॥*

अर्थ :– कालाणु जिस रूप में है वह एक काल द्रव्य ही है। तथा समय को तुम कालाणु विषयक द्रव्य पर्याय जानो। यह द्रव्य पर्याय प्रतिक्षण उपजती है, विनशती है और स्थिर रहती है ऐसे उस समय पर्याय का उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यपना बताया गया है। ये जो उत्पाद व्यय और ध्रुवता रूप तीन भाव हैं उनका होना निश्चित ही जानना चाहिये। यहाँ काल द्रव्य का अस्तित्व यह ही है कि वह काल सर्वदा विद्यमान रहेगा। तथा अपने निज स्वभाव को छोड़कर दूसरे स्वभाव को ग्रहण नहीं करेगा।

आगै काल पदारथ प्रदेस मात्र जो कालाणु रूप न होइ तौ उत्पाद-व्यय अस्तित्व न होई, यह कथन।

(छप्पय)

जिहि वस्तु कैं अनेक एक परदेस न लहिये।
जासु विषैं उतपाद वय सु धुवता[5] किम कहिये॥

---

* एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाण च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स॥
उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एक समयम्हि।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि॥
एगम्हि सत समये सभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणु सब्भावो॥(प्र.सा. गाथा-१४१-१४२-१४३)

१. 'निश्चय' ख प्रति में। २. 'रहेगा' क प्रति में। ३. 'और' क प्रति में। ४ गहेगा क प्रति में।
५ 'ध्रुअता' क प्रति में।

उतपति वय धुव[1] माहि दरव अस्तित्व सही है।
सो अस्तित्व विना प्रदेस नाहीं सु कही है॥
जातैं अप्रदेसी कैं कहैं सून्य असत्ता जानियैं।
लखिकैं इम परदेसी सु इक काल दरव सो मानियै॥१६॥*

अर्थ :– जिस किसी भी वस्तु के यदि एक प्रदेश अथवा अनेक प्रदेस नहीं माने जायें या प्राप्त नहीं किये जायें तो उस वस्तु के विषय में उत्पाद व्यय एवं ध्रुवता क्यों या कैसे कही जाये। उत्पाद, व्यय और ध्रुव मानने में द्रव्य का अस्तित्व मानना सही है। उनके विना कोई द्रव्य हो ही कैसे सकता है। द्रव्य का जो अस्तित्व है सो वह प्रदेश के विना हो ही नहीं सकता है, इसकारण ही जो सर्वथा प्रदेश रहित होवे तो उसे शून्य या असत्ता ही जानना चाहिये। इसलिये यह सब लखकर या जानकर काल द्रव्य को एक प्रदेशी ही मानना चाहिये।

आगे ग्यान ग्येयकरि आतमा कौं परभाव तैं जुदा दिखाइवै कौं व्यवहार जीव कौ कारन कहै हैं।

(कवित्त छंद)

लै नभ दरव काल ताईं सब
नहीं निज प्रदेशनि सौं दूर[2]।
तीनि लोक महि आदि अंत विनु
भरे सघन करिकैं भरिपूर॥
जो तिन्हि षट पदारथनि कौ है
ग्याइक जीव सहित निज नूर।
चारि प्रान इंद्री बल 'आयु
स्वासु आप तसु रहै हजूर'[3]॥१७॥**

अर्थ :– अनंत प्रदेशी अखंड आकाश से लेकर एक प्रदेशी काल द्रव्य

---

* जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो॥(प्र.सा. गाथा-१४४)

* सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो॥(प्र.सा. गाथा-१४५)

१. 'धुअ' क प्रति में। २. 'दुर' क प्रति में। ३. क प्रति में नहीं।

तक सभी द्रव्य अपने निज प्रदेशों से दूर नहीं रहते हैं। वे सारे द्रव्य या पदार्थ तीनों लोकों में अनादि निधनपने से सघनतया-सम्पूर्णतया भरे हुये हैं। लोक में ठसाठस भरे हुये इन षड्विध पदार्थों को जानने वाला ज्ञायक जीव ही है जो अपने नूर अर्थात् ज्ञान ज्योति के साथ सदैव वर्तता है तथा अपने इन्द्रिय, बल, आयु और श्वोसोच्छ्वास रूप चार प्राणों के कारण सदा ही हाजिर-हजूर-मौजूद रहता है।

आगे व्यवहार जीव कौ कारन ते प्रांन कौंन हैं, यह कथन।

(कवित्त छंद)

"जे व्यवहार जीव के कारण
चार प्रांन पूरव कहि आये।
फरस जीभ नासिका कांन
द्रग पंचभेद इंद्रिनि के गाये।।
विकलप तीन बल सु मन वच
तन स्वासु स्वास आउ गन ठाये।
ते सामान्य प्रांन तिन ही के
ये दस भांति प्रान समुझाये।।९८।।"[१]*

अर्थ :– मनुष्यादिक व्यवहार जीव के जो चार प्राण पूर्व में कहे गये हैं, उन्हें यहाँ भेद पूर्वक बताया जा रहा है। इन्द्रिय प्राण पाँच प्रकार के हैं - १. स्पर्शन इन्द्रिय २. रसना इन्द्रिय ३. घ्राण इन्द्रिय ४. चक्षु इन्द्रिय ५. कर्ण इन्द्रिय। बल प्राण के तीन विकल्प (भेद) हैं - १. मनोबल २. वचोबल और ३. काय बल। इनके अलावा एक श्वासोच्छ्वास प्राण और एक आयु प्राण। इस प्रकार ये दस भेद प्राण के यहाँ समझाये गये हैं।

आगे इन प्राननि कौं व्यवहार जीव के कारन अरू पुद्गलीक दिखावैं हैं।

---

* इंदिय पाणो य तधा बलपाणो तह य आउ पाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ।।(प्र.सा. गाथा-१४६)

१ यह छंद क प्रति में आधे से अधिक छूट गया है।

(कवित्त)

जो चैतन्य स्वरूप आतमा
चारि प्रकार प्रान कौ धारी।
तीनि काल पर्जाय चतुर्गति[1]
जाकौ भ्रमनहार संसारी॥
तिनही चारि प्रान करि जीवतु[2]
जीवतु तौ जीवै गुनधारी।
सो व्यवहार जीव के कारन
उपजत भए देह तैं चारी॥९९॥*

अर्थ :–जो चैतन्य स्वरूप आत्मा है वह कम से कम चार प्राण का धारी अवश्य होता है और तीनों कालों की जो चतुर्गति विषयक मनुष्यादिक पर्यायें हैं, उनको धारण करता हुआ भ्रमणहार संसारी बना रहता है। यदि कोई उन चार प्रकार के प्राणों से जीता है तो जीवन गुणों को धारण करने वाला यह जीव अवश्य जिये। इसलिये यह सिद्ध होता है कि शरीर से उत्पन्न हुये ये चारों पौद्गलिक प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास, आयु, इन्द्रियाँ और बल व्यवहार नय से मनुष्यादिक व्यवहार के कारण होने से जीव के परिचायक कारण मानें गये हैं।

आगे प्राननि कौं पुद्गलीक दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

मोह राग दोष भाव आदि पुग्गलीक ठाउ[3]
सौं अनेक भांति कर्म भर्म[4] की विभावता।
जाही सौं बंध्यौ सु जीव दूख की सु दैके नींउ[5]
ये ही चारि प्रान के सु फंद मांहि आवता॥

---

* पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता॥(प्र.सा. गाथा-१४७)

१. 'चतुरति' ख प्रति में। २. क प्रति में नहीं। ३. 'ठाव' ख प्रति में। ४. क प्रति में नहीं है। ५. 'नींव' ख प्रति में।

तेई प्रान के सु जोग तैं उदैं सु कर्म भोगि[1]
सुख-दु:ख[2] दोउ के सवाद कौं सु पावता।
नए कर्म कौं सु और जहाँ फेरि परै भौंर
आदि अंत बंध के विसेष कौं वहावता ॥१००॥*

अर्थ :– आत्मा में मोह राग द्वेष भाव पौद्‌गलिक पदार्थों के ठिकाने से अर्थात् उनके आश्रय से ही होते हैं जो अनेक प्रकार के कर्म के कारण होकर भ्रम के भी कारण बनते हैं अतएव आत्मा के विभाव भाव कहलाते हैं। पुद्‌गल पदार्थों में सुख के भ्रम से यह जीव इन्हीं मोह राग द्वेष भावों से बंधा हुआ मानों दु:ख की नींव ही मजबूत करता है और इन चतुर्विध प्राणों के फंदें में आ जाता है अर्थात् मनुष्य आदि के रूप में प्राणधारी होकर दु:ख भोगता रहता है। इन्हीं प्राणों के योग से तथा कर्म के उदयानुसार भाव कर्मों को अर्थात् अपने मोह राग-द्वेष को भोगता हुआ जीव इन्द्रिय ग्राह्य विषयभोगों से उत्पन्न सुख दुख दोनों के स्वाद को पाता है। इस प्रकार सुख-दु:ख भोगने में लगकर नये कर्मों को और अधिक से अधिक बाँधता है तथा उन्हें भोगने के भंवर जाल रूप फेर में या फंदे में पड़कर आदि अंत स्वरूप बंध के विशेष को ही बहाता-बढ़ाता रहता है।

आगै नौतन[3] (नूतन) पुद्‌गलीक कर्म कौ कारन प्रानन्हिकौं[4] दिखाइये है।

(सवैया इकतीसा)

यही जीव यही चारि प्रान सौं जगत्र मांहिं
कर्मफल विषैं नाना भांति भोग करै है।
भोगमांहि एकै है अनिष्ट एकै इष्टभाव
तिनिकौं विलोकि राग दोष भाव धरै है॥

---

*जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंज कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं॥(प्र.सा. गाथा-१४८)

१. क प्रति में नहीं। २. 'सुख्य-दुख्य' ख प्रति में। ३. 'नौतन प्रान' दोनों प्रतियों में। ४. 'प्रान तिनकौं' ख प्रति में।

रागदोषभावसौं सु आपु ग्यान प्रान हतै
अन्य जीव प्रानघात मरै वा न मरै है।
ग्यानावरनादि आठ करम करतूति जासौं
चारि परकार के सु बंध मांहि परै है॥१०१॥*

अर्थ :—यही संसारी जीव इन्हीं चारों प्राणों से तीनों लोकों में कर्मफल के मिलने पर नाना प्रकार के भोग भोगता है। तथा भोगों में कहीं इष्ट बुद्धि तो कहीं अनिष्ट बुद्धि करता है और इस ही प्रकार से भोगों को जानकर अपने अंदर भी राग-द्वेष भाव पैदा कर लेता है और फिर उत्पन्न हुये अपने ही राग-द्वेष भावों से अपने ज्ञान रूप चैतन्य प्राणों का हनन करता है। राग-द्वेष के कारण ही अन्य जीवों के इन्द्रिय बल आदि प्राणों को भी घातता है किन्तु वह प्राणघात उसकी इच्छा के आधीन नहीं होता है, वह जिन्हें मारना चाहता है वे मरें अथवा न मरें यह तो उन प्राणियों की ही भवितव्यता पर निर्भर है। अपने चैतन्य गुणों के घात एवं पर प्राणी पीड़ा या उनके प्राणों का घात करने रूप परिणामों से वह ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को बाँधने में जो करतूति अर्थात् मन-वचन-काय की कर्त्तव्यता है, उसे भी कर बैठता है और चारों प्रकार के बंध अर्थात् प्रकृति बंध, प्रदेशबंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध में पड़ जाता है। इस प्रकार इन्द्रियादि प्राणों को धारण करने वाला प्राणी उन्हीं प्राणों के घात के निमित्त से अष्टविधकर्मबन्धन के संसार में पड़ जाता है, इसमें उसके चैतन्य प्राणों का घात होता ही है, यह भी यहाँ स्पष्ट हो जाता है।

आगे इनि प्रान संतान की उतपत्य कौं अतरंग कारन दिखावैं हैं।

(कवित्त छंद)

चेतन यहु सु अनादि काल तैं
कर्म मेल[1] तिहि कर सु मलीन।
तावत काल प्रान ये[2] फिरि फिरि
और और पुनि धरै नवीन॥

---

* पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं॥(प्र.सा. गाथा-१४९)

१. 'कर्म मैल' ख प्रति में। २. 'ए' ख प्रति में।

संसारी सु भोग विषयादिक
तिन्हि के विषैं सरीर प्रवीन।
जिनि सौं सदा ममत्व बुद्धि अति
छोड़ै नहीं महा मति हीन॥१०२॥*

अर्थ :– चेतन आत्मा अनादि काल से कर्म मैल में अर्थात् कर्मों के बंधन में जकड़ा हुआ है तथा उन कर्मों के उदय में मोह राग-द्वेष परिणाम करके उन कर्मों से ही मलिन हो रहा है अपने को भूल जाना तथा पर में ममत्व करना, उन्हें अपना मानना और उनसे सुख दुख चाहना यही आत्मा की मलिनता है। इस मलिनता से संपृक्त होकर प्राणी इन इन्द्रियादिक प्राणों को ही बार-बार प्राप्त करता रहता है और नवीन-नवीन कर्मों का बंधकर चतुर्विध प्राणों को भी पुनः-पुनः धारण करता हुआ संसारी बना रहता है। संसारी जो विषयभोग भोगता है उसमें शरीर भी भूमिका निभाता है अतः उसे यहाँ विषयभोग में प्रवीण कह दिया गया है। शरीर को ही आत्मा समझने वाला मूढ़ सदैव विषयभोगों में ही ममत्व करता रहता है उसकी यह ममत्त्वबुद्धि इतनी गाढ़ी-मजबूत होती है की वह महा मतिहीन अर्थात् वज्र जड़ बुद्धि जीव उसे छोड़ता ही नहीं है।

आगे इनि पुद्गलीक प्रान संतान के नास का[1] अंतरंग कारन कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

**इंद्रिय कषाय अव्रतादिक विषैं विकार
सर्वथा प्रकार करिकैं सु परिहरै हैं।
अपनौं[2] विसुद्ध आतमा स्वरूप जाके विषैं
एक चित्त थिरीभूत होइ अनुसरै हैं॥
सोई भेद ग्यान[3] राग दोष के अभाव सेती
सुभासुभ कर्म की सु बंध[4] मैं न परैं हैं।**

---

* आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु॥(प्र.सा. गाथा-१५०)

१. 'कौ' ख प्रति में। २ 'आपनौ' क प्रति में। ३ 'ग्यानी' ख प्रति में। ४ 'बंद' क प्रति में।

अबै सो महातमा कौं कही जिन आगम मैं
विनासीक पुग्गलीक प्रान कैसैं धरे हैं।।१०३।।*

अर्थ :– इन्द्रियों के विषय भोग, कषाय परिणति तथा पाप प्रवृत्ति रूप अव्रतादिक विषयक जो भी, जितने भी विकार भाव हैं उन्हें सर्वथा प्रकार से दूर करता है तथा अपने स्वयं के विसुद्ध आत्म स्वरूप के बारे में अपने मन को एकाग्र-स्थितिभूत करके शुद्ध स्वरूप का अनुसरण करता है तो उसके ऐसे ही भेद ज्ञान से राग द्वेष का अभाव होते रहने से वह शुभ अथवा अशुभ कर्म के बंधन में नहीं पड़ता है मतलब यह है कि उसका कर्म बंधन कमजोर होता जाता है एवं पहिले की अपेक्षा कम होने लगता है। निष्कर्ष यह है कि जब कोई महात्मा जिनागम के बताये अनुसार आचरण करता है तो फिर वह विनाशीक-पौद्गलिक प्राणों को कैसे या क्यों धारण करेगा। नहीं करेगा एवं जल्दी ही वह अपने शरीरादि जड़ प्राणों से मोह-ममत्त्व छोड़कर मुक्ति का पुरुषार्थ ही करेगा।

आतमा कौं परभावतैं फेरि भिन्नता करि दिखावैं हैं।

(दोहरा)

''नई नव सरस वर दसा दरव सरस व नई न।
न हीन गुरुपद चिर मनी[1] भरचिद् परगुन[2] हीन।।१०४।।
सहजरूप आतम दसा आदि अंत इक सूत।
अपनै[3] निज अस्तित्वकरि रहित चतुर्गति तूत।।१०५।।**

अर्थ :– आत्मा में उत्पन्न होने वाली जो नित नई-नई पर्यायें होती हैं उनमें परवस्तु के निमित्त से होंने वाली परभाव-विभाव रूप जो-जो भी पर्यायें हैं वे सब हर क्षण नई-नई होकर भी स्वरस (सरस) अर्थात् स्वभाव रूप से ही

---

* जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणु चरंति।।(प्र.सा. गाथा-१५१)

** अत्थित्तणिच्छदस्स हि अत्थस्सत्थतरम्हि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।।(प्र.सा. गाथा-१५२)

१. 'भनी' क प्रति में। २. 'भरगुन' क प्रति में। ३. 'अपनौं' क प्रति मैं।

परिणमन करतीं हैं। मतलब यह है कि कोई भी विभाव पर्याय अपने गुण स्वभाव का ही अभिव्यज्जन करती है किसी अन्य का नहीं; यही उसकी श्रेष्ठता है। इस प्रकार आत्मा की स्वभाव-विभाव पर्यायें उसकी अपनी ही वर दशायें जानना। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से यह सब सही है तथापि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से देखें तो वे सब पर्यायें एक द्रव्य ही हैं अन्य वस्तु नहीं। वे आत्मा की पर्यायें आत्म द्रव्य अथवा अपने-अपने द्रव्य की स्वभावाभिव्यञ्जक दशाओं के अलावा कुछ नहीं है। उनमें विकार अवश्य हुआ है तथापि वे स्वभाव का ही अभिव्यज्जन करती हैं इस दृष्टि से सभी पर्यायें नई-नई नहीं हैं द्रव्य या उसका स्वभाव ही हैं। आत्मा न गुरु है न लघु है अर्थात् अगुरुलघु है। सदैव (चिर) सर्वश्रेष्ठ (मणि) है तथा अपनी ही चिद् वृत्तियों-परिणतियों तथा अपने ही अनंतानंत गुण पर्यायों से भरा हुआ है, उनसे ही परिपूर्ण है। आत्मा में न तो पर है और न ही पर गुण; अतः परगुणों से हीन है। आत्मा तो सहजपने से ही अपनी आदि अंत (उपलक्षण से अनादि-अनंत) पर्यायों-दशाओं में इक सूत ही रहता है अर्थात् अपनी अनादि-अनंत पर्यायों में एक द्रव्यत्वपने से अनुस्यूत रहता है, सभी पर्यायें एक द्रव्य ही हैं, अन्य नहीं। आत्मा अपने ही अस्तित्व से सदैव रहता है तथा चतुर्गति के फल रूप वृक्ष से रहित है।

आगे विवहार जीव कैं चारि गति के पर्यायनि का स्वरूप कहैं हैं।

(दोहरा)

भयो अनेक प्रकार जिय[1] पुद्गल की रस रीति।
षट् संस्थान सु संघनन आदि धरि सु विपरीति ॥१०६॥
'नर नरकादिक हैं सु जे गति चार दुखदाय।
कही जिनागम के विषैं यह विभाव परजाय॥१०७॥'[2]

अर्थ :– मनुष्य आदि पर्यायों में दस प्राणों से जीता हुआ व्यवहार जीव अनेक प्रकार से पाया जाता है। जो अनेकपने से विभावरूप परिणमित होकर नाना दशाओं रूप नर तिर्यञ्चादि पर्यायों को प्राप्त करने वाला होता है। यह सब

---

१. 'जीय' क प्रति में। २. यह छंद क प्रति में नहीं।

पुद्गल की संगति का ही फल है। पुद्गल कर्मों की रस रीति से अर्थात् जीव के द्वारा बांधे गये कर्मों में निहित अनुभाग बंध रूप विपाक रस (फल) से जीव को नाना अवस्थाओं में नाना रूप धरने पड़ते हैं। वज्रवृषभादि छह संघनन तथा समचतुरस्रादि छह संस्थानों वाले शरीर आदि को धारण करके आत्मा विपरीतता करता रहता है। विपरीत कर्त्तव्य ही आत्मा का विभाव परिणाम है जिससे संसारी आत्मा मनुष्य, नारकी आदि चारों गति संबंधी अनेक अवस्थाओं में पड़ा हुआ दुख पाता रहता है। जिनागम में यह स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा को चतुर्गति में दुख देने वाला आत्मा का ही विभाव परिणाम मूल हेतु है।

आगे ये ही द्रव्य परजाय के भेद दिखावैं हैं।

(कवित्त छंद)

संसारी जीव कैं नरपसु
नारक 'देव आदि'[1] परजाय।
सो संस्थान संघनन सपरस
रसन गंध वरनादिक पाई॥
नहीं सुभासुभभाव जीव कौ
पर रूपी विभाव दुखदाई।
पुद्गल के उदै सु है जग में
नाम कर्म संबंध सु पाई॥१०८॥*

अर्थ :– जो संसारी जीव है उसके नाम कर्म आदि के उदयानुसार मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी, देव आदिक पर्यायें उत्पन्न होती हैं तथा वह तदनुसार ही संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदिक को भी प्राप्त कर लेता है। सो यह परद्रव्य रूप पौद्गलिक परिणमन शुभाशुभ परिणाम करने वाले जीव को दुखदाई नहीं हैं अपितु शुभाशुभ भाव रूप परिणमित होने वाले जीव के जो

---

* णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादीहिं णामकम्मस्स॥(प्र.सा. गाथा-१५३)

१. ''देवतादि'' ख प्रति में।

मोह-राग-द्वेष रूप विभाव परिणाम होते हैं वे ही दुखदायी जानना चाहिये। जीव पुद्गल कर्मों का उदय होने पर तथा नाम कर्म के सम्बन्ध से नर नारकादिक पर्यायें पाकर स्वयं ही मोह-राग-द्वेष परिणामों का कर्त्ता होकर जगत् में दुख भोगता है अत: मोह-राग-द्वेष रूप परिणाम ही जीव को दुखदायी हैं, परद्रव्य या उसका संयोग नहीं।

आगे जद्यपि परद्रव्यनिसौं आत्मा मिलि रहौ है तथापि स्वपर भेद के निमित्त स्वरूपास्तित्व[1] दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

कह्यौ जैसौ पूरव ही दरव कौ स्वरूपा सु
असतित्त्व[2] ताहि लियैं लछिन सु जानैं हैं।
जीव निरजीव जे पदारथ उभै प्रकार
भेदग्यान दिष्टि सौं जुदे जुदे सु भानैं हैं॥
उतपत्य नास ध्रौव्य द्रव्य[3] गुन परजाय
ये ही[4] तीनि भावनि समेत सदा मानैं हैं।
सोई भेदग्यानी विषैं दरव अचेतनि के
हिये समदिष्टि सौं न मोह भाव आनैं हैं॥१०९॥*

अर्थ :– जिस प्रकार पहले द्रव्य का स्वरूपास्तित्व कहा है। उसको मुख्य करके अर्थात् उसे अपनी बुद्धि में लेकर जो द्रव्यों के लक्षणों को जानता है तथा जीव अजीव दोनों ही प्रकार के पदार्थों को भेदविज्ञान दृष्टि से पृथक्-पृथक् जानता है। इतना ही नहीं उत्पाद व्यय ध्रौव्य जिनका लक्षण है ऐसे द्रव्य, गुन और पर्याय इन तीन भावों सहित सत् को जो सदैव मानता है, वह भेदज्ञानी चेतन-अचेतन पदार्थों को यथार्थ जानता है; कहीं भी चूक नहीं करता है तथा समदृष्टि बने रहने से अपने मन में मोह भाव को भी नहीं आने देता है।

---

* त सब्भावणिबद्ध दव्वसहाव तिहा समक्खाद।
जाणदि जो सवियप्प ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि॥(प्र.सा. गाथा-१५४)

१ 'रूपास्तित्व' क प्रति मे। २. 'अस्तित्व' दोनों प्रतियो में। ३. क प्रति में नहीं। ४ 'ई' ख प्रति में।

आगे सर्वथा प्रकार आतमा के भिन्न हूवे[1] कौं पर द्रव्य के संजोग का कारन दिखावैं हैं।

(अडिल्ल)

जीव दरव चेतना स्वरूप सु मानिवौ।
ताही कौ परिनाम देखिवौ जानिवौ॥
दुविध[2] यह चेतनामय सु परनति कही।
सौ सुभ असुभ स्वरूप बंध पद्धति[3] यही॥११०॥*

अर्थ :– जीव द्रव्य सदैव चेतना स्वरूप ही है अर्थात् उसका लक्षण चेतना ही मानना चाहिये तथा उस चेतना का परिणाम उपयोग कहलाता है, जो देखने जानने की अपेक्षा द्विविध कहा गया है। दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग ये उपयोग के ही दो भेद हैं। परिणति को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग कहते हैं। जीव जब पर पदार्थों को देखता जानता है तो उसमें मोह भी पैदा होता है तथा शुभोपयोग एवं अशुभोपयोग परिणति भी पैदा होती है। जीव का यह शुभोपयोग एवं असुभोपयोग स्वरूप जीव का परिणमन बंध का कारण है, बंधरूप भी है और इसी से बंध पद्धति चलती रहती है।

आगे सुभोपयोग असुभोपयोग इन दोनों विषैं पर द्रव्य संबंध का कारन दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

दान पूजा वरत विधान आदि क्रिया सुभ
चेतना विकार सो असुद्ध परिणाम[4] है।
जाकौ फल पुन्य सुभ साता कौ करनहार
तन पिंड जीव एक ठौर बंध धाम है॥
मिथ्या भाव विषय कषाय आदि तैं सही[5] सु
असुभोपयोग सौं असाता कौ धमाम है।

---

* अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि॥(प्र.सा. गाथा-१५५)

१. 'होवे' ख प्रति में। २. 'दो विधि' ख प्रति में। ३. 'पधति' क प्रति में। ४ 'परिनाम' ख प्रति में।
५. 'तैसैं ही' ख प्रति मे।

सुभासुभ भाव गऐं सुद्ध उपयोग भऐं
'वीतराग सुद्ध'[1] एक आतमा ही राम है ॥१११॥*

अर्थ :—दान, व्रत, पूजा, विधान आदि शुभ क्रिया, जो चेतना का विकार है, वह अशुद्ध परिणाम है। इस अशुद्ध परिणाम का फल पुण्यबंध है जो जीव के लिये शुभ एवं साता का करने वाला (करणहार) है तथा पुण्य प्रकृति रूप पुद्गल पिंड एवं जीव दोंनो ही के एक ही ठौर में अर्थात् एक क्षेत्रावगाह में रहने रूप बंध का आश्रय भूत कारण स्वरूप धाम है। मिथ्या भाव, विषय कषाय आदि क्रिया-कलापों एवं परिणामों से आत्मा में अशुभोपयोग की उत्पत्ति होती है जिससे आत्मा में अशुभ असाता आदिक पापकर्मों का थमना-ठहरना होता है यही बंध है। यहाँ शुभ और अशुभ दोनों ही भावों से कर्मबंध होता है, यह स्पष्ट किया। अब ग्रंथकार कहते हैं कि शुभ-अशुभ दोंनो ही परिणामों के हट जाने पर अर्थात् आत्मा में उनकी उत्पत्ति नहीं होंने पर ही शुद्धोपयोग होता है। तथा शुद्धोपयोग के होंने पर अपना एक शुद्ध आत्मा ही राम अर्थात् परमात्मा भासित होने लगता है। मतलब यह है कि शुद्धोपयोग के होने पर साधक को अपनी ही वीतरागी, शुद्ध और परम एकत्व स्वभावी आत्मा का अनुभव होने लगता है।

आगे सुभोपयोग का स्वरूप कहैं हैं।

(कवित्त छंद)

जो अरिहंत और सिद्धनि कौ
देखे निज स्वरूप अरू आनैं।
आचारज उवझाय साधु[2] को
तैसैं ही स्वभाव[3] पहिचानै॥
जीव समस्त देखि तिनि काजैं
दया भाव उर अंतर आनै।

---

* उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि॥(प्र.सा. गाथा-१५६)

१. 'दूसरौ न और' ख प्रति में। २ 'साध' क प्रति में। ३. 'स्वरूप' ख प्रति में।

सुभ उपयोग को सु यह लछन[1]
ग्रंथ उक्ति संछेप बखानैं ॥११२॥*

अर्थ :– जो जीव अरिहंतों और सिद्धों को उनके अपने वीतरागता एवं सर्वज्ञता से अथवा अनंत दर्शन-ज्ञान-चारित्र सुख स्वरूप से जानता देखता है तथा आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों को भी उनके ही समान बनने के स्वभाव वाला मानकर उनकी पहिचान करता है। एकदेश वीतरागता आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों में है ही तथा वीतरागता के पूर्ण होने पर सर्वज्ञता भी अवश्य प्रगटेगी एवं अनंत चतुष्टय की प्राप्ति भी इन्हें होगी - इस रूप में उनकी पहिचान करता है। उनसे कोई लौकिक प्रयोजन साधना नहीं चाहता है। जगत् के समस्त जीवों को देखकर उनके लिये अपने मन में दया-करुणा भाव लाता है तो उस के ऐसे परिणामों को शुभोपयोग कहते हैं अथवा उक्त परिणामों या प्रवृत्तियों को शुभोपयोग का लक्षण समझना चाहिये। कवि कहते हैं कि यह लक्षण हमने तुम्हें संक्षेप से ही सही पर ग्रन्थ की उक्ति (कथनशैली) से ही बताया है।

आगे असुभोपयोग का लक्षिन कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

परिनाम तिन्हिकैं सदा विषैं विकार रूप
क्रोध आदि दैं सु जे कषायनि सौं अटके।
सुनिकैं सु झूंठे ग्रंथ झूंठ उपदेसे पंथ
आरति सु रौद्र ध्यान विषैं तसु घटके॥
क्रिया आदि हांसी विकथादि के निवासी पर
निद्रा मुख भासी सांसी[2] दसा तैं सु लटके।

---

* जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥(प्र.सा. गाथा-१५७)

१ 'लछिन' क प्रति में।

२. 'सांची' ख प्रति में।

निरखौ सदीव ऐसे असुभोपयोगी जीव
दुख की सु दैकैं नीउ[1] जगत् में भटके ॥११३॥*

अर्थ :– जिन जीवों के परिणाम सदा विषय भोगों में लगे रहते हैं। जो क्रोधादि विकार रूप कषाय परिणामों में अटके रहते हैं अर्थात् क्रोधादि विकारी भावों में जिनका मन लगा रहता है या हमेशा क्रोधादि कषायों को ही करते रहते हैं। जो झूंठे-असत्य प्ररूपणा करने वाले ग्रंथों को सुनकर झूंठा उपदेश देते हैं तथा झूंठे ही पंथ का प्रचार करते हैं तथा जिनके मन में सदैव आर्त रौद्र ध्यान बने रहते हैं। दूसरों की हंसी मजाक उड़ाने आदि की क्रियाओं में तथा पर सम्बन्धी विकथाओं में मगन रहते हैं अर्थात् उनमें ही जिनका मन बसता रहता है। जो आलस में पड़े रहते हैं या सोते रहते हैं। मुंहफट, बड़बोले या असत्यभाषी होते हैं तथा साँसी दशा अर्थात् फ्रिक-चिन्ता में पड़े रहते हैं या व्यर्थ की चिन्ता कर-करके अधरझूल में लटके रहते हैं वे सब जीव अशुभोपयोगी हैं। कवि कहता है कि इन सभी जीवों को अशुभोपयोगी तथा उनके होने वाले परिणामों को अशुभोपयोग समझना चाहिये तथा यह भी समझ लो कि अशुभोपयोगी जीव अपने दुःख की नींव भरकर ही इस जगत् में भटकते रहते हैं।

आगे परद्रव्य संजोग के कारन जू है सुभासुभ भाव तिनके नास का कारन दिखावैं हैं।

(कुंडलिया)

स्वपर[2] विवेकी[3] हौं सु मैं ग्यान स्वरूप सदीव।
सुद्धभाव करि अनुभवौं सुद्ध स्वरूप सु जीव ॥
सुद्ध स्वरूप सु जीव सुभासुभ भाव न मेरौ।
अपनौं रसु दै करि सु आपु खिरि जात सवेरौ ॥

---

* विसयकसाओ गाढ़ो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥(प्र.सा. गाथा-१५८)

१. 'नीव' ख प्रति में। २ 'सुपर' ख प्रति में। ३. 'विवेखी' क प्रति में।

तार्थें मैं[1] मध्यस्तर हौहि थिरता सु न देखी।
करनहार निज ध्यान कौ सु मैं स्वपर[2] विवेकी[3] ॥११४॥*

अर्थ :– मैं सदा स्व-पर विवेकी हूँ। मेरा स्वरूप भी सदा ज्ञान ही है। शुद्ध स्वरूप जीव ही मैं हूँ जिसका अनुभव मुझे शुद्धभावों से होता है। जीव का जो शुद्धस्वरूप है वही मेरा है, शुभाशुभ भाव मेरा नहीं है पूर्व में बंधे हुये शुभाशुभकर्म अपना रस अर्थात् फल देकर अपने आप खिर जाते हैं कर्म के उदय या फल में मैंने कभी भी स्थिरता नहीं देखी है उनकी दशा तो ऐसी ही होती है इसलिये मैं शुभाशुभ कर्मों के फल में मध्यस्थ व उदासीन हूँ शुभाशुभ कर्मों की मुझे अपेक्षा नहीं है मैं तो अपने स्वरूप का ध्यान करने वाला स्वपर विवेकी आत्मा हूँ। इस प्रकार स्व पर विवेक द्वारा ही अपने निज आत्मा के शुद्धस्वरूप का निर्णय कर एवं उसे ही अपनी बुद्धि में लेकर उसी के अनुभव को अर्थात् निज ध्यान को शुभाशुभभावों के नाश का कारण जानना चाहिये।

आगे सरीरादि परद्रव्य विषैं मध्यस्त भाव दिखावैं हैं।

(छप्पय)

तनमन वचन स्वरूप मैं न वे रूप न मेरो।
'उपादान कारन सु मैं न करता तिनि केरौ॥'[4]
मैं न करावनहार पुनि सु जोगनि कौं तीनों।
मो विनु तन मन वचन भाव पुद्गल करि कीनौं॥
तिनि जोगनि करिवे की सकति पुद्गल पिंड विषैं कही।
तार्थें मध्यस्तर हौं सु मैं दरव अचेतन सौं सही ॥११५॥**

अर्थ :– तन (शरीर), मन और वचन का जो स्वरूप है। वो मैं नहीं हूँ, वे सब मेरे हैं भी नहीं। मैं तो अपना ही उपादान कारण हूँ इसलिये उनका कर्त्ता भी

---

* असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्ज मज्झत्थोहं णाणप्पगमप्पग झाए॥(प्र.सा. गाथा-१५९)

** णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्ताणं॥(प्र.सा. गाथा-१६०)

१ ख प्रति में नहीं। २. 'परम' ख प्रति में। ३. 'विवेखी' क प्रति में। ४. यह पंक्ति क प्रति में छूट गई है।

मैं नहीं हूँ। मैं उन तीनों योगों अर्थात् मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग का करानेवाला भी नहीं हूँ। मन-वचन और काय की क्रियायें मेरे बिना पुद्गलों द्वारा ही की गयी हैं; अतः पुद्गल ही उनका कर्ता है, मैं नहीं। उन मन वचन काय सम्बन्धी योगों को करने की शक्ति पुद्गल पिण्ड में ही कही गयी है। इसलिये निश्चित ही मैं अचेतन पुद्गल द्रव्य के प्रति मध्यस्थ या उदासीन हूँ।

(दोहरा)

मैं न नैन तन कान पुनि[1] घ्रान वैन मनु हैं न।
ग्यान प्रान गन जान पन लीन तीन गुन ऐंन।।११६।।

अर्थ :– मैं आँख नाक कान आदि इन्द्रियाँ नहीं हूँ और न ही मेरे मन-वचन-काय हैं। आत्मा के जो असली प्राण हैं वे ज्ञान रूप चैतन्य प्राण ही हैं। ज्ञान का स्वभाव जाननपना है तथा आत्मा को सही जानने से ही उसका सही श्रद्धान एवं सम्यक्ज्ञान होता है फिर उसी में लीनता रूप सम्यक् चारित्र होता है। इसप्रकार मैं जाननपने के कारण ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप आत्मा के तीनों गुणों से परिपूर्ण हूँ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ऐंन (पूर्ण रूप से) भरा हुआ हूँ।

आगे इन सरीर वचन मन कौं निश्चै करि परद्रव्य दिखावैं हैं।

(चौपई छंद)

तन मन वचन जोग ये तीन्हों जड़ पर दरव स्व रूप सु चीन्हौ[2]।
पुद्गल परमानू अविभागी तिनके लखौ पिंड बड़भागी।।११७।।*

अर्थ :– तन (काय), मन (चित्त), वचन (वाणी) ये तीनों योग जड़-पुद्गल हैं अतः उन्हें परद्रव्य के रूप में ही पहिचानना चाहिये। जो अविभागी पुद्गल परमाणु हैं उन्हीं पुद्गल परमाणुओं के मेल से बने बड़े पिण्ड रूप स्कन्ध ही ये तीनों हैं इसमें कोई संशय नहीं है। शरीर आहार (उदार-स्थूल)

---

* देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाण।।(प्र.सा. गाथा-१६१)

१ 'सु न' ख प्रति में। २. 'चीनौ' ख प्रति में।

वर्गणाओं का पिण्ड है, मन मनोवर्गणाओं का पिण्ड है एवं वचन भाषा वर्गणा रूप पिण्ड के परिणमन से उत्पन्न होता है।

आगे आतमा कौं 'परद्रव्य का अभाव और'[1] परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

चेतनि द्रव्य सु मैं न अचेतन
पुग्गल भाव जुदौ निरवारौ।
सूछम जो तन की परमानूं
यकौ[2] यह पिंड कियौ न हमारौ॥
मैं तिहि तैं निज ग्यान स्वरूप
सरीरमई सु विकार तैं[3] न्यारौ।
पुग्गल द्रव्य स्वरूप सु देह न
मैं तिहि कौं उपजावनहारौ॥११८॥*

अर्थ :– मैं तो चेतन द्रव्य हूँ, अचेतन पुद्‌गलभाव मुझसे जुदा-पृथग्भूत है। इसलिये उससे मैंने अपना बचाव कर लिया अतः उसे दूर कर दिया है। मेरा जो शरीर है वह पुद्‌गल के सूक्ष्म परमाणुओं का किया हुआ है, हमारे द्वारा नहीं बनाया गया है। उसके कर्त्ता हम नहीं हैं। इसलिये मैं तो अपने ज्ञान स्वरूप ही हूँ तथा शरीरमयी पुद्‌गल विकारों या विकारी भावों से न्यारा हूँ। पुद्‌गल द्रव्य के स्वरूप वाला जो यह देह पिण्ड है वह मैं नहीं हूँ और मैं उनको अर्थात् शरीरादि को उपजाने वाला अर्थात् बनाने वाला भी नहीं हूँ।

आगे परमानूं द्रव्यनि के विषैं किस प्रकार बंध पर्जाय हो है यह संदेह मिटावैं हैं[4]।

---

* णाह पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोहं कत्ता व तस्स देहस्स॥(प्र.सा. गाथा-१६२)

१. क प्रति में नहीं है। २. 'अकौ' क प्रति में।
३. 'थैं' ख प्रति में। ४. 'दूर करे हैं' ख प्रति में।

(छप्पय)

पुदगल परमानू महा सूछम[1] अविभागी।
एक प्रदेसी रहित दोइ परदेस सु नागी।।
अप्रदेसी तातैं असब्द सो सुद्ध कही है।
रूखे अरू चीकनैं भाव संजुक्त सही है।।
तिहि सौं परमानू और सौं दोइ आदि लै बंध है।
तातैं तन पिंड प्रदेस बहु विधि परकार सु बंध है।।११९।।*

अर्थ :– पुद्गल परमाणु अति सूक्ष्म, अविभागी, एक प्रदेशी, दो आदि प्रदेशों से रहित, नागी अर्थात् अग्र पृष्ठभाग (आगे-पीछे) के भेद से रहित अप्रदेशी है इसलिये अशब्द भी है। ऐसी पुद्गल की शुद्ध सत्ता कही गयी है। इस प्रकार पुद्गल की शुद्ध व्यंजन पर्याय परमाणु है। रूखे (रूक्ष) और चीकने (स्निग्ध) भावों से संयुक्त है। ऐसे एक परमाणु का अन्य दूसरे परमाणु से बंध तब हो सकता है जब उन दोनों में या तदधिक परमाणुओं में अजघन्य स्निग्ध या रूक्ष गुण होते हैं अर्थात् दो तीन आदि स्निग्धता या रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेद उनमें मौजूद हों; अकेला एक ही अविभागीप्रतिच्छेद न हो। ऐसे अजघन्य गुण परमाणुओं का अपने से दो अधिक गुण वाले परमाणुओं के साथ बंध होता है। इस प्रकार पुद्गल परमाणुओं के बंध स्वभाव से बहुप्रदेशी पुद्गल स्कन्धों का भी बहुत प्रकार से परस्पर बंध होता रहता है।

आगे परमानू कैं स्निग्ध रूखेस गुन कैसे हैं, यह कथन।

(कवित्त छंद)

परमानू सू एक तैं लै करि
बढ़ती एक एक की आसु।
चिकनाई तथापि रूछसता
अधिक अधिक मंडित भरजासु।।

---

* अपदेसो परमाणु पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणु भवदि।।(प्र.सा. गाथा-१६३)

१. 'सूक्ष्म' ख प्रति में।

चिकनता सु रूछसता[1] जामैं
सक्ति अनेक परिनमन वा[2] सु।
वधै एक तैं जब तांई लौं
भेद अनंत होंहि तिनि का सु ॥१२०॥*

अर्थ :– परमाणु परिणमनशील होंने से परिणाम वाला परिणामी तो है ही परमाणुओं में परस्पर भिन्नता भी है क्योंकि हर परमाणु में उनके शक्त्यंश - अविभागी प्रतिच्छेद भिन्न-भिन्न होते हैं। यहाँ बंध में कारणभूत स्निग्धता-रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेदों की अपेक्षा कथन है। परमाणु में एक से लेकर बड़ती चिकनाई या रूक्षता अधिक-अधिक होकर बढ़ती जाती है तो परमाणु उससे मंडित होता है। स्निग्धता या रूक्षता जिस परमाणु में है उसकी वह स्निग्धता या रूक्षता शक्ति के भेद से नानाविध रूप से परिणमन भी करती है। किसी परमाणु में उसकी स्निग्धता या रूक्षता एक शक्त्यंश की बढ़ती से लेकर तब तक बढ़ती रह सकती है जब तक उसके अर्थात् स्निग्धता या रूक्षता के भेद अनंत पर्यन्त होते रहते हैं।

आगे किस जाति के स्निग्ध रूखे गुन के परिनामतैं बंध हो है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

चीकनै सु रूखे गुन दोइ परमानूं विषैं
जामैं अंसभेद और जो अनंत सोइ है।
दोइ अंस की सु परमानू सौं सु दोइ दोइ
अंस अधिकारी परमानू बंध होइ है॥
तीन अंस आदि परमानू सौं सु तैं ही भांति
वधै परमानू सो सिवाय[3] अंस दोइ है।
एक अंस विना दोइ अंस सौं सु बंध कह्यौ
बंध एक अंस सौं जघन्य सौं न कोइ[4] है॥१२१॥**

---

* एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥(प्र.सा. गाथा-१६४)

** णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदि परिहीणा ॥(प्र.सा. गाथा-१६५)

१. 'सूक्ष्मता' ख प्रति में। २. 'व' ख प्रति में। ३. 'सिवा हि' क प्रति में। ४. 'कोय' ख प्रति में।

अर्थ :– परमाणुओं में स्निग्धता और रूक्षता ये दोनों ही गुण होते हैं जिनमें अंसभेद अर्थात् शक्त्यंश (अविभागी प्रतिच्छेद) की अपेक्षा से भेद भी होता है, यह भेद अनंत पर्यन्त जानना चाहिये। दो आदि अंश वाले परमाणुओं से दो दो अधिक अंश वाले परमाणुओं का बंध होता है। तथा तीन आदि अंश वाले परमाणुओं से भी दो-दो अधिक अंश वाले परमाणुओं का बंध उसी भांति होता है। वह परमाणु ही बंध का अधिकारी है जो एक शक्त्यंश के अलावा दो-तीन आदि शक्त्यंश वाला होता है क्योंकि एक शक्त्यंश परमाणु के विना दो आदि शक्त्यंश वाले परमाणुओं का ही परस्पर बंध होता है; ऐसा जिनागम में बताया गया है। यह निश्चित है कि एक अंश वाले जघन्य शक्त्यंश परमाणु का किसी के साथ भी बंध नहीं होता है, यह नियम जानना।

आगे इस प्रकार बंध हो है सो कहैं हैं।

(छप्पय)

परमानू इक मांहि चीकणै अंस दोइ गुन।
चारि अंस दूसरे[1] सौं सु तसु बंध होहि पुन।।
चारि अंस इक मांहि चीकनै एक विषैं षटु।
तौ तिनिकौ पुनि बंध होहि करिकैं सु एक ठटु।।
इक मांहि अंस वसु चीकनै एक मांहि दस मानियै।
तिनि आदि बंध दो दो अधिक लै अनंत लौं जानियै।।१२२।।*

अर्थ :– जब एक परमाणु में चिकनाई (स्निग्धता) के दो शक्त्यंश रूप गुन है तथा दूसरे परमाणु में चार शक्त्यंश हों तो ही उनका परस्पर बंध हो जाता है। चार अंश स्निग्धता वाले एक परमाणु में और छह शक्त्यंश वाले दूसरे परमाणु में परस्पर एक ठाठ-एक रस-एकमेक रूप होकर बंध हो जाता है। एक परमाणु में स्निग्धता के आठ अंश हैं और दूसरे परमाणु में दस अंश हैं तो उनमें बंध हो जाता है। तथा इसीप्रकार अजघन्य अंश परमाणु के सिवाय

* णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बन्झदि पंचगुणजुत्तो।।(प्र.सा. गाथा-१६६)

१. 'दूसरी' दोनों प्रति में।

किसी भी परमाणु का उससे दो अधिक शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बंध हो जाता है। यह बंध परम्परा अपने से दो-दो अधिक शक्त्यंशों वाले परमाणुओं को लक्षित करके अनंत शक्त्यंशों वाले परमाणुओं तक यथानियम चलती रहती है।

(छप्पय)

परमानू इक तीनि अंस रूखी सु बताई।
पांच अंस रूखी सु एक तिहि सौं बधि जाई॥
पांच अंस रूखी सु एक जुत अंस[1] सात करि।
तौ इनि दौ सौं बंधु आपतैं आप जाइ परि॥
परमानू इक नव अंस है एक अंस ग्यारह सही।
रूषी कौ रूषी सौ सु पुनि बंध होहि इहि विधि कही॥१२३॥

अर्थ :- एक परमाणु में तीन अंश रूक्षता बताई है तो वह पांच अंश रूक्षता वाले एक परमाणु से बंध को प्राप्त हो जाता है। पांच अंश रूक्षता वाला परमाणु सात अंश रूक्षता वाले परमाणु से एक जुट हो जाता है तो इन दोनों से बंध तो अपने आप हो जाता है। एक परमाणु नौं अंश वाला है और एक ग्यारह अंश वाला है तो उनके परस्पर बंध हो जाता है। इस प्रकार रूक्ष शक्त्यंश परमाणु का रूक्ष शक्त्यंश परमाणु के साथ बंध की विधि कही गयी है।

(दोहरा)

इहिविधि भेद अनंत लौं अंस ये सु बढ़ि दोइ।
बधे चीकनी[2] सौं सु पुनि आनि चीकनी सोइ॥१२४॥
रूषी रुषिनि कौं सु पुनि जैं ही विधि करि बंध।
रूषी अरु फिरि चीकनी कौं सु होहि असबंध॥१२५॥

अर्थ :- इस विधि से अर्थात् २-२ अंश बढ़ते हुये क्रम से अनंत अंश तक बढ़े हुये किसी भी चीकने (स्निग्ध) परमाणु से किसी दो अंश हीन परमाणु का बंध होने पर हीन शक्त्यंश परमाणु के शक्त्यंश भी तदधिक शक्त्यंश

१. 'जुतंस' ख प्रति में। २. 'चीकनैं' ख प्रति में।

परमाणु के समान चीकने (स्निग्ध) हो जाते हैं। ऐसे ही रूखे परमाणु से बंध होने पर हीन शक्त्यंश वाला अन्य परमाणु रूक्ष रूप हो जाता है। इस प्रकार वह बंध करके रूक्ष रूप हो जाता है, फिर पुन: बंध करके स्निग्ध रूप हो जाता है अर्थात् किसी द्व्यधिक स्निग्ध गुण स्कन्ध के स्निग्ध गुण स्कन्ध का रूक्ष गुण स्कन्ध के साथ बंध होता है तो अधिक गुण वाले स्कन्ध के स्निग्ध गुण रूप ही परिणाम बंध प्राप्त रुक्ष-स्कन्ध का भी हो जाता है, ऐसा नियम जानना।

(छप्पय)

दोइ अंस रूखी सु एक परमानू सो है।
चारि अंस चीकनी बंध जासौं पुनि हो है।।
चारि अंस चीकनी अंस षट् रूछसताई[1]।
जासौं बंध कह्यौ अनंत तालौं समुझाई।।
परमानू दोई विषैं सु जौ अंस बराबरि एक ही।
तिन्हि सौं सु बंध नांही[2] कही जिन आगम में सही।।१२६।।

अर्थ :– दो अंश रूक्ष गुण एक परमाणु है सो वह चार अंश स्निग्ध गुण परमाणु से बंध को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही चार अंश स्निग्धगुण परमाणु छह अंश रूक्ष गुण परमाणु से बंध जाता है। इस प्रकार दो-दो अधिक बढ़ाकर अनंत गुण पर्यन्त परस्पर बंध होता है, यह समझ लेना चाहिये। दो परमाणु जिनमें बंध होना है यदि उनके रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण के शक्त्यंश बराबर हैं तो उनमें परस्पर बंध नहीं होगा, यह बात जिनागम में स्पष्ट रूप से कही गयी है।

(दोहरा)

एक अंस अधिकी जु है परमानू सौं और।
एक तीन दो अंस सौं नहीं बंध कौ ठौर[3]।।१२७।।

अर्थ :–ऐसा कोई परमाणु जिसमें एक अंश स्निग्ध या रूक्ष गुण है तो वह एक अंश, तीन अंश, दो अंश आदि कितने ही स्निग्ध या रूक्ष गुण वाले किसी भी परमाणु के साथ नहीं बंधता है। उसके बंध का कोई ठौर-ठिकाना नहीं है।

---

१. सूछसताई क प्रति में तथा सूक्ष्मताई ख प्रति में। २. 'नाना' ख प्रति में। ३. 'तौर' ख प्रति में।

आगे आतमा कैं पुद्गल पिंड के कर्तृत्व का अभाव दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

दोइ तीनि चारि आदि जो अनंत परकार
परमानू की सु परजाय बंध थाति[1] है।
आपनैं सचिक्कन तथापि रूखे परिनाम
की सु जोग्यता सौं जाकी भई उतपाति है॥
मही जल तेज वाउ[2] चीकने सु रूखे भाव
परिनाम तैं सु थूल सूछम सु जाति है।
पुग्गलीक बंध परजाय तैं भयै सु खूटे
चार खूटे[3] गोल आदि दै अनेक भांति है॥१२८॥*

अर्थ :– दो, तीन, चार आदि अनंत प्रकार के शक्त्यंश गुण वाले जो परमाणु हैं वे सब बंधपर्याय की थाति यानि शक्ति-सामर्थ्य वाले हैं। उन परमाणुओं की अपने सचिक्कण (स्निग्ध) तथा रूखे (रूक्ष) गुण परिणामों की योग्यता से यथायोग्य बंध की उत्पत्ति मानी गयी है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये पुद्गल स्कन्ध स्निग्ध एवं रूक्ष स्वभाव परिणाम के कारण ही सूक्ष्म या स्थूल जाति के स्कन्ध होते हैं तथा उन्हीं के कारण वे अपनी पौद्गलिक बंध पर्याय में खूटे वाले (दो बिन्दु को मिलाने सदृश), चार खूटे वाले (चतुष्कोण), गोल आदि अनेक भांति से बंध की विशेषता को प्राप्त होते हैं।

आगै आतमा पुद्गल पिंड का प्रेरक नांही यह निश्चय करै हैं।

(सवैया इकतीसा)

सूछम सु थूल रूप आतमा के ग्रहिवै कौं
जोग्य कारमान वर्गना सु पिंड परनै।
न ही अति सूछम न ही अति थूल रूप
तिन्हैं अष्ट कर्म रूप होहिं[4] अनुसरतैं॥

---

* दुपदेसादी खधा सुहमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते॥(प्र.सा. गाथा-१६७)

१. थांति क प्रति में, थात ख प्रति में। २. 'वायु' ख प्रति में। ३. 'चार खुटे' क प्रति में नहीं। ४. 'होय' ख प्रति में।

अैसैं जु है पुग्गल दरब[1] तिन्हि के सु पिंड
भाषा करि देखि जिन आगम मैं वरनैं।
असंख्यात प्रदेसी सु भर्यो आसौं लोकाकास
खाली कहूं एक परदेस सो न भरनैं॥१२९॥*

अर्थ :—आत्मा के कर्मबंध होता है तो कर्म आते कहाँ से हैं इसको लक्ष्य में लेकर कहा जा रहा है कि कर्मपने परिणमन करने योग्य पुद्गल स्कन्ध रूप कार्माण वर्गणाओं को जीव कर्म रूप में ग्रहण करता है। ये कार्माण वर्गणायें असंख्यात प्रदेसी लोकाकास में ठसाठस भरी हैं। एक प्रदेश भी कहीं पर खाली नहीं है भरने के लिये। कवि कहता है कि इस विषय में जिन आगम में जैसा वर्णन है उसे देख-जानकर ही मैं भाषा कर रहा हूँ अर्थात् देशभाषा में कह रहा हूँ। पुद्गल द्रव्य के पिण्ड को जो आत्मा बंध काल में ग्रहण करता है वह सूक्ष्म-स्थूल रूप से विद्यमान कार्माण वर्गणा के पिंड (स्कन्ध) रूप परमाणुओं का परिणमन है; जो न अति सूक्ष्म है और न ही अति स्थूल है ऐसी कार्माण वर्गणाओं के स्कन्ध ज्ञानावरणादि अष्टकर्म के रूप में परिणमित होकर जीव का अनुसरण करने से अर्थात् जीव के ही क्षेत्रावगाह में संश्लेष सम्बन्ध रूप होंने से बंध को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जीव को कर्म बंध के रूप में पुद्गल द्रव्य के पिण्डों (स्कन्धों) का ही संयोग होता है।

आगे पुद्गल पिण्ड कर्म का अकर्त्ता आतमा कौं दिखावैं हैं।

(छप्पय)

जो पुद्गल वरगना के[2] सु जे[3] पिंड लहे हैं।
हूवे[4] कौं वसु कर्म रूप अति जोग्य कहे हैं॥
संसारी जिय की असुद्ध परनति सु पाइ पुनि।
अष्टकर्म तिहि रूप परिनमन होत विषैं उनि॥

---

* ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं॥(प्र.सा. गाथा-१६८)

१ 'दर्व्य' ख प्रति में। २-३ ख प्रति में नहीं। ४. होवे ख प्रति में।

जिय नैं सु परिनवाए नहीं कर्म[1] जोग्य जे खंध हैं।
अपनी स्वसक्ति[2] सौं परिनए आप स्वरूप सुछंद है॥१३०॥*

अर्थ :– पुद्गल द्रव्य रूप कार्माण वर्गणाओं के जो पिण्ड लोक में सर्वत्र मौजूद हैं उन्हें जीव के साथ बंधने वाले अष्टकर्म रूप होने के लिये अत्यंत योग्य कहा गया है। वे कार्माण वर्गणाओं के स्कन्ध संसारी जीव की अशुद्ध परिणति को पाकर उन जीवों में ज्ञानावरणादि अष्ट विध कर्म के रूप में परिणमन कर लेते हैं अर्थात् परिणमित हो जाते हैं। यहाँ जैनाचार्यों का कथन है कि कर्म रूप होने योग्य कार्माण वर्गणाओं के जो स्कन्ध हैं उन्हें कर्म रूप जीव ने नहीं परिणमाया है। वे वर्गणायें अपनी स्वशक्ति से आप ही अपनी तत्समयगत परिणति योग्यता से या अपने भवितव्य स्वरूप से कर्म रूप परिणमने में स्वाधीन हैं।

आगै आत्मा कौं नोकर्म सरीर जाकौ अकर्त्ता दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

द्रव्य कर्म बंध रूप पुग्गल भये ते जे सु
आतमा के परिनाम कौ निमित्त पाइकैं।
तेई पुनि आतमा कौं और परजाय विर्षे
होइ सु सरीराकार उपजे सु आइकैं॥
ताथैं[3] नो करम है सरीर जाकौ करता सु
पुग्गल ही कह्यौ इहि भांति समुझाइकैं।
करतार जीव अपनी सु करतूति कौ है
पुग्गल सुभाव कौ करैया है न जाइकैं॥१३१॥**

अर्थ :– आत्मा के मोह राग द्वेषादि परिणामों का निमित्त पाकर जो कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्ध द्रव्य कर्म रूप से परिणमित आत्मा से बंध

---

* कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइ पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा॥(प्र सा. गाथा-१६९)

** ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
सजायंते देहा देहंतरसकम पप्पा॥(प्र.सा. गाथा-१७०)

१. 'पाक' ख प्रति में। २ 'सु सक्ति' ख प्रति में। ३ 'तातैं' ख प्रति में।

गये, वे ही बंधे हुये नानाविध द्रव्य कर्म उदय में आकर आत्मा को और पर्याय रूप अर्थात् स्वभाव से अन्य रूप विकारी पर्यायों स्वरूप परिणमित होंने में निमित्त होते हैं। आत्मा कर्मों के निमित्त से शरीराकार अवश्य होता है पर आत्मा का शरीराकार संकोच विस्तार उसके प्रदेशत्व गुण के अपने परिणमन के अनुसार ही होता है कर्म आत्मा के शरीराकाररूप परिणमन का कर्त्ता नहीं है। तथा शरीर के बनने में पौद्गलिक नामकर्म का उदय निमित्त होता है और शरीर के पुद्गल स्कंध स्वयं अपनी योग्यता से उस रूप परिणमित होते हैं। अत: नोकर्म रूप शरीर का कर्त्ता स्वयं पुद्गल ही है जीव नहीं, जीव तो निमित्त मात्र है। यह बात यहाँ इस प्रकार समझा कर कही गयी है कि पुद्गल कर्मों का कर्त्ता पुद्गल और जीव परिणामों का या आकारादि रूप जीव के परिणमन का कर्त्ता जीव है एक दूसरे में एक दूसरे निमित्त अवश्य हैं; कर्त्ता नहीं। यही स्पष्ट करते हुये कवि कहते हैं कि जीव अपनी ही करतूति-कार्य परिणति का कर्त्ता होता है। वह पुद्गल स्वभाव का करैया अर्थात् करने वाला नहीं है।

आगे आतमा कै पंच सरीर का अभाव दिखाइये हैं।

(कवित्त छंद)

नरु अरु पुनि तिरजंच जे
तिनि कौ औदारिक सरीर है सोई।
देव अवर नारक संबंधी
तन वैक्रियक ये सु पुनि दोई॥
सो सुभ असुभ है सु तैजस
तन आहारक सु पोतला होई।
अष्टकर्म मय कारमान वपु
जिय कौ निज सुभाव सु न कोइ॥१३२॥*

अर्थ :– जो मनुष्य और तिर्यञ्च जीव हैं उनका औदारिक शरीर होता है तथा देव और नारकी जीवों का वैक्रियक शरीर होता है। तैजस शरीर शुभ एवं

* ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ।
आहारय कम्मइयो पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे॥(प्र.सा. गाथा-१७१)

अशुभ के भेद से द्विविध होता है। आहारक शरीर सप्तधातु रहित श्वेत पुतला होता है; जो ऋद्धिधारी मुनि के ही होता है। ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के शरीर को कार्माण शरीर कहते हैं। ये पाँचों शरीर पुद्गलमय हैं इनमें से कोई भी जीव का अपना स्वभाव नहीं है।

आगे जीव की सरीरादि परद्रव्यतैं भिन्न सुद्धस्वरूप और विषैं न पाइये है यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

जाकैं पंच रस नांही पंच ही वरन नाहीं
दुविध प्रकार जाकैं गंध सो न आनियै।
आठ ही सपर्स गुन नाहीं सो स्वरूप गुप्त
ग्यान और दर्शन मई[1] सु[2] पहिचानियै॥
सब्द पर्जाय नय[3] सुभाव जाकौ निश्चैकरि
पुग्गलीकी चिन्ह करि ग्राहज[4] न मानियै।
सवइ[5] संस्थानि[6] विना निराकार सुद्ध रूप
भैया भव्य[7] ऐंसो जीव द्रव्य ताहि जानियै॥१३३॥*

अर्थ :– जिसके स्वभाव में पांच रस नहीं हैं, पांच रूप नहीं है, तथा दो प्रकार की गंध जिसके अन्दर नहीं आती है, आठ प्रकार का स्पर्श गुन जिसमें नहीं है तथा जो अपने स्वरूप में गुप्त ज्ञान दर्शन स्वभाव मय है उसे ही जीव पहिचानना चाहिये। निश्चित ही जिसके स्वभाव के ग्राहक पौद्गलिकी शब्द पर्याय या चिन्ह विशेष नहीं हैं। सभी संस्थानों से रहित निराकार शुद्ध रूप जो जीव का स्वभाव है हे भैया! भव्य जीव तुम उसे ही जीव द्रव्य जानो।

आगै कोई प्रस्न करै है कै अमूर्तीक आतमा कैं स्निग्ध रूछस गुन का अभाव है तार्थें कैसै हो है यह कथन।

---

* अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसंठाण॥(प्र.सा गाथा-१७२)

१. 'मयी' ख प्रति में। २. ख प्रति में नहीं। ३. 'नै' क प्रति में। ४. 'ग्रहज' ख प्रति में। ५. 'सवै' ख प्रति में। ६. 'सथान' क प्रति में। ७. 'भय' क प्रति में।

(कवित्त छंद)

पुग्गलखंध वा सु[1] परमानू
विषै गुन[2] सु वरनादिक[3] चार।
पुनि चीकनैं परसपर रूखे
अंसनि सौं सुबंध निरधार॥
पुग्गल के सु चीकनैं रूखे
गुन करि रहित आतमा सार।
पूछत सिष्य वरगना पुद्गल
बांधै जीव कौन परकार॥१३४॥*

अर्थ :– पुद्गल स्कन्ध हो अथवा परमाणु हो, उसमें वर्णादिक चार गुण पाये ही जाते हैं तथा उनमें स्पर्श गुण के स्निग्धता-रूक्षता अंशों से परस्पर बंध का निर्धारण होता है। जिनसे बंध होता है ऐसे स्निग्धता-रूक्षता रूप शक्त्यंश पुद्गल के ही होते हैं और आत्मा इन गुणों से रहित ही होता है। जब ऐसा है तो फिर शिष्य पूछता है कि आत्मा में स्निग्धता-रूक्षता है ही नहीं तो फिर पुद्गल कार्माण वर्गणा को जीव कौन प्रकार से बाँध सकता है।

गुरु उत्तर कहै हैं।

(छप्पय)

जीव अमूरतिवंत गुन सुवरनादि रहित है।
वरनादिक गुन घटपटादि पुद्गल सु सहित है॥
गुन घट पटनि विषैं सुपेत पीतादि बखानैं।
विकलपता करिकैं तिन्हैं सु देखैं अरु जानैं॥
परकार सु इहि पुद्गल दरव बधै जीव सौं जाइकैं।
तुम सिष्य सुनौ उत्तर सु यह कहै सुगुरु समुझाइ कैं॥१३५॥**

---

* मुत्तो रूवादि गुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गल कम्मं॥(प्र सा. गाथा-१७३)

** रुवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रुवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बधो तेण जाणीहि॥(प्र.सा. गाथा-१७४)

१ 'वायु' ख प्रति में। २. ख प्रति में नहीं। ३ 'सवरनादिक है' ख प्रति में।

अर्थ :—जीव अमूर्त्तिक है तथा वर्णादिक गुणों से रहित है। घट पटादिक पुद्गल हैं तथा वे ही वर्णादिक गुण सहित हैं। यह श्वेत है या पीत है तथा यह वस्त्र सफेद या पीला इस प्रकार वर्णादिक गुण घट-पट रूप पुद्गल स्कन्धों में कहे जाते हैं क्योंकि अमूर्त्तिक आत्मा उन्हें (घट-पट को) श्वेत पीतादिक के भेद करके जानता-देखता है। यहाँ गुरु शिष्य को समझाकर कह रहे हैं कि हे शिष्य तुम अब अपना उत्तर सुनो। उत्तर यह है कि जिसप्रकार अमूर्त्तिक आत्मा वर्णादि गुण सम्पन्न पुद्गल को जानता है उसी प्रकार अमूर्त्तिक आत्मा वर्णादि गुणवाली कार्माण वर्गणाओं से बंध भी जाता है।

आगे भावबंध का स्वरूप कहैं हैं।

(कवित्त छंद)

देखैं जिहि प्रकार अरु जानैं
गुन सुजीव उपयोग अनूप।
सो पुनि विविधि पाइ इंद्रिन के
विषय इष्ट अनइष्ट[1] स्वरूप।
मोही तिन्हि विषैं सु पुनि रागी
दोषी होहि करि सु बहूरूप।
तिनही राग दोष भावनि करि
बूडत विषैं बंध के कूप॥१३६॥*

अर्थ :—जीव अपने अनुपम उपयोग गुण से जिस प्रकार जानता देखता है उसीप्रकार वह फिर अनेकविध इन्द्रिय विषयों को जानता देखता हुआ इष्ट अथवा अनिष्ट भावों को करने लगता है तो वे इन्द्रिय विषय ही इष्ट अथवा अनिष्ट स्वरूप वाले कहे जाते हैं। मोही अर्थात् मूढ़ जीव उन इन्द्रियों में रागी-द्वेषी होता रहता है और नाना प्रकार के राग-द्वेष-मोह के परिणाम करता रहता है तथा उन्हीं राग-द्वेषादि भावों से विषय भोगों में डूबता हुआ बंध के कूप में पड़ जाता है।

---

* उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बंधो॥(प्र.सा. गाथा-१७५)

१. 'अनिष्ट' ख प्रति में।

आगे भावबंध कैं अनुसार द्रव्यबंध कौ जगमांहि स्वरूप कहै हैं।

(सवैया इकतीसा)

तेई राग भाव और दोष भाव मोह भाव
याही लोक माहि ये सु तीन हु[1] अधर्म सौं।।
आये जे सु इंद्रिनि विषैं अनिष्ट इष्ट भाव
तिन्हि कौं विलोकैं जानैं महा[2] अति मर्म सों।।
देखि जानि तिनही स्वरूप होकैं परिनवै।
रागादिक तिसही विभाव ताकै मर्म सौं।।
सोई भाववंध कौ[3] निमित्त पाइ बंधै जीव
ग्यानावरनी जु आदि दै सु अष्टकर्म सौं।।१३७।।*

अर्थ :– जीव के जो ये राग भाव, द्वेष भाव, मोह भाव हैं सो लोक में वे तीनों अधर्म कहे जाते हैं तथा संसारी जीवों में वे तीनों भाव अधर्म के कारण ही उत्पन्न होते हैं। जीव को अपने पुण्य-पाप कर्म के उदय अनुसार जो जो इन्द्रिय विषय प्राप्त होते हैं वह उनमें इष्ट या अनिष्ट भाव करके ही उन्हें जानता है और अत्यधिक मूढ़ता या महाभ्रम के कारण उन्हें अच्छा बुरा या सुख-दु:ख रूप मानने लगता है। तथा उन इष्ट-अनिष्ट पदार्थों को ही जानकर वह उनके ही स्वरूप होता हुआ अर्थात् इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से उनमें सुख दु:ख मानता हुआ रागादिक विभाव परिणाम करता रहता है उन्हीं विभाव परिणामों के मर्म से अर्थात् रागादि की मन्दता-तीव्रता रूप ताकत से वह भावबंध स्वरूप होता है। इस प्रकार भाव बंध का निमित्त पाकर ही अर्थात् निमित्तपने भावबध स्वरूप जीव ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों से बंधता रहता है।

आगे पुद्गल कर्म का बंध पुद्गल कर्म सौं हो है जीव का बंध असुद्ध रागादि भावनि सौं है अरु आत्मा पुद्गल इनि का बंध तीनि भांति कौ हो है यह कथन।

---

*भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो।।(प्र.सा गाथा-१७६)

१ 'ही' ख प्रति में। २ 'मह' ख प्रति में। ३. 'कैं' ख प्रति में।

(सवैया इकतीसा)

पुग्गलवर्गनानि कौ सु बंध जे सपर्स गुन
 गुन[1] के सु भेद चीकनैं सु रूखे भाव सौं।
जीव कौ सु बंध कह्यौ वीतराग देव जू नैं
 राग द्वेष और मोह भाव के उपाव सौं॥
परस्पर जीव कर्म कौ सुबंध परिनाम
 दोऊ कौ निमित्त पाइ होइ उर झावसौं॥
पुग्गल वरगना कौ बंध जीव कौ सु बंध
 जीवकर्म बंध ऐसौ कह्यौ तीनि दाव[2] सौं॥१३८॥*

अर्थ :– वीतरागी जिनेन्द्र देव ने कहा है कि पुद्गल वर्गणाओं का बंध उनके स्पर्श गुण के भेद स्निग्धता-रूक्षता के शक्त्यंश रूप भाव के कारण होता है तथा जीव को जो भाव बंध होता है वह उसके मोह-राग-द्वेष रूप परिणामों के उपाय से होता है। तथा जीव और कर्म का परस्पर जो बंध परिणाम है वह दोनों का ही निमित्त पाकर परस्पर संश्लेष रूप उलझाव-संयोग से ही होता है। इस प्रकार यहाँ तीन प्रकार का बंध बताया है - १. पुद्गल वर्गणाओं का परस्पर बंध २. जीव का विभाव परिणाम रूप भाव बंध तथा ३. जीव और कर्म का परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध सहित एक क्षेत्रावगाह स्वरूप संश्लेषात्मक बन्ध।

आगे द्रव्य बंध का कारन भाव बंध दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

जीव है सु असंख्यात प्रदेसी प्रमान लोक
 जहाँ[3] तनपिण्ड वर्गना सु अनुसरै हैं।
मन वचन काय वर्गनानि के सु अवलंब
 करिकैं प्रदेस परिनाम थरहरै हैं॥

---

*फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो॥(प्र.सा. गाथा-१७७)

१ दोनों प्रति में नहीं। २. 'दाउ' क प्रति में। ३. 'जही' दोनों प्रतियों में।

तिनही सु माफिक प्रदेसनि विर्षं सु जिन्हि
कर्म वर्गना सु आइकैं प्रवेस करैं हैं।
बंधै एक राग दोष मोह के सु अनुसार
लैकैं थिति आप रस दैकैं खिरि परैं हैं॥१३९॥*

अर्थ :– जीव असंख्यात प्रदेशी है लोक भी असंख्यात प्रदेशी है। जहाँ जीव पुद्गल पिण्ड रूप वर्गणाओं का ही अनुसरण करता है। संसारी जीव के मनोयोग वचोयोग और काययोग होने पर जीव को क्रमशः मनो वर्गणा, भाषावर्गणा और आहार वर्गणा का अवलम्बन लेना पड़ता है मन-वचन-काय की क्रिया से आत्म प्रदेशों का परिस्पन्दन भी होता है जिससे बंध होने के लिये माफिक अनुकूल आत्मा के प्रदेशों में कर्म वर्गणायें आकर प्रवेश कर लेती हैं अर्थात् परस्पर प्रवेशानुप्रवेशात्मक रूप बंध को प्राप्त हो जाती हैं। उस समय जीव के जैसे मोह-राग-द्वेष के परिणाम होते हैं उसके अनुसार ही उनमें अर्थात् कर्म रूप से परिणमित वर्गणाओं में स्थिति बंध एवं अनुभाग बंध हो जाता है। बंधा हुआ कर्म आत्मा में स्थिति बंध पर्यन्त टिका रहता है तथा आबाधाकाल बिताकर फल दे देकर झड़ता चला जाता है।

आगे जातैं द्रव्य बंध का कारन रागादि भाव है तातैं[1] रागादिभाव ही कौं निश्चय बंध दिखावैं हैं।

(चौपही)

''जे जिय राग भाव करि अंधे अष्टप्रकार कर्म करि बंधे।
परनति नहीं राग तिन्हि मांहिं जिन्हिकैं करमबंध सो नांहीं॥१४०॥

(दोहरा)

संसारी जियकैं सु पुनि भावरूप रागादि।
सो असुद्ध उपयोगमय कारन बंध अनादि॥१४१॥**

---

* सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्ग चिट्ठंति हि जंति बज्झंति॥(प्र.सा. गाथा-१७८)

** रत्तो बंधदि कम्म मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंध समासो जीवाण जाण णिच्छयदो॥(प्र.सा. गाथा-१७९)

१ 'तार्थै' ख प्रति में।

अर्थ :– जो जीव रागभाव से अंधे हो रहे हैं उनके लिये आठ प्रकार के कर्मों का बंध होता है। तथा जिनके कर्म बंध नहीं होता है उनकी परिणति में अर्थात् भावों में राग भी नहीं होता है। राग के विना बंध कदापि नहीं होता है इसलिये संसारी जीव को उसका अशुद्धोपयोगमय रागादि भाव रूप परिणाम ही अनादि काल से कर्मबंध का कारण है, यह मान लेना चाहिये।

आगे द्रव्यबंध का कारन जू है परिनाम ताकौं रागादि की विशेषता दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

पुग्गल वरगना[1] स्वरूप द्रव्य बंध सोई
असुद्धोपयोग परिनामतैं सु ठीक है।
परिनाम जो सु राग दोष मोह भाव लियै
जामैं मोह भाव दोष भाव निंदनीक है॥
देव अरिहंत और गुरुनिरगंथ की सु
भक्ति महिं लीन सुभराग की सु लीक है।
विषय कषाय रूप असुभोपयोग भाव
भैया दोउ बंध के[2] करैया तहकीक[3] है॥१४२॥*

अर्थ :– जीव के अशुद्धोपयोग परिणामों से पौद्गलिक वर्गणा स्वरूप द्रव्यकर्म का बंध होता है, सो ठीक ही है। जीव में मोह राग-द्वेष भावों को लिये जो परिणाम होते हैं, वे सब अशुद्धोपयोग हैं उनमें विशेषकर मोह भाव और द्वेषभाव निंदनीय माने गये हैं क्योंकि वे मुख्यतया अशुभभाव रूप ही होते हैं। अरिहंत देव और निग्रंथ गुरु की भक्ति में लीन जीव के परिणाम शुभराग एवं उसकी परम्परा के हेतु होते हैं; शुभोपयोग कहलाते हैं। जीव के विषयकषाय सम्बन्धी परिणाम चाहे कैसे भी हों, अशुभोपयोग ही कहे जाते हैं। शुभोपयोग या अशुभोपयोग रूप दोनों ही परिणाम बंध के करैया अर्थात्

---

* परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुद्धो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो॥(प्र.सा. गाथा-१८०)

१. 'वर्गना' दोनों प्रतियों में। २. ख प्रति में नहीं। ३. 'तहोकीक' ख प्रति में।

कराने वाले हैं। सो भैया ! यह जैन कर्म सिद्धान्त की ही तहकीक यानी शोधमूलक प्ररूपणा है।

आगे बंध का स्वरूप विसेषता संजुक्त जु[1] है सुभभाव[2] और भी बंध विसेषता विना जु है सुद्धभाव इनिकौ कारन विषैं कार्य की उपचार करि कार्ज स्वरूप दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

पंच परमेष्ठी की सु भक्ति आदि परिनाम
जो प्रसस्त राग रूप जाकौ नाम पुन्न है।
जो सरीर इंद्रियादि पर द्रव्य सौं ममत्व
विषैं अनुराग मई पाप सौं जवुन्न है।।
अन्य द्रव्य की प्रवर्त्ति विना वीतराग भाव
आतमीक दूसरो न और छुन्न मुन्न है।
सुद्ध उपयोग वंत मुकति स्वरूप संत
जाकैं पराधीन सुख-दुःख[3] कौ सु सुन्न है ।।१४३।।*

अर्थ :– अरिहंतादिक पंच परमेष्ठियों की सद्भक्ति आदि के प्रशस्त राग रूप जो परिणाम होते हैं उनका नाम पुण्य कहा गया है। तथा शरीर, इन्द्रिय आदि पर द्रव्यों से ममत्व होंना और उसमें ही विशेषानुराग मयी परिणति, चाहे वह रागस्वरूपा हो या द्वेषमूला हो, पाप की सौंज स्वरूप समझौता या इकरार करने-कराने वाली पाप से जुड़ी हुई पुण्य की विपरीत परिणति ही है। पुनश्च, अन्य द्रव्यों या तद्विषयक विकल्पों में प्रवृत्ति हुये विना जो आत्मिक वीतराग भाव होता है जिसमें आत्मा के अलावा अन्य किसी भी कर्म की खुरचन (खुरच कर प्राप्त अवशिष्ट) तक यानी पुण्य पाप की लगार तक नहीं होती, उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। ऐसे शुद्धोपयोग से युक्त शुद्धोपयोगी संत पुरुष, जो मुक्ति पा चुके हैं या पाने वाले हैं अत: मुक्ति स्वरूप हैं,

---

* सुहपरिणामो पुण्ण असुहो पाव ति भणिदमण्णेसु।
परिणामोणण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये।।(प्र.सा. गाथा-१८१)

१ क प्रति में नहीं। २. 'सुभाव' ख प्रति में। ३. 'सुख्य दुख्य' ख प्रति में।

उनके पराधीन सुख दुःख की शून्यता-रहितता होती है। मतलब यह है कि शुद्धोपयोगी संत पुण्य पाप के उदय में होने वाले इन्द्रिय विषयक सुख दुःख से शून्य ही होते हैं।

आगै जीव कैं स्वद्रव्य[1] विषैं प्रवर्त्ति पर द्रव्यतैं निर्वर्ति इसकी सिद्धि कौं निमित्त[2] स्वरूप भेद दिखावै हैं।

(सवैया इकतीसा)

प्रथवी सु पानी आगि वाउ[3] वंसपती और
त्रसकाय जीव छै प्रकार जे जतायै हैं।
अथवा सु[4] थावर तथा सु जीव जंगम हैं
जे तौ तिनही के ये सु करे दो कितायै हैं।।
तेई सब चेतना स्वरूप जीवतैं सु भिन्न
'तन पिण्ड रूप सो अचेतन बतायै हैं[5]''।
जीव द्रव्य निश्चै करिकैं सु तिनितैं सु जुदौ
ग्यान रूप चिन्ह जाके[6] जाही सौं बतायै हैं।।१४४।।*

अर्थ :– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये पाँच स्थावर काय तथा द्वीन्द्रियादि त्रसकाय रूप छह प्रकार के जीव आगम में हमें बताये गये हैं। अथवा उन्हीं संसारी जीवों के स्थावर और जंगम ये दो भेद किये गये हैं। ये सारे जीव चेतना स्वरूप हैं चेतना स्वरूप जीवों से भिन्न जो पृथ्वी आदिक पुद्गल पिण्ड हैं, वे सब अचेतन ही बताये गये हैं। शरीरादि अनेक पुद्गल पिण्ड से जीव द्रव्य निश्चित ही जुदौ है। जिनके ज्ञान स्वरूप चिन्ह प्रगट हैं ऐसे जीव उन पृथ्वी काय आदि में रहते हैं अत: उन्हें उपचार से जीव कहते हैं।

आगे जीव कैं स्वद्रव्य की प्रवर्ति करि भेदग्यान हो है अरू परद्रव्य की प्रवर्ति करि भेद विग्यान का अभाव हो है, 'यह कथन[7]'।

---

*भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो वि य तेहिं दो अण्णो।।(प्र.सा. गाथा-१८२)

१ 'सु द्रव्य' ख प्रति में। २. 'के अर्थ' ख प्रति में। ३. 'अग्न वायु' ख प्रति में। ४. ख प्रति में नहीं।
५. 'तन बताये हैं' इतनी ही पंक्ति है ख प्रति में। ६. 'अके' ख प्रति में है। ७. क प्रति में नहीं है।

(सवैया इकतीसा)

यह लोक के मझार प्रानी जे सु राग दोष
मोह मदिरा की गहलाई सौं भुलानैं हैं।
चेतन अचेतन की ठीक तातैं भिन्न-भिन्न
जीवद्रव्य पुग्गल स्वरूप सो न जानैं हैं॥
चिदानंद रूप सुद्ध नित्य आतमीक भाव
उपादेय अंगीकार करिकैं न मानैं हैं।
[1]'सरीरादि रूप मैं सु मेरे सरीरादि द्रव्य
परिणाम ऐसें जे अलीक उर आनैं हैं' ॥१४५॥*

अर्थ :– इस लोक में प्राय: सभी प्राणी ऐसे हैं जो मोह-राग-द्वेष की मदिरा के नशे में या गहलपने में अपने आप को तथा करने योग्य कार्य को भूले हुये हैं। चेतन-अचेतन की सही पहिचान से अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूप निर्धारण से जीव और पुद्गल द्रव्य का स्वरूप भिन्न-भिन्न नहीं जानते हैं। संयोगी शरीर और संयोगी भावों में ही एकत्व बुद्धि रखकर जीवपने की प्रतीति करते हैं किन्तु जो अपना सदा शुद्ध चिदानंदमयी आत्मिक स्वभाव है उसे जानकर और उपकारी मानकर अपनाते नहीं हैं। शरीरादि रूप ही मैं हूँ अथवा शरीरादि मेरे हैं – ऐसे मिथ्या परिणामों को ही मन में आनें देते हैं अर्थात् उन मिथ्या-मोहजन्य परिणामों में मगन रहते हैं।

आगे आतमा कौं कौन कर्म है, ऐसा कहैं हैं।

(सवैया तेईसा)

ग्यान स्वरूप सुजीव सही[2]
अपने परिनामनि कौं करता है।
जो अपनैं परिनामनि कौ
करता निहचै[3] गुन आचरता है॥

---

* जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥(प्र.सा. गाथा-१८३)

१. सरीरादि..उर आने हैं'' ख प्रति में नहीं। २. 'हीस' क प्रति में। ३. 'निश्चय' ख प्रति में।

पुग्गल द्रव्य स्वरूप सु कर्म
ख फंद विषैं सु नहीं परता है।
जो तन आदि पदारथ हैं
तिनिकौ सु नहीं करता हरता है ॥१४६॥*

अर्थ :– वस्तुत: जीव ज्ञान स्वरूप वाला है और अपने ही परिणामों का कर्त्ता है। स्वभाव से जो अपने परिणामों का ही कर्त्ता होता है वह निश्चित ही गुण अर्थात् स्वानुभूति जनित चारित्र में आचरण करता है, अत: वे परिणाम ही आत्मा के कर्म हैं। तथा पुद्गल द्रव्य स्वरूपी कर्मों के फंद या बंधन में नहीं पड़ता है। वह न तो पाप कर्म बाँधना चाहता है और न ही पुण्य कर्म। इसलिये ही वह शरीरादि पदार्थों का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं होता है।

आगे आतमा कौ पुद्गल परिनाम 'कैसे नाहीं'[1] यह संदेह दूरि करै हैं।

(सवैया तेईसा)

सो जिय कौ चिरकाल प्रवर्तन
जद्यपि पुग्गल बीच रहै है।
निश्चय सौं करता सु नहीं
अपनै निज आपु प्रवाह वहै है॥
जो वसु कर्म मई सु उपाधि[2]
कही तिहि कौं सु न छोड़ै चहै है।
जैसैं न लोह के पिंड कौं आगि
सुभाव सौं त्याज करै न ग्रहै है ॥१४७॥**

अर्थ :– आत्मा यद्यपि चिरकाल से पुद्गलों के बीच में रहता आ रहा है तथापि यह जीव निश्चय से पुद्गलों का कर्त्ता नहीं है वह तो अपने स्वभाव के प्रवाह में ही स्वयं प्रवहमान रहता है अर्थात् अपनी ही पर्यायों से अपने स्वभाव

---

* कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥(प्र.सा. गाथा-१८४)

** गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु॥(प्र सा. गाथा-१८५)

१. 'करम कैसैं' क प्रति में। २. 'उपादि' ख प्रति में।

की अभिव्यक्ति लिये ही परिणमित होता है, पर रूप कतई परिणमित नहीं होता है तथा जीव के जो भी कर्मबंधन स्वरूप अष्ट कर्म की उपाधि है वह जैसी कही गयी है, उसे वैसे ही सुनकर उस कर्मबंधन रूप उपाधि से छुटकारा चाहता है। जिस प्रकार आग में रहता हुआ लोह पिण्ड तप्त तो हो सकता है पर उसमें लकड़ी आदि के समान आग नहीं लगती है और आग में रहकर भी वह अपना स्वभाव छोड़कर लकड़ी आदि के समान खाक नहीं होता है वैसे ही जीव भी पुद्गल कर्मों के बीच रहता हुआ उनसे प्रभावित तो हो जाता है, रागी-द्वेषी-मोही तो हो जाता है परन्तु पुद्गल का स्वभाव उसमें नहीं आता है अर्थात् वह पुद्गल नहीं होता है या अपने स्वरूप को छोड़कर खाक रूप अर्थात् पुद्गल नहीं होता है सदा ज्ञानस्वरूपी जीव ही रहता है।

आगे आतमा कैं पुद्गल मई कर्मनि करि ग्रहन त्याग कैसैं हो है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

सोई जीव द्रव्य या ही जग मांहिं परद्रव्य
के निमित्त सौं असुद्ध परिनाम धरै है।
सो असुद्ध चेतनामई सु परिनामनि कौ
पाइकैं निमित्त कर्म रूप अनुसरै है॥
ग्यानावरनादि अष्ट भाव कौ सु परिनये
कर्म धूलि[1] ग्रहिकैं सु बंध मांहिं परे है।
काहु और काल के विषैं सु रसु दैकैं आपु
कर्म रज जाकौ आप हूं सु त्याज करै है॥१४८॥*

अर्थ :—संसारी जीव इसी जगत् में परद्रव्य के निमित्त से अशुद्ध परिणामों को प्राप्त होता है इसलिये वह अशुद्ध चेतना मयी परिणामों को करता हुआ उनके निमित्त से कर्म का अनुसरण करके कर्म रूप हो जाता है अर्थात् अपने

---

* स इदाणीं कत्ता स सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं॥(प्र.सा. गाथा-१८६)

१ 'क धूलि' ख प्रति में।

को वैसा ही अनुभव करने लगता है। कार्माण वर्गणायें कर्म धूलि स्वरूप ज्ञानावरणादि अष्टविधकर्मों के रूप में परिणमित हो जाती हैं। जिन्हें जीव ग्रहण करके ही बंधन में पड़ता है। फिर वे बंधी हुई कर्म प्रकृतियाँ कुछ काल अर्थात् आबाधा काल बीतने पर स्थितिबंध के नियोगानुसार कुछ समय तक स्वयं ही फल देकर झड़ जाती हैं। इस प्रकार आत्मा पुद्गल कर्म का ग्रहण भी करता है और त्याग भी करता है।

आगे पुद्गलकर्म करि कौन प्रकार सुभाव ही तैं कर्म कीजियै है, यह कथन।

(गीतिका)

जिहि काल यह चेतनि सु राग विरोध करि संजुक्त है।
तिस ही समैं सुभ असुभ भावनि के मझार सु थुक्त है।।
तव ही सुग्यानावरन आदि सु अष्ट कर्मनि सौं रसै।
जो कर्म धूलि त्रिजोग दरवाजे सु हो करिकैं धसै।।१४९।।*

अर्थ :– जिस समय यह चेतन आत्मा विरुद्ध परिणति स्वरूप राग से संयुक्त होता है उस ही समय व शुभ अथवा अशुभ भावों के बीच में अच्छी तरह रच-पच जाता है तथा शुभोपयोगी या अशुभोपयोगी होने के काल में आत्मा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के उदयादिक फल को प्राप्त कर उसमें रस लेने लग जाता है और उसमें मग्न होकर मन-वचन-काय स्वरूप योग के दरवाजे से कर्मधूलि को अपने में धंसा लेता है। इस प्रकार जीव को अपने शुभ-अशुभ परिणामों एवं योग परिणति के अनुसार कर्म का बंध हो जाता है।

आगे भेदनय की विवक्षाकरि एक आतमा कौं बंध रूप दिखावै हैं।

(छप्पय)

ज्यों हररा[1] फटकरिय लोधु तिहि कौ सुपाइ संगु[2]।
सेत वस्त्र सो होहि[3] अरू न गहि कैं मजीठ रंगु[4]।।

---

* परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।।(प्र.सा. गाथा-१८७)

१. 'हर्रा' ख प्रति में। २. 'सगु' क प्रति में। ३. होय ख प्रति में। ४. 'रगु' क प्रति में।

जैंसैं सप्रदेसी सु जीव संसार विषैं इय।
राग दोष अरु मोहभाव करिकैं प्रकार तिय॥
ग्यानावरनादि सु अष्टविधि कर्मनि सौं सु बधै सही।
इहि भांति जिनेस्वर[1] देव नैं बंध कथा परगट कही॥१५०॥*

अर्थ :—जैसे लोध हररा फिटकरी आदि की संगति पाकर अर्थात् लोधादि से संस्कारित होकर सफेद वस्त्र मंजीष्ठादि के लालपने को ग्रहण करके अपने सभी प्रदेशों में अर्थात् पूरे के पूरे वस्त्र में लाल (अरुण) हो जाता है। वैसे ही संसार में मोही-रागी-द्वेषी जीव अपने मोह-राग-द्वेष भावों से संस्कारित होकर सप्रदेशत्व होने के कारण अपने सभी प्रदेशों में अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा में ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों को बाँध लेता है। जीव और कर्म दोनों एक ही क्षेत्रावगाह में संश्लिष्ट तो रहते ही हैं, उनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी होता है। इस प्रकार जिनेश्वर देव ने बंध की प्ररूपणा को स्पष्ट रूप से प्रगट किया है।

आगे निश्चय व्यवहार इन दोउ नयनि करि अविरोध दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

राग दोष मोह रूप परिनाम सौं सु बंध
जग मांहिं दयो समुझाइ पुनि पुनि कैं।
सुद्ध जीव कथन सु निश्चैनय जाके कथैं
बंध है सु निश्चै बंध लखौ एक मुनि के॥
बाकी और संसारी सु जीवनि कैं द्रव्यकर्म
बंध व्यवहार सौं सु जानौं भव्य सुनिकैं।
निश्चय सु बंध उपादेय सुद्ध विवहार
हेय सो असुद्ध कह्यौ केवली की धुनि कैं॥१५१॥**

---

*सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरएहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परुविदो समये॥(प्र.सा. गाथा-१८८)

** एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीण ववहारो अण्णहा भणिदो॥(प्र.सा. गाथा-१८९)

१. 'जिनेसुर' ख प्रति में।

अर्थ :- जगत् में मोह-राग-द्वेष रूप जीव के परिणामों से ही जीव को कर्म का बंध होता है यह बात बार-बार आचार्य भगवन्तों ने समझाकर कह दी है। निश्चय नय शुद्ध जीव का कथन करता है। शुद्ध जीव में बंध होता नहीं है फिर शुद्ध निश्चय की अपेक्षा बंध कैसे है? सप्तम से दशम गुण स्थान के अन्तरालवर्ती मुनिराज के बंध होता है वहाँ मुनिराज के निश्चय ही एक शुद्धात्मा उपादेय है। उनके ज्ञान का ज्ञेय या ध्यान का ध्येय शुद्धात्मा ही है सर्व व्यवहार का भी वहाँ अभाव है फिर भी उनके निश्चय से बंध है ही सो कैसे? आत्मा रागादि परिणामों का कर्त्ता-भोक्ता है यह निश्चय नय का कथन है तथा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है यह असद्भूत व्यवहार नय का कथन है। अर्थात् निश्चय से आत्मा ही रागादि परिणामों का कर्त्ता-भोक्ता है, द्रव्य कर्मों का नहीं। तथा व्यवहार नय से आत्मा द्रव्य कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता कहा जाता है परमार्थ से नहीं। द्रव्यकर्मों को कोई नहीं भोगता क्योंकि वे परद्रव्य हैं तथा इसलिये ही उनका वह कर्त्ता भी नहीं हो सकता है। फिर भी यदि कर्ता कहा जाता है तो यह असद्भूत होने से असद्भूत व्यवहारनय की मर्यादा में मात्र कहने के लिये है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये यह कथन आवश्यक भी है।

रागादि परिणाम का भोक्ता आत्मा ही होता है परद्रव्य रूप द्रव्यकर्म नहीं। अत: रागादि का कर्त्ता निश्चय से आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। यहाँ मुनिराज के रागादि परिणामों से बंध होता है। यह जानना व्यवहार मात्र होने से हेय है। यहाँ प्रश्न होता है कि इस प्रकार कहा गया बंध निश्चय नय से उपादेय कैसे है तो उसका उत्तर यह है कि मुनिराज के सप्तमादि गुणस्थान में सर्वव्यवहार का अभाव होने से जो यथार्थ बंध है उसका कर्त्तापन निश्चय नय की अपेक्षा से उनके ही रागादि परिणामों का है, यह सिद्ध होता है अत: मुनिराज इस निश्चय की बात को उपादेय मानकर उस बंध से बचने के लिये रागादि परिणामों का अभाव करना ही अभीष्ट समझते हैं। रागादि परिणामों का अभाव एक मात्र शुद्धात्मा के आश्रय में स्वरूप गुप्त होने पर ही होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है। बंध के कारणों का अभाव करना ही उन्हें सर्वथा उपादेय है। रागादि को

बंध का कारण जाने विना तथा रागादि का कर्त्ता आत्मा ही है, यह माने विना उनका अभाव करना संभव नहीं है अत: अशुद्ध निश्चय नय के इस कथन को भी उपादेय कहा है कि निश्चय से जो बंध कहा गया है, वह रागादि रूप ही है उसका कर्त्ता-भोक्ता आत्मा ही है। यहाँ इसे उपचार से ही उपादेय कहा है सचमुच तो बंध कोई भी हो हेय ही है। परन्तु व्यवहारनय से जो द्रव्य कर्मों के बंध का कर्त्ता आत्मा को कहा गया है वह सही न होने से सर्वथा हेय है। कवि कहता है कि ऐसा शुद्ध-सटीक प्ररूपण केवली भगवान् की दिव्यध्वनि से प्राप्त जो उपदेश स्वरूप आगम है, उसके द्वारा ही संभव है। मुनिराज के अलावा सभी संसारी जीवों को लक्ष्य में लेकर भी जो यहाँ द्रव्य कर्मों के बंध का कर्त्ता जीव को व्यवहार से कहा है सो असद्भूत उपचार मात्र व्यवहार है, यथार्थ नहीं इस बात को हे भव्य ! तुम अच्छी तरह सुन समझ कर जान लो, भ्रमित मत होओ।

आगे असुद्ध नय तैं असुद्धातमा कौ लाभ हो है, यह कथन।

(चौपाई)

सरीरादि पर रूप सु मेरो, मैं पर सरीरादि तिनि केरौ।
यह ममकार बुद्धि तसु हो है मुनि नांहीं कुमारगी[1] सो है ॥१५२॥*

अर्थ :– शरीरादि पर रूप पदार्थ हैं। उनमें यह मेरा है तथा मैं उन पर शरीरादि रूप ही हूँ – ऐसी यह ममकार या अहंकार रूप बुद्धि यदि उसके होती है तो वह मुनि नहीं है, कुमारगी ही है। यहाँ यह कहा गया है कि जो श्रमण शरीरादि पर में आसक्ति नहीं छोड़ता है और वह श्रामण्य-मुनिपने को छोड़कर अशुद्धात्म परिणति रूप उन्मार्ग का आश्रय ले लेता है तो उन्मार्गी हो जाता है। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति (जानकारी) होती है।

---

* ण चयदि जो दु ममत्तिं सुह ममेद ति देहदविणेसु।
सो सामण्ण चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥(प्र.सा. गाथा-१९०)

१ 'सु कुमारगी' ख प्रति में।

आगे सुद्धनयतैं सुद्ध आतमा कौ लाभ हो है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

मैं हौं सुद्धजीव सरीरादि परकौ सु नांहीं
सरीरादि परद्रव्य सो न पुनि मेरौ है।
सवै परभावतैं सुभिन्न परमात्मा[1] हौं
एक ग्यान भाव रूप मैं सु हम[2] केरौ है।।
याही भांति ध्यान के समैं सु ममिता मिटाई
आप ही मैं आपनौं सु भाव तिनि हेरौ है।
'सोइ निज'[3] आपनैं सु ध्यान के करैया आपु
परमार्थ[4] तिन्हि तैं महा सु अति नेरौ है।।१५३।।*

अर्थ :– मैं शुद्ध जीव हूँ, शरीरादि पर पदार्थों का मैं नहीं हूँ तथा शरीरादि परद्रव्य मेरे नहीं हैं मैं तो समस्त परभावों से भिन्न परमात्मा ही हूँ। एक ज्ञानभावरूप परिणमित होना ही मेरा स्वभाव है उसी से मैं मैं हूँ। इस प्रकार से ध्यान के काल में ममता मिटाकर आप ही में अपने स्वभाव को जानने वाला हूँ। अपने स्वभाव से ही मैं खुद को जानने में आने वाला हूँ। ऐसे जो खुद अपने ध्यान के करैया आप स्वयं हैं उनसे उनका महान तोषकारी-आनंदकारी परमार्थ अर्थात् परम आत्मा दूर नहीं होता है किंतु अत्यधिक पास ही रहता है। यहाँ यह समझना चाहिये कि अपने परम आत्मा का ध्यान करने वाले को परमात्म पद की प्राप्ति अति निकट ही होती है।

आगे आतमा अविनासी ध्रुव वस्तु है तातैं ये ही ग्रहना जोग्य है।

(सवैया इकतीसा)

निश्चल सुभाव ग्यान दर्शन मई प्रधान
सुद्धता समेत सो प्रकार एक मानौं हौं।

---

* णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पा णं हवदि झादा।।(प्र.सा. गाथा-१९१)

१. 'परमां हौं' ख प्रति में। २. 'भाव हम' ख प्रति में। ३. 'तेई' ख प्रति में। ४. 'परमारथ' दोनों प्रतियों में।

आपनैं अतिंद्रिय सुभाव करिकैं समस्त
वस्तु कौ महा सु अर्थ[1] ग्याइक बखानौं हौं ॥
अनालंब अचल[2] अनोपम[3] अबाधवंत[4]
एक सौ प्रवर्तन त्रिकाल जाकौ जानौं हौं ॥
मैं हौं भेदग्यानी है हमारे यानि सानी मैं सु
याही भांति जीव कौ स्वरूप हियें[5] आनौं हौं॥१५४॥*

अर्थ :– मैं आत्मा हूँ तथा मेरा प्रधान (मुख्य) निश्चल स्वभाव ज्ञान दर्शनमयी है तथा शुद्धता सहित है सो उसे मैं उसी प्रकार एक मानता हूँ। अपने अतीन्द्रिय ज्ञान स्वभाव के द्वारा मैं अपने स्वभाव को व समस्त वस्तुओं को मात्र जानने वाला ही समझता हूँ। इस प्रकार यहाँ परम प्रयोजन स्वरूप अपना आत्मा मात्र ज्ञायक ही बताया गया है। मैं अपने स्वभाव को सदाकाल एक सा रहने वाला, परावलम्बन से रहित, अचल-ध्रुव, अनुपम और निराबाध (बाधा-विहीन) ही जानता हूँ। मैं तो सचमुच ही भेदज्ञानी-स्वपरभेद विज्ञानी हूँ तथा मेरे भेदज्ञान में मैं ही अपना शानी हूँ अर्थात् सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण मैं ही हूँ। मेरे स्वरूप से किसी की बराबरी नहीं, मुझे मेरे स्वभाव से जो निराकुल आनन्द मिलता है वह अन्यत्र कहीं से भी नहीं मिलता है अत: मैं अपने लिये अति महत्त्वाधायी परम तत्त्व हूँ। उसकी बराबरी करने वाला कोई नहीं है। इस प्रकार से भेदविज्ञान की विधि द्वारा मेरे मन में जीव का स्वरूप समझ में आया है अथवा ऐसे ही परम पारिणामिक भाव स्वरूप-ध्रुवधाम की चैतन्य ऊर्मियों से स्वयं निराला शुद्धात्म-स्वरूप जीव को मैंने अपनी बुद्धि में विराजमान कर लिया है।

आगे कहैं हैं कै आतमा धुअ है तातैं और अंगीकार करना[6] जोग्य नांहीं।

---

* एवं णाणप्पाण दसणभूद अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालब मण्णेह अप्पगं सुद्ध॥(प्र.सा गाथा-१९२)

१ 'अर्ध' ख प्रति में। २ 'अविचल' ख प्रति में। ३. अनुपम ख प्रति में। ४. 'अबाधवध' ख प्रति में।
५. 'उर' क प्रति में। ६. 'अंगीकारना' क प्रति में।

(छप्पय)

औदारिक आदिक सरीर जे पंच लहिज्जई[1]।
धन धान्यादिक भेद परिग्रह के सु कहिज्जई[2]॥
विषय इष्ट अनइष्ट जे सु इनि इंद्रिनि केरे।
सत्रु[3] मित्र आदिक सु और जग मैं बहु तेरे॥
एते समस्त संजोग जे विनासीक जिय के न हुअ[4]।
दरसन सुग्यान मय सुद्धता सहित जीव अविचल सु धुअ[5] ॥१५५॥*

अर्थ :– औदारिक, वैक्रियिक आदि पांच शरीर जो यथायोग्यपने जीव को प्राप्त होते रहते हैं। धन-धान्यादिक जो परिग्रह के भेद के रूप में कहे गये हैं उनके प्रति जीव को आसक्ति-ममत्वपरिणाम होता ही है। इन्द्रियों के द्वारा भोगे जाने वाले इष्ट-अनिष्ट विषय भोग भी जीव को अपने कर्मोदयानुसार मिलते हैं तथा जगत् में शत्रु-मित्र आदिक परिजन सामाजिक एवं परिवार जनो का भी मेल होता है। ये जितने भी प्रकार के संयोग हैं, जो जीव को उसके अपने पुण्य-पाप के अनुसार ही मिलते हैं, वे समस्त संयोग विनाशीक हैं तथा जीव के संयोग में आकर भी उसके कभी नहीं होते हैं। जीव तो शुद्धता सहित सुज्ञान एवं दर्शनमय ही है तथा सदा अविचल होने से ध्रुव ही है।

आगे सुद्धातमा की प्रवर्त्ति तैं कहा हौ है, यह कथन।

(चौपाई छंद)

''श्रावक[6] सुधी अनोव्रतधारी अथवा महाव्रती गुनभारी।
सुस्थिर एक ठौर चित ल्यावै सुद्ध स्वरूप आतमा ध्यावै॥१५६॥

(दोहरा)

मोह रूप विपरीति मति की सुगांठि निरवारि।
निर्मल होहि सु आप ही सर्वथा सु भ्रम डारि॥९७॥''**

* देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स णं संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा॥(प्र.सा. गाथा-१९३)

** जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारो अणगारो खवेदि सो मोहदुग्गंठि॥(प्र.सा. गाथा-१९४)

१. 'लहिज्जै' ख प्रति में। २. 'कहिज्जै' ख प्रति में। ३. 'सत्र' दोनों प्रतियों में। ४. 'हुव' ख प्रति में। ५. 'धुव' ख प्रति में। ६. 'श्रावग' दोनों प्रतियों में।

अर्थ :– सुधी श्रावक हों या अणु व्रतधारी व्रती हों या समता-समाधि आदि महान् गुणों के धारी महाव्रती हों, सभी को अपना मन (चित्त) सुस्थिर करके उसे एक ही जगह लगाना-टिकाना चाहिये अर्थात् अपनी ही शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार मोह रूप विपरीत बुद्धि की जो गांठ है उसका निवारण करना चाहिये एवं हर प्रकार से भ्रम को तोड़कर अपने को स्वयं ही निर्मल बनाना चाहिये।

आगे मोह गाँठि के खुलै तैं कहा है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

बंधी चिरकाल ही की भेदग्यान चैंहुटी सौं
अति ही विषम तिनि मोह गाँठि छोरी है।
पंच इंद्री जनित सुख औ[1] दुख एक ही से
देखि समदिष्टि कैं दुहु सौं तार टोरी है॥
जती की अवस्थाविषैं अनइष्ट[2] सौं अप्रीति
करैं जे न इष्ट वस्तु सौं न प्रीति जोरी है।
'अचल अबाधित अनंत आतमीक सुख'[3]
लहैं मुक्ति माहिं कर्म सकति मरोरी है॥१५८॥*

अर्थ :– जिन्होंनें अत्यधिक विषम तथा चिरकाल से बंधी मोह ग्रंथि को भेदज्ञान की चिहुंटि (चिमटी) से खोल दिया है। उन्होंने पंचेन्द्रिय जनित सुख दु:ख दोनों को ही एक रूप जानकर तथा समदृष्टि होकर दोनों से ही अपने को अलग कर लिया है अर्थात् जो तार अभी तक उन दोनों से जुड़ा था उसे तोड़ दिया है। यति की अवस्था में पहुँचकर वे अब अनिष्ट संयोगों से द्वेष नहीं करते हैं तथा न ही इष्ट वस्तुओं से प्रेम (राग) करते हैं। अपितु वे कर्म की शक्ति को मरोड़ कर अर्थात् छिन्न-भिन्न करके या उसे निष्प्रभावी करके तथा उनसे मुक्त होकर मुक्ति में निराबाध, अनंत और शाश्वत आत्मिक सुख को प्राप्त करते हैं।

---

* जो णिहद मोहगठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्ज समसुहदुक्खो सो सोक्ख अक्खयं लहदि॥(प्र.सा. गाथा-१९५)

१ 'और' दोनों प्रतियों में। २. 'अनिष्ट' ख प्रति में। ३. क प्रति में इस प्रकार है - "अचल अनादि आतमीक जे अनत सुख।"

आगे एकाग्रता करि निश्चल स्वरूप का भेदनहारा ध्यान आतमा की असुद्धता कौं दुरि करै है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

मोह मल सहज सुभाव जल सौं सु धोइ
पंच इंद्री विषय विकार तैं विमुक्त है।
चित्त की चपलताई रोकि करि वाहिर तैं
निज आतमा स्वरूप के विषैं सुजुक्त है।।
सुद्ध आतमीक ध्यान कौ सु करतार हो है
सोई संत कहीं ऐसी आगम सु उक्त है।
आसरे विना सु ज्यौं समुद्र के जिहाज कौ सु
पंछी उड़ि कहुँ और अंत कौं न धुक्त है।।१५९।।*

अर्थ :– अपने सहज स्वभाव के समता रूपी जल से मोह रूपी मल को धोकर जो पंचेन्द्रियों के विषय विकार से विमुक्त हो गये हैं। बाहर से अपने मन को हटाकर तथा उसकी चपलता को रोककर जो अपनी निज आत्मा के स्वरूप में ही संयुक्त हैं, लगे हुये हैं। संतों के द्वारा कही गयी तथा आगम में उपलब्ध ऐसी उक्ति है कि जैसे समुद्र के जहाज पर बैठा पंछी जिस प्रकार अन्य आसरे के विना कहीं और दूसरी जगह उड़कर जाना नहीं चाहता है वैसे ही ध्याता-साधक को आत्मा के अलावा अन्य कोई दूसरा आसरा-आलम्बन नहीं होंने से वह अपनी शुद्ध आत्मा के ध्यान करने में ही प्रवृत्त होता है, अपने ही ध्यान का कर्त्ता होता है, अन्य का ध्यान नहीं करता है।

आगे कोई प्रस्न करै है के जिन केवलग्यानी नैं सुद्ध स्वरूप पायौ है तिन्हि कौ भी ध्यान कहा है सु वह केवली कहा ध्यावै है।

(सवैया इकतीसा)

चारि घातिया सु कर्म भर्म तिनि दुरि कियौ
आपहू तैं सकल परोछपनौ खिसके[1]।

---

* जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा।।(प्र.सा. गाथा-१९६)

१. 'पिसके' क प्रति में।

सकल पदारथ प्रतक्ष रूप भासि रहे
जैसे के सु तैसे ग्यांन के मझार तिसके ।।
ग्येयाकार हौंहि सब वस्तु कौ मरमु पायौ
विभ्रम विमोह संसै डहे वृछ विसके।
महामुनि सरवग्य वीतराग देव जू सु[१]
ध्यान करैं केवली निमित्त कहौ[२] किसके ।।१६०।।*

अर्थ :– चार घातिया कर्मों के बोझ (मर्म) को उन्होंनें दूर कर दिया है जिस कारण अपने आप से ही ज्ञान का सारा परोक्षपना खिसक गया है और उनके ज्ञान में जगत् के सभी पदार्थ जैसे हैं वैसे ही जानने में आ रहे हैं। उनका ज्ञान स्वयं ग्येयाकार जैसा होकर सभी वस्तुओं के मर्म को पा रहा है अर्थात् जान रहा है उनके संशय-विभ्रम विमोह के सभी विष वृक्ष डह (जल) गये हैं मतलब यह है कि केवली संशय विभ्रम विमोह के विना सभी वस्तुओं को सही-सही (सम्यक्) ही जानते हैं। केवली महामुनि सर्वज्ञ और वीतराग देव हैं उन्होंनें ध्यान के द्वारा यह सब वैशिष्ट्य प्राप्त कर लिया है अत: उनके अब जो ध्यान है वह किसके निमित्त है ? – मानों ऐसा प्रश्न ही शिष्य यहाँ पूछ रहा है।

गुरु उत्तर कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

इंद्रिय विकार 'के गऐं तैं'[३] केवली सु महां
परम अतिंद्री भाव करिकैं गरुरे हैं।
सदा उतकिष्ट[४] आतमीक रस के सु भोगी
आप ही मैं ग्येय ग्यान के सु भेद झूरे हैं ।।
निराकुल कछू जानिवे की अभिलाषा नाहिं
ग्यानावरनादि[५] जे सु कर्म तिन्हि[६] चूरे हैं।

---

* णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ।।(प्र.सा. गाथा-१९७)

१ 'के' ख प्रति में। २ ख प्रति में नहीं। ३. ख प्रति में नहीं। ४. 'उत्कृष्ट' ख प्रति में। ५. 'ज्ञानावरनादि' ख प्रति में। ६ 'तिन' ख प्रति में।

सुख सौं अनंत है सु भगवंत देव जू कैं
ग्यान सो अनंत करि कैं सु परिपूरे[1] हैं ॥१६१॥*

अर्थ :—इन्द्रिय विकारों के चले जाने से अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान के समाप्त हो जाने से केवली भगवान् अपने परम अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सर्वलोकालोक को जानते हैं अब उनका केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। जगत् में उससे अधिक गौरवपूर्ण कोई अन्य नहीं है। अत: उनके अपने ज्ञान में सारे ज्ञेय ऐसे झलक रहे हैं जिससे ज्ञान ज्ञेय का भेद ही मानों समाप्त हो गया है। ज्ञान जान रहा है और ज्ञेय पदार्थ उनके ज्ञान में झलक रहे हैं तो ज्ञान ज्ञेय का भेद केवली के लिये तब हो जब वे कुछ जानना चाहें। वहाँ तो सब अभिलाषा के विना जानने में आ रहा है। बस इसलिये वे इच्छा रहित होकर जानते हैं और पूर्ण निराकुल हैं। ग्यानावरणादि चारों घातियाँ कर्म उनके चूर-चूर हो गये हैं और केवली भगवंत अरहंत देवजू अनंत ज्ञान और अनंत सुख से परिपूर्ण हैं वह अनंत निराबाध सुख उनके ज्ञान का ज्ञेय मात्र नहीं हैं, ध्येय भी है क्योंकि वे उस अनंत सुख और अनंत ज्ञान में सदा तादात्म्य स्वरूप हैं अनंत आनंद का वेदन कभी छूटता नहीं है उसका भोग भी चलता रहता है इससे ज्ञात होता है कि केवली भगवान् अपनें आप में परिपूर्ण हैं।

आगे सुद्धातमा की प्राप्ति सोई मोछमार्ग, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

सम्यक् दरस ग्यान चरन प्रवर्त्ति सुद्ध
आत्मा स्वरूप मोख मारग बतायौ है।
सामान्य सु केवली कहे[2] सु और तीर्थंकर
जसु मुनि जे[3] सु मुक्ति गामी तिनि पायौ है॥

---

* सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं॥(प्र.सा. गाथा-१९८)

१. 'परपूरे' ख प्रति में। २. 'कै' ख प्रति में। ३. 'सु मुनि जे' क प्रति में नहीं है।

ऐंसे मोख के सु[1] अभिलाषी जती कर्म हनि
हूं हैं सिद्ध ऐसौ मोख पंथ दरसायौ है[2]।
सोई महामुनि कौं[3] सु और मोखमारग कौं
देवीदास हाथ जोरिकैं सु सीसु नायौ है ॥१६२॥*

अर्थ :– जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में प्रवर्त शुद्ध आत्मा को मोक्षमार्ग बताया गया है अथवा मोक्षमार्ग का स्वरूप या लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से परिणत शुद्ध आत्मा ही है। यह मोक्षमार्ग उन सभी ने पाया है जो अभी तक मुक्तिगामी हुये हैं। चाहे वे सामान्य केवली हों या तीर्थंकर केवली सभी ने मोक्षमार्ग में रहकर ही केवलीपना पाया है। ऐसे ही मोक्ष के अभिलाषी सभी यति जन कर्मों का हनन कर अवश्य सिद्ध बनेंगे। इस प्रकार यहाँ मोक्षमार्ग दिखाया गया है जिसमें लगे विना कोई भी मोक्ष नहीं पा सकता है अत: देवीदासजी कहते हैं कि मैं ऐसे महामुनियों को और मोक्षमार्ग को सीस नवाँकर तथा हाथ जोड़कर नमन करता हूँ।

आगे बहुरि सुद्धातमा की प्रवर्त्ति मोखमार्ग रूप दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

सुद्ध आतमा कौं साधि निजध्यान कौं अराधि
जैसैं भव्यजीव जे अनंत मुक्ति गये हैं।
तैं ही भांति तीर्थंकर आदि और सुद्ध रूप[4]
जानि आप अनुभौ[5] करैं विसुद्ध भये हैं॥
तैंसै[6] ही सु सबकौ जनैया जो सु जान्यौ हम
पर द्रव्य सौं ममत्व भाव त्यागि दिये[7] हैं।
होइ कैं[8] सु निश्चल स्वरूप पाइकैं सु एक
वीतराग भाव तिहि रूप परिनयै[9] हैं ॥१६३॥**

---

* एव जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥(प्र.सा. गाथा-१९९)

** तम्हा तह जणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि ॥(प्र.सा. गाथा-२००)

१. 'सु' ख प्रति में नहीं। २. क प्रति में नहीं। ३. 'कैं' क प्रति में। ४. 'जीव' ख प्रति में। ५. 'अनभौ' क प्रति में। ६. 'तै सही' क प्रति में। ७. 'दये' दोनों प्रति में। ८. 'होहिकैं' ख प्रति में। ९. परिनय ख प्रति में।

अर्थ :– जिस प्रकार जो भव्य जीव अपनी शुद्ध आत्मा को साधकर अर्थात् उसे जानने एवं पाने की साधना करके तथा निज ज्ञान की आराधना करके मुक्ति को प्राप्त हुये हैं, वे अनंत जानने। उसी प्रकार अर्थात् भव्य जीवों के समान ही तीर्थंकर आदि महापुरुष तथा अन्य और भी अपने-अपने शुद्ध स्वरूप को जानकर और उसका अनुभव करके ही विशुद्ध दशा को प्राप्त हुये हैं। यहाँ कवि कह रहा है कि हमने भी सबको जानने वाला जो केवलज्ञान है, उसको वैसे ही जान लिया है और परद्रव्यों के प्रति ममत्व के भाव को वैसे ही त्याग दिया है अर्थात् अब कोई आसक्ति परपदार्थों में हमारी नहीं रह गयी है। अब हम निश्चल होकर अर्थात् एकाग्रचित्त होकर एक मात्र अपने ही निर्मल स्वभाव को पाकर वीतराग भाव रूप परिणमित हुये हैं।

(दोहरा)

प्रवचनसारविषैं कह्यौ हतौ ग्येय अधिकार।
पूरन भयौ यहाँ सु जो सहित अल्प विस्तार।।१६४।।

अर्थ :– कवि कह रहा कि प्रवचनसार में जिस प्रकार से जो ग्येय अधिकार कहा गया है अथवा कुन्दकुन्दाचार्य जी ने कहा है वह यहाँ इस भाषा कवित्त में मेरे द्वारा अपनी बुद्धि के अनुसार अल्प विस्तार सहित पूर्ण हुआ है।

[इति श्री प्रवचनसार भाषायां देवीदासकृत ग्येयाधिकार सम्पूर्ण।]

चारित्र अधिकार

आचार विधि

(दोहरा)

अब सु चरित्राचार कौ कहौं कछू विरतंत।
संपूरन को कहि सकै जाकौ आदि न अंत॥१॥

अर्थ :– अब सम्यक् चारित्र के आचरण का कुछ वृतान्त कहता हूँ। सम्यक् चारित्र के वृतान्त का आदि अन्त नहीं है अत: उसे सम्पूर्णतया कौन कह सकता है।

प्रथम ही यह अधिकार विषैं आदिनाथ जू कौं नमस्कार।

(सवैया तेईसा)

ग्यांन गरिष्ट महा सुख सागर
सार समस्त पदारथ ग्याता[१]।
धर्म[२] धरा हरता दु:ख के सु
जगत्र पिता करता सुभ साता॥
देव अनंत चतुष्टयवंत
वधू सिवकंत सुमारग दाता।
आदि जिनेस नमौं गुन ते सु[३]
त्रिलोकपती पद पूज्य विधाता॥२॥

अर्थ :– जो ज्ञान में सर्वोत्कृष्ट हैं अर्थात् जिनका केवलज्ञान सम्पूर्ण विकास को प्राप्त होने से लोक में गरिष्ठ अर्थात् सर्वातिशयपने से पूज्य है। जो महासुख के मानों सागर ही हैं अर्थात् सारभूत अनंत सुख उन्हें प्राप्त हो गया है। और सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता हैं। जगज्जनों के लिये जो धर्म की धरा हैं और जगत् के पिता हैं तथा निमित्त रूप से उनके दु:खों के हर्त्ता और उनकी शुभ-साता के कर्त्ता भी हैं। ऐसे वे परम देव अनंत चतुष्टय से युक्त हैं और मुक्तिवधू के स्वामी होने से हम सबको मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले होने से सन्मार्गदाता हैं। जो

१. 'ग्याना' क प्रति में। २. 'धरम' ख प्रति में। ३. 'स' क प्रति में।

अपने गुणों के कारण तीनों लोकों के अधिपति एवं पूज्य विधाता-परमात्मा हो गये हैं, ऐसे आदिनाथ जिनेश को मैं नमन करता हूँ।

आगे जे बाकी तेईस तीर्थंकर हैं तिनिकौं भी संछेपता करि वंदौं हौं।

(चौपई छंद)

वंदौ जिन सु और जे बाकी विधि आचार कहौं मुनि जाकी।
पूरव साम्यभाव कहि आयौ फिरि सु जती पद विषैं बतायौ ।।३।।

अर्थ :– प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ को नमस्कार स्वरूप छंद लिखने के बाद कवि कह रहे हैं कि मैं अब बाकी सभी तेईसों तीर्थंकरों की वंदना कर रहा हूँ। जिनके आचरण की विधि मुनियों ने हमें स्पष्ट रूप से बतायी है! पहिले जो साम्यभाव कह आये हैं उसे ही अब फिर से आचरण विधान से यति पद के योग्य वर्णन में बताया जा रहा है।

आगे साम्यभाव संजुक्त जु है गनधरादि मुनि तिनिकौं नमस्कार करौं हौं।

(चौपई छंद)

"दरसन ग्यान चरन परिपूरे मंडित विनय परमतप सूरे।
गौतमादि गनधरगुणधारी जे मुनि वंदनीक सहकारी ।।४।।

(दोहरा)

मुनि पदवी सु उदास है[1] धर्यो चहत जे भव्य।
संभाषना तिन्हैं सु यह बनहिं[2] तौ सु करतव्य ।।५।।"*
आई बनैं तो जा समैं वचन कहि लै[3] जोग्य।
निज करि यहु संभाषना कौं नांहीं सुनि योग्य ।।६।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में जो प्रधानता को प्राप्त हुये हैं, विनय गुण से मंडित हैं तथा परम तप को धारण करने में शूरवीर हैं या आचार्यत्व को प्राप्त हैं तथा अपने उत्कृष्ट गुणों से गुरुता को प्राप्त हैं एवं सहकारी मुनियों द्वारा

---

* एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ।।(प्र.सा. गाथा-२०१)

१. 'होइ' क प्रति में। २. 'बने' क प्रति में। ३. 'चले' क प्रति में।

वंदनीक हैं ऐसे उन गौतमादि गणधरों को मेरा नमस्कार है। कवि यहाँ कह रहा है कि गणधरों को नमन करने का सही तरीका उनको आता है जो भव्य जगत् से उदास होकर मुनि पदवी को धारण करना चाहते हैं। सचमुच ही यह संभाषण अर्थात् हितोपदेश उन्हें है जो इसे आगे अपना कर्त्तव्य बनायेंगे। मुनिव्रत धारण करने की भवितव्यता आकर जब बनाव बनेगा तो मानों उस समय के लिये ही यह वचन यहाँ कहना योग्य है। सचमुच ही यह संभाषण अपनाने के लिये है केवल सुनने योग्य ही नहीं है।

आगे कहैं हैं कै जो मुनि भयो चाहै है सो प्रथम कहा करै है।

(सवैया इकतीसा)

अपनैं कुटंब कौ समूह जासौं पूछिकैं सु
महा उपदेस रूप वचन खिरावै है।
माता पिता पुनि सौ कलित्र[1] और पुत्र सौं सु
समिता विचार हियै ममिता मिटावै है॥
ग्यानाचार दर्सन चरित्राचार तपाचार
वीरजा सु[2] चारि क्रिया के विषैं सु आवै है।
अैसी दसा सो है जाकी सोई जीव जती हो है
सावधान हो कैं आतमीक पद पावै है॥७॥*

अर्थ :– अपने कुटुम्ब का जो समूह है। उनसे अच्छी तरह अपने दीक्षा लेने के निर्णय के बारे में उनकी राय पूँछकर और दीक्षा दाता के समक्ष आकर उनसे अपने वैराग्य की पुष्टि हेतु तथा मुनिव्रत की पालना के लिये महान् उपदेश देने की प्रार्थना करता है। कुटुम्बी जनों में प्रमुख लोग जैसे माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि के प्रति ममता को मिटाने के लिये अपने मन में समता का विचार करता है और मोह-ममता छोड़ता है। तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार रूप आचरण क्रियाओं को

* आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं॥(प्र.सा. गाथा-२०२)

१ 'कलित्रा' ख प्रति में। २ 'सौं' ख प्रति में।

पालने के लिये तैयार होकर गुरु के समक्ष आता है। इस प्रकार जिसकी भी ऐसी दशा होती है वह जीव (मनुष्य) ही मुनि होता है तथा सावधान होकर मुनिधर्म का पालन करते हुये आत्मिक पद अर्थात् स्वानुभूति को प्राप्त करता रहता है।

आगे यह आचार[1] प्रति कहा हो है 'सो कहैं हैं'[2]।

(सवैया इकतीसा)

पंचाचार आपु आचरै सु और जीवनि कौं
आचाराइवे[3] कैं विषैं अति उतकिष्ट है।
जति पदवी कौं आपु धरै और कौं धरावै
परम प्रवीन जाकौ वचन सु मिष्ट है॥
कुलरूप जोवन की लियैं सो विसेषताई
मोख अभिलाषी महामुनि कौ सु इष्ट है।
इत्यादिक गुन कौ निवास साधु[4] पास जाके
जाइ करि जोरि दो नवाइ सीस तिष्ठ है॥८॥*

अर्थ :– जो पंचाचारों को खुद आचरते हैं तथा दूसरे जीवों को आचरण कराने में अत्यधिक उत्कृष्ट हैं। यति पदवी को अर्थात् साधुपने को जो स्वयं धारण करते हैं तथा दूसरों को भी धारण कराते हैं। मुनि पद धारण कराने में जिनके चतुराई भरे परम प्रवीण वचन बहुत मिष्ट-मधुर हैं। जो कुल, रूप और यौवन की विशेषताओं को लिये हुये हैं। तथा जिन मोक्षाभिलाषी महामुनि को दीक्षा देना इष्ट है, ऐसे गुणों के निवास स्वरूप साधु जिनके पास मौजूद हैं ऐसे उन संघ प्रमुख आचार्य गुरु के सामने जाकर तथा दोनों हाथ जोड़कर और शीश नवाकर दीक्षा लेने वाला उनके चरणों में बैठता है।

आगे सिष्य जन की मनोहार गुरु का संबोध बतावै हैं।

---

* समण गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो॥(प्र.सा. गाथा-२०३)

१. 'चार' ख प्रति में। २. ख प्रति में नहीं। ३. 'आचरायवे' ख प्रति में। ४. 'साध' दोनों प्रति में।

(सवैया इकतीसा)

लैनहार दिक्ष्या कहै मोहिं[1] भव की सु भीति
सुद्ध आतमा के जानिवे की अति इक्ष्या है।
तार्थें मैं सु बार-बार जोरि करि दोड़[2] करौं
अरजी सु नाथ दीजे दीवे की सु सिक्ष्या है।।
कहै गुरु अंगीकार करौ तुम निश्चै करि
यही सुख की सु[3] करतार जिन दिक्ष्या है।
सील सुख सागर है मुकति कौ मारग है
मौकली जहाँ सु पंचघर[4] की सु भिक्ष्या है।।१।।

अर्थ :– दीक्षा लेने वाला दीक्षादाता गुरु के सामने जाकर कहे कि मुझे भव की भीति बहुत है तथा शुद्ध आत्मा को जानने की बहुत इच्छा है इसलिये मैं दोनों हाथ जोड़कर बार-बार विनती-अरजी कर रहा हूँ कि हे नाथ! अब आप मुझे दीक्षा देने की जो सु शिक्षा है, वह दीजिये। गुरु कहते हैं कि तुम निश्चय कर अर्थात् निर्धार पूर्वक यह बात अंगीकार करो कि जीव को सच्चे सुख की करतार यह जिन दीक्षा ही है। यह दीक्षा शील अर्थात् चारित्र-सदाचरण रूपी सुख का सागर है तथा साक्षात् मुक्ति का मार्ग है। जहाँ पाँच घर तक ही भिक्षा हेतु जाने का विधान माना गया है।

आगे और करतव्यता कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

मैं हौं चिनमूरति सुभावतैं सु मेरे अन्य
पर वस्तु कौं सु यों ही त्याग भाव करै है।
पर वस्तु सो न मेरी मैं न पर वस्तु केरौ
ऐसी विधि ममिता विकार परिहरै है।।
पंच इंद्री जीति कैं[5] सही सु येक ठौर हो कैं
सुद्ध आतमा सुभाव विषैं अनुसरै है।

---

१. 'मोह' ख प्रति में। २. ख प्रति में नहीं। ३. 'की सु' ख प्रति में नहीं। ४. 'पर घार' क प्रति में। ५ 'तैं' क प्रति में।

जैसो कछू मुनि को स्वरूप कह्यो चाहिजै कै
जथा जाति रूप जो स्वरूप तैसो धरे है ॥१०॥*

अर्थ :–मैं स्वभाव से चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ और अन्य सब वस्तुयें मुझसे भिन्न हैं, पर हैं - ऐसा विचार करके वह सर्व पर वस्तुओं को सहजता से त्याग देता है अर्थात् उन्हें छोड़ देता है। ये मेरी नहीं हैं, हो भी नहीं सकती हैं, इस ज्ञान के कारण ही वह पर वस्तुओं को छोड़ता है। अत: सचमुच में ज्ञान ही त्याग भाव है। परवस्तु मेरी नहीं है मैं परवस्तु का नहीं हूँ - इसी ज्ञान भाव की विधि से अर्थात् सही जानकारी स्वरूप उपाय से अपने से भिन्न पर पदार्थों के प्रति ममता रूपी विकार का परिहार कर देता है। तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों से वचकर अर्थात् इन्द्रियों को काबू में करने के कारण उन्हें जीतकर संयम विधान से एक ठौर होकर अर्थात् अपनी शुद्धात्मा में ही रहने वाला होकर शुद्धात्मा के स्वभाव में ही बार-बार प्रवर्तन-अनुसरण करता रहता है। इस प्रकार जैसा कुछ मुनि का स्वरूप बताया है वह मैंनें कहा। तथा जो मुनि है वह बाहर से अर्थात् बाह्य भेष को धारण करने की अपेक्षा यथाजात स्वरूप नग्न रूप को उसी प्रकार धारण करता है जैसे जन्म लेने के समय निर्विकारता होती है। बाह्यभेष में जन्मजात निर्विकारता का होना ही यथाजात स्वरूप लिङ्ग का तात्पर्य जानना चाहिये।

आगे द्रव्य भाव लिङ्गी मुनि का स्वरूप कहिये है सुगम कवित्त में।

(सवैया इकतीसा)

दाढ़ी[1] सीस के सु केस लौंचि जो सु बाहिज कौं
तुस तुल्य तिली के परिग्रहा न राखै है।
पंच परकार पाप जोग अदया असत्य
आदि दै अदत्ता दत्त सरवंग नाखै है॥
न ही तन के सम्हारनैं की साजने की क्रिया
राग दोष विन ग्यांन सुधा रस चाखै है।

* णाह होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जहजादरुवधरो ॥(प्र.सा. गाथा-२०४)

१ 'डाडी' ख प्रति में एवं 'डाढी' क प्रति में।

कारन[1] सु मुक्ति भव्य जीव सरदहौ ऐसौ
द्रव्यलिंग जथा जाति रूप जिन भाखै है ॥११॥*

परद्रव्य विषैं जाके मोह ममिता सु नांहीं
उपयोग सुद्ध सुभासुभ सौं न रंजै है।
मन वच काय तिनि जोग की अडोलताई
जोग सुद्ध या उभै विसुद्धता सो वंजै है॥
परवस्तु सौं सु पराधीन हो प्रवर्त्ते नांहिं
मोख पद जानै राग दोष भाव भंजै है।
ऐसी क्रिया लीन जती होइ भावलिंगी सोई
लगी कर्म कालिमा अनादि की[2] सु मंजै है ॥१२॥**

अर्थ :– जो जैन श्रमण (मुनि) है, वह दाढ़ी और सिर के बालों को उखाड़ कर केश लुँच करता है। तथा तिल तुस के बराबर भी बाह्य परिग्रह को नहीं रखता है। पाँच प्रकार के पाप योगों अर्थात् पापारम्भों को अर्थात् अदया (हिंसा), असत्य (झूठ), अदत्तादत्त (चौर्य) आदि को सर्वथा छोड़ देता है। वह अपने शरीर को संभालने की या सजाने की क्रिया नहीं करता है तथा राग-द्वेष के विना ज्ञान स्वरूपी अमृत रस का स्वाद लेता रहता है। हे भव्य जीव! तुम इस जिनलिङ्ग अर्थात् श्रामण्य को मुक्ति का कारण जानो तथा जिनेन्द्र भगवान् ने जैसा मुनि का यथाजात स्वरूप द्रव्य लिङ्ग कहा है, उसका वैसा ही श्रद्धान करो।

जिस श्रमण की परद्रव्यों में मोह-ममता नहीं होती है जो शुद्धोपयोगी होता है और शुभाशुभ भावों से रंजित नहीं होता है अर्थात् शुभ-अशुभ भावों में रस नहीं लेता है। मन-वचन-काय स्वरूप तीनों योगों को संभालता हुआ सुस्थिरपने

---

* जहजादरूवजाद उप्पाडिद केसमंसुगं सुद्धं।
रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म हवदि लिंगं॥(प्र.सा. गाथा-२०५)

** मुच्छारंभविजुत्त जुत्त उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्हं॥(प्र.सा. गाथा-२०६)

१ 'कारण' ख प्रति में। २. ख प्रति मे नहीं।

से रहता है तथा परवस्तुओं से जुड़ने के फलस्वरूप पराधीन होकर प्रवर्तन नहीं करता है तथा मोक्ष पद को ही ध्यान में रखता है और राग-द्वेष भावों का भंजन कर देता है अर्थात् परवस्तुओं में राग-द्वेष परिणाम नहीं करता है। जो यति ऐसी क्रियाओं में लीन रहता है वह भावलिंगी संत है और अपनी आत्मा में लगी अनादिकालीन कर्म कालिमा को मांज देता है अर्थात् माँजने की क्रिया से दूर कर देता है। जैसे बरतन आदि को माँजने पर उसकी गंदगी-अशुद्धता दूर हो जाती है, वैसे ही आत्मा को माँजने से उसकी कर्म कालिमा मिट जाती है।

आगे द्रव्य शिव[1] लिंग कौं धरै है तब मुनि की समस्त क्रिया का अंगीकार करै है, यह कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

अरहंत[2] अथवा सु दिक्ष्या[3] कौ दिवैया गुरु
द्रव्य भाव लिंग कौ सु उपदेस करै है।
तिन्है मुनि हूवे की सु इक्ष्या[4] जो सु उभै लिंग
धारि सोई महामुनि के सु पाइ परै है॥
पंच महाव्रत आदि मुनि की[5] क्रिया समस्त
सुनिकैं सु भव्य जती कौ स्वरूप धरै है।
सब ही विषैं सु समदिष्टि सबकौं सु इष्ट
ऐसौ साध होहि जो सु भौ समुद्र तरै है॥१३॥*

अर्थ :-- अरहंत भगवान् अथवा दीक्षा दाता गुरुदेव उसे द्रव्य-भाव लिंग का उपदेश सभी को देते हैं, जिन्हें मुनि होने की सद् इच्छा होती है। उपदेश सुनकर वे उभय लिङ्ग अर्थात् द्रव्यभाव मुनिपने को धारण कर दीक्षा दाता महामुनि के पैरों में पड़ते हैं। लिङ्ग धारण करने के उपरांत पंचमहाव्रतादिक के पालन रूप मुनि की समस्त क्रियाओं को सुन-समझ कर और उनका पालन

---

* आदायं तं पि लिंगं गुरूणा परमेण त णमंसिता।
सोच्चा सवद विरिय उवट्ठिदो होदि सो समणो॥(प्र.सा. गाथा-२०७)

१. 'भाव' ख प्रति में। २ 'अरित' ख प्रति में। ३. 'दिक्षा' ख प्रति में। ४. 'सिछा' ख प्रति में। ५ ख प्रति में नहीं।

करते हुये वह भव्य यति के स्वरूप को धारण कर लेता है अर्थात् मुनि बन जाता है। मुनि की सभी पदार्थों में समदृष्टि बनी रहती है इसलिए ही वे सबको इष्ट होते हैं। कवि कहता है कि जो ऐसे साधु होते हैं, वे अवश्य ही भवसमुद्र को तैर कर पार कर लेते हैं अर्थात् भवसागर से तिर जाते हैं।

आगे सामायिक दसा कौं पाई तथापि काहू काल विषैं मुनि छेदोपस्थापन करै है, 'यह कथन'[१]।

(सवैया इकतीसा)

पंच महाव्रत पालै समिति प्रकार पंच
पंच इंद्री कौं निरोधि लौंचि कच खौवै है।
क्रिया षडावासक सु पालै पुनि छांडै वस्त्र
तजै दंतधोवन[२] नहीं सु तन धोवै है।।
ठाढ़ैं लघु भोजन करै तथा सु एक बार
भूमिसैंन[३] थोरी पीछिली[४] सु रैंन सोवे है।
मूल गुन कहे आठ बीस ये जिनागम में
तिन्हिं की प्रवर्ति सौं जतित्वपनौं[५] होवे है ।।१४।।*

(दोहरा)

संजिमघतैं प्रमाद जो लगै मूलगुन काज।
तह छेदोपस्थापना करै जो सु मुनिराज।।१५।।'**

अर्थ :– जिनागम में मुनि के अट्ठाइस मूलगुण कहे हैं जिनकी प्रवृत्ति करने से अर्थात् मूलगुणों के पालने से ही मुनिपना होता है। वे मूल गुण इस प्रकार कहे गये हैं – पंच महाव्रतों का पालन, पंच समिति पूर्वक चर्या, पाँच इन्द्रियों का निरोध, षडावश्यक क्रियाओं को पालना, वस्त्र त्याग होंने से नग्न रहना,

* वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवण ठिदिभोयणमेगभत्तं च ।।(प्र.सा. गाथा-२०८)

** एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।।(प्र.सा. गाथा-२०९)

१. क प्रति में नहीं। २. दंतधावन' क प्रति में। ३. 'भूंमसैन' ख प्रति में। ४. 'पिछली' ख प्रति में। ५ 'जतित्वपद' ख प्रति में।

केशलुँच करना, दंतधावन नहीं करना, तन नहीं धोना (अस्नानव्रत), खड़े-खड़े एक बार भोजन लेना, लघु भोजन अर्थात् भूख से न्यून (कम) ही भोजन लेना तथा रात्रि के अंतिम प्रहर में कुछ काल भूमि पर शयन करना।

संयम का हनन होने पर प्रमाद वश जो दोष मूलगुणों को पालने रूप कार्य में लगते हैं। दोषों के कारण हुये अपराध से बचने के लिये ही मुनिराज छेदोपस्थापना संयम विधि का अनुसरण करते हैं।

आगे जो इस मुनि कौं दीक्ष्या का दाइक आचारज है। जो संजिम में भंग भयो होय तौ उपदेस देकर थापना[1] करि गुरु हो है; यह कथन।

(छप्पय)

जे पूरव मुनि भये मानि तिन्हि मुनि की सिक्ष्या।
जो गुरु हैं निजु[2] कैं सु दैनहारौ पुनि दिक्ष्या[3]॥
संजिम भंग भयौ जु होहि जद्यपि[4] सु आपना।
विधि पूरव समुझाइ करावनहार थापना॥
'आचारज और[5]' जतित्व के विषैं प्रवीन सो[6] सु जानियै।
इहि भांति महां रिषि राज जे निरजापक सु बखानियै॥१६॥*

अर्थ :– जो पूर्व में मुनि हो गये हैं। उन मुनिवरों की सीख (शिक्षा) मानकर अपने दीक्षादाता गुरु के पास जाता है। यद्यपि सावधान होकर मुनिचर्या पालता है तथापि जो कुछ भी संयम में भंग हुआ है उसको विधिपूर्वक विनयसहित अपना दोष कहकर अथवा मुझसे संयमपालन में दोष हुआ है यह समझाकर अपने को उस दोष से बचाने के लिये पुन: संयम में स्थापित करने की प्रार्थना करता है। इस प्रकार यतित्व-मुनित्व के विषय में प्रवीण हैं और यथोचित्त प्रकार से छेदोपस्थापना संयम का पालन कराने वाले जो भी महान् मुनिराज या श्रमण हैं, उनको निर्यापक कहा गया है।

---

* लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदाइगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा॥(प्र.सा. गाथा-२१०)

१ 'स्थापना' ख प्रति में। २. 'निज' ख प्रति में। ३. 'दिक्षा' ख प्रति में। ४. 'जद्यपि हैं सु' ख प्रति में।
५ 'आचारजतित्व' क प्रति में। ६ दोनों प्रतियों में नहीं।

आगै जो संजम रूप वृक्ष भंग हुवा होइ तो तिसके जोरने की विधि दिखावै हैं, कवित्त दोइ विषैं।

(सवैया इकतीसा)

अंतरंग विषैं उपयोग की विसुद्धता सौं
संजिम मझार जो जती सु सावधान हैं।
जतन सौं बैठिवौ सु चलिवौ सु सोवो आदि
तन की क्रिया थैं भयो संजिम सु हान है॥
जाके थापनैं कौं करैं विधि सो अलोचना की
जाथैं दोष की सु निर्वृत्त सुखदान है॥
बहिरंग यहै भंग थांपना दुहुं की रीति
अंतरंग भंग थापना सु और आन है॥१७॥*

अंतरंग उपयोग रूप जो जतित्वपने
कौ सु भंग जबै जो सु भयौ होहिं[1] मुनि कैं।
वीतराग मारग विषैं जतित्व क्रिया विषैं
सावधान जती जे समीप जाइ[2] उनिकैं॥
आपनैं सु दोष जे प्रकास करि कैं बतावै
तिनि की परार्थना सु करै पुनि पुनि कैं॥
उपदेस माफिक चलै सु करनैं कौं जोग्य
और उपदेस मन माँहिं धरै सुनिकैं॥१८॥**

अर्थ :– जो मुनि अंतर में अपने उपदेश की विशुद्धता से संयम का पालन करने में सावधान हैं। फिर भी यत्नपूर्वक सावधानी रखते हुये बैठने-चलने, सोने आदि की शरीर की क्रिया करने में जो कुछ भी संयम की हानि होती है। उस हानि से उबरने के लिये और संयम को सार्थक बनाने के लिये आलोचन

---

*पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयण पुव्वया किरिया॥(प्र.सा. गाथा-२११)

** छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जा लोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं॥ (प्र.सा. गाथा-२१२)

१. 'होय' ख प्रति में। २. 'जाय' ख प्रति में।

विधि का अनुसरण करते हैं जिससे मुनि के दोषों की निर्वृत्ति (जुदायगी) होती रहती है और संयम उन्हें सुख का देने वाला या सुख की खान हो जाता है। अपने परिणामों की संभाल और अलोचना रूप द्विविध रीति से जो साधु छेदोपस्थापना करता है तो वह बहिरंग भंग-दोषों से बच जाता है। इस प्रकार उसके द्वारा अपने आपको संयम में स्थापित करना ही है। अंतरंग दोषों (भंग) से बचकर संयम में पुन: स्थापित होकर उत्कृष्टता प्राप्त करना यह अन्य बात है। वह बात इसप्रकार है।

अंतरंग उपयोग स्वरूप निर्मलता ही जतिपने की पहिचान है। अंतरंग में तीन कषाय के अभाव रूप परिणामों की निर्मलता (वीतराग परिणति) के विना मुनिपना नहीं होता है। अत: वह अपने इस मुनिपने की रक्षा के लिये सावधान रहता है फिर भी कदाचित् जब उसमें कोई भंग-दोष उत्पन्न हो जाता है तो ऐसा मुनि वीतराग मार्ग में जतित्व क्रिया के पालने में सावधान मुनि के पास जाकर तथा उनके सामने अपने दोषों को प्रकट कर बता देता है। उन दोषों से बचने के लिये उपाय बताने की बार-बार प्रार्थना करता है तथा उनका उपदेश सुनकर यह उपदेश मेरे दोषों के प्रक्षालन के लिये अथवा आगे दोष उत्पन्न नहीं होंने के लिये अनुकूल है, ऐसा मान कर उसे मन में धारण कर लेता है, भूलता नहीं है तथा उसी के अनुसार करने योग्य क्रिया करता हुआ मुनिमार्ग में प्रवर्तन करता रहता है।

(दोहरा)

संजिम के सु प्रगट कहे द्विविध प्रकार सु भंग।
यह छेदोपस्थापना अंतरंग बहिरंग ॥१९॥

अर्थ :—यहाँ छेदोपस्थापना संयम के दो भेद कहे हैं – अंतरंग छेदोपस्थापना तथा बहिरंग छेदोपस्थापना।

आगे मुनिपद कौं भंग के कारन परद्रव्यनि के संबंध हैं तातैं पर के संबंधनि विषैं यह कथन करैं[1] हैं।

१. ख प्रति में नहीं।

(सवैया तेईसा)

जे समिता रस लीन महा मुनि
आप विषैं अपनौं रसु चाखैं।
कै गुरु पूज्य सु पास रहै
अथवा सु विहार करै मल नाखैं।
इष्ट अनिष्ट विषैं पर रूप
जुरै तसु जो गुन ही[1] अभिलाषैं।
अंतर जो बहिरंग सु संयम
कौ सु विनास न होहि सु राखैं॥२०॥*

अर्थ :– जो महान् मुनिराज समता रस में लीन होकर अपनी आत्मा के भीतर अपने ही आनंद रस का रसास्वादन कर रहे हैं अथवा अपने पूज्य गुरु के पास रहते हैं तथा विहार करते हुए अपने दोषों को दूर कर लेते हैं। इष्ट-अनिष्ट रूप पर विषयों के संयोग बनते हैं अर्थात् इष्ट-अनिष्ट सामग्री का जुड़ाव बन भी जाता है तो वह उसमें यह गुन देखते हैं कि यह संयोग मेरे पूर्व कर्म के उदय से संभव हुआ है इसमें किसी का कोई दोष नहीं है। अच्छा ही है कि अब मेरे इन संयोगों को मिलाने वाले कर्मों की निर्जरा हो रही है। मैं तो उनसे मुक्त हो रहा हूँ। इसप्रकार के गुन की ही अभिलाषा उनके होती है। और उनमें जो अंतरंग और बहिरंग संयम है उसे वे उसी प्रकार पालते हैं या बनाये रखते हैं जिससे उसका नाश न हो सके।

आगे मुनिपद की पूर्णता का कारन अपने आतमा का संबंध है तातैं आत्मा विषैं लगना जोग्य है, यह कथन।

(छप्पय)

जो सम्यक् दरसन सु आदि मंडित अनंत गुन।
आतम ग्यान विषैं त्रिकाल तिन्हि की प्रवर्त्ति पुन॥

---

* अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्च परिहरमाणो णिवधाणि॥(प्र सा गाथा-२१३)

१ 'जोग नहीं' ख प्रति में।

सावधान बसु बीस मूलगुन मांहि सुधी अति।
ठीक जतीत्व दसा मझार तिनकी महा सु मति॥
संजिम सुभंग बहिरंग पुनि अंतरंग करिकैं रहित।
जग मैं जिनुक्त निरखौ सु भवि सु गुरु मुक्ति मारग सहित॥२१॥*

अर्थ :– जो मुनिराज सम्यग्दर्शन आदि अनंत गुणों से मंडित हैं तथा जिनकी प्रवृत्ति हर समय आत्मज्ञान में या उसके विषय में ही रहती है। जो सुधी मुनिराज अट्ठाइस मूलगुणों के पालन में अति सावधान हैं और समीचीन जतीत्व दशा में ही जिनकी बुद्धि लगती है तथा जो संयम में लगने वाले बहिरंग व अंतरंग दोषों से रहित हैं और मुक्तिमार्ग से सहित हैं ऐसे सुगुरु को तुम हे भव्य! इस जगत् में जिनोक्त मार्गानुसार सही एवं हितकारी जानो।

आगे मुनि कैं निकटवर्ती जद्यपि सूक्ष्म परद्रव्य भी हैं तथापि तिसही विषैं इस मुनि कौं राग भाव करि संबंध निषेध है, यह कथन।

(छप्पय)

कारन देह जतित्व ग्रहै भोजन सु हेत पुनि।
असन छोड़ि अनसन करै सु विहार कर्म मुनि॥
बसै गुफादिक मांहि धरै सतसंग जतीसुर।
पुग्गलीक चरचा सु बात कहिवै न आनि उर॥
परद्रव्य स्वरूप परिग्रह देखो भवि सूछम यहै।
जासौं संबंध ममत्व करि महामुनि सु नांहीं चहै॥२२॥**

(दोहरा)

जो पर भावनि के विषैं ममिता करि इकमेक।
हिंसा मुनिपदभंग की कारन यहै सु एक॥२३॥

अर्थ :– मुनिराज जतित्व धर्म का पालन करने के कारण ही देह को

* चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्ण सामण्णो॥(प्र.सा. गाथा-२१४)

** भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि॥(प्र.सा. गाथा-२१५)

धारण करते हैं तथा देह की स्थिति के लिये भोजन ग्रहण करते हैं। देह से राग तोड़ने के लिये असन-भोजन पान छोड़कर अनशन करते हैं। लोगों से या जगह विशेष से राग छोड़ने के हेतु मुनिराज विहार करते रहते हैं। वे गुफा आदिक में बसते हैं, यतियों के अधिपति केवली भगवान् गणधरादिक आचार्य भगवन्तों की सत्संगति करते हैं। पौद्‌गलिक चरचा करते हैं या उसकी बात कहते हैं तो वे उसमें रस नहीं लेते हैं। पौद्‌गलिक बातों या चर्चा में उनका मन नहीं लगता है, वे आत्म व्यापार में ही लगे रहते हैं, उन्हें पर से निवृत्त और स्व में प्रवृत्त होने की चिन्ता रहती है एतदर्थ ही वे यत्किञ्चित् पुद्‌गल की बात भी करते हैं। परद्रव्य का सूक्ष्म भी परिग्रह मुनिराज के नहीं होता है। हे भव्य! परद्रव्य की चिन्ता में लगना या उसकी ही बातों में लगने रूप यह सूक्ष्म परिग्रह भी अगर उनके देखा जाता है तो उसके संबंध से ममत्व करना महामुनि नहीं चाहते हैं।

जो परभावों के बारे में ममत्व करके एकमेक हो रहे हैं सो यह उनके लिये मुनिपद के भंग के लिये कारण स्वरूप एक प्रकार की हिंसा ही है।

आगे कहैं हैं के मुनि के सुद्धोपयोगरूप यतित्व का कौन भंग है यह कथन।

(कुंडलिया)

मुनिकैं सोवौ बैठिवौ चलिवौ आदि सु और।
क्रिया विषैं सु जतन विना करै प्रवर्तन ठौर॥
करै प्रवर्तन ठौर 'जो न'[1] करनी सुखकारी[2]।
सदा सुद्ध चैतन्य प्रान की घातनहारी॥
जिन आगम मैं कही भव्य सरदही सु सुनिकैं।
इहि प्रकार यह ठीक है जु हिंसा पुनि मुनि कैं॥२४॥*

अर्थ :– मुनिराज के सोना (शयन), बैठना (आसन), चलना (गमन) आदि क्रियाओं में तथा स्वाध्याय, उपदेश आदि अन्य क्रियाओं में यदि यत्न

---

* अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा या संतय त्ति मदा॥(प्र.सा. गाथा-२१६)

१. 'जोग' ख प्रति में। २. दुखकारी क प्रति में।

के विना प्रवृत्ति होती है या ठहरना होता है तो उनका वह जो प्रवर्तन या ठहरना है, वह सुखकारी नहीं है क्योंकि उनकी वह क्रिया सदैव शुद्ध चैतन्य प्राणों का घात करने वाली है। इसप्रकार से यह मुनि के एक प्रकार की हिंसा ही कही गयी है, सो ठीक है। यह बात जिनागम में कही गयी है सो हे भव्य! तुम इसे सही सुनकर इसका ऐसा ही श्रद्धान करो।

आगे अंतरंग बहिरंग के भेद करि संजिम के घात दोइ भांति दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

मुनि की [1]हलन चलनादि क्रिया जासौं और
अन्य जीव 'मरैं वा न'[2] मरै ठीक यही है।
जत्न विनु क्रिया की प्रवर्त्ति जो अजत्याचार
सहित जती सु जाकैं महां हिंसा सही है॥
''समित प्रकार पंच विषैं जो सम न जाकी
जत्न करि कैं प्रवर्त्ति सु न सरदही है।''[3]
सोई मुनिराज कैं सु बहिरंग जीवघात
तैं सु बंध नहीं जैन ग्रंथ[4] मांहि कही है॥२५॥*

अर्थ :— मुनि की हलन चलनादि क्रिया एवं और भी अन्य कोई क्रिया होती है। जिन क्रियाओं से अन्य जीव मरैं अथवा न मरें किन्तु यह सही है कि यत्नाचार के विना की गयी यह क्रिया अयत्याचार प्रवृत्ति रूप है और उससे सहित यति हिंसक ही है, क्योंकि उसके जो यह हिंसा है वह महाहिंसा है। यह कथन जिनागम की दृष्टि से सही है। पाँच प्रकार की समितियों के पालन में जिस मुनि की समदृष्टि नहीं है तो यत्न करिके भी उसकी जो प्रवृत्ति है वह सम्यक् नहीं मानी गयी है। इसलिये मुनिराज के यत्नाचारपूर्वक आचरण करने पर जो बहिरंग जीवघात हो जाता है, उससे बंध नहीं होता है, यह बात जैनग्रंथों में स्पष्ट कही गई है।

---

* मरदु व जियदुव जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥(प्र.सा. गाथा-२१७)

१. 'सुहलन' क प्रति में। २. ख प्रति में नहीं है। ३. ख प्रति में नहीं है। ४. 'पंथ' क प्रति में।

आगे कहैं हैं के सर्वथा प्रकार अंतरंग सुद्धोपयोग रूप संजिम का घात निषेधना योग्य है।

(सवैया इकतीसा)

जत्याचार क्रिया कौ सु नहीं है जतन जाकैं
षटकाय की विरोधनां[1] सौं जो समल है।
ऐसौ मुनि कह्यौ है सु बंध कौ करैया भैया
निरबंध दसा[2] कौ सु कैसेकैं थमल है॥
जती की क्रिया कौं आचरैया साध जतन सौं
सदाकाल जाकौ निज आतमा अमल है।
बंध रूप लेप तैं सु जुदौ रहै सरवथां
पानीथैं[3] निदान जैसें बाहिरै कमल है॥२६॥*

अर्थ :– जिसके यति के योग्य आचार क्रिया के लिये जतन नहीं है तथा षट्काय की विरोधना-विराधना से जो समल-मलिन हैं सो भैया ऐसे मुनि को बंध का करैया कहा गया है। तो फिर उसके निर्बंध दशा का होना किस कारण से माना जा सकता है। इसके विपरीत जो साधु यति की क्रिया को योग्य रीति से जतन पूर्वक आचरता है तो सदाकाल उसका आत्मा अमल है, निर्मल है। वह तो बंध रूप लेप से सदा और सर्वथा जुदा ही रहता है वैसे ही जैसे पानी में कमल पानी से जुदा ही रहता है।

आगे सर्वथा प्रकार अंतरंग संजम का घातक है तातैं मुनि कौं सर्वथा परिग्रह निषेध है।

(दोहरा)

मुनि कै संजिम की सु पुनि परिग्रहा करि हानि[4]।
सो वरनौ समुझौ सु भवि हियैं प्रतग्या आनि॥२७॥

---

* अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जद जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो॥(प्र.सा. गाथा-२१८)

१ 'विरोधणां' क प्रति में। २ 'दसो' ख प्रति में।
३. 'पानीतैं' ख प्रति में। ४. 'हाँन' ख प्रति में।

अर्थ :– परिग्रह से मुनि के संयम की हानि होती है क्योंकि अंतरंग-बहिरंग परिग्रह ही संयम के छेद का कारण है। इस प्रकार छेदोपस्थापना संयम का वर्णन आचार्य भगवन्तों ने किया है। हे भव्य! तुम अपने मन में संयम के लिये प्रतिज्ञा धारण करने की यह बात अच्छी तरह से समझ लो।

(छप्पय)

क्रिया जतीश्वर कैं सु हलन चलनादिक जो है।
जासौं[1] त्रस थावर सु जीव तिन्हि कौ वध हो है॥
जहां[2] बंध मुनि कैं न[3] होहि पुनि 'दो हि'[4] सु नांहीं।
कर्म लेप लागै 'मुनि कौं पुनि'[5] परिग्रह सौं[6] जगमांही॥
यह[7] जानि जिनेस्वर प्रथम ही छोड़ि परिग्रह वन बसैं।
अपनी सु सक्ति सौं आप हुं आप स्वरूप विषैं रसैं॥२८॥*

अर्थ :– यतीश्वर अर्थात् मुनिराज के जो भी हलन चलनादिक क्रिया होती है। तथा उससे यदि त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है तो ऐसी अयत्नाचार पूर्वक क्रिया करने से मुनि को निश्चित ही त्रस स्थावर हिंसा का दोष लगता है। जहाँ मुनि के बंध नहीं होता है वहाँ नियम से त्रस स्थावर हिंसा का वध अथवा अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं होता है। तथा इस जगत् में मुनि को परिग्रह से कर्म बंध अवश्य ही होता है। यह बात जानकर तीर्थंकर (जिनेश्वर) भी गृह त्याग करके अर्थात् परिग्रह छोड़कर के बन में रहते हैं और अपनी ही शक्ति से अपने ही स्वरूप में स्वयं ही रमण करते हैं, स्वानुभूति का ही रसास्वादन करते रहते हैं।

आगे अंतरंग के भावनि[8] सौं बाह्यज परिग्रह का[9] जु त्याग है सो अंतरंग सुद्धोपयोग रूप संजम के[8] घात का निषेध[10] ही है।

---

* हवदि व ण हवदि बधो मदम्हि जीवेध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिव्वा सव्वं॥(प्र.सा. गाथा-२१९)

१. 'जौं' ख प्रति में। २. 'जहा' क प्रति में। ३. 'सु' दोनों प्रतियों में। ४. 'होय' ख प्रति में। ५. दोनों प्रतियों में नहीं। ६. 'करि' क प्रति में। ७. 'जहां' क प्रति में। ८. 'भाव' क प्रति में। ९. 'का' क प्रति में। १०. 'निषेद' क प्रति में।

(सवैया तेईसा)

जो मुनि बाहिज के तुस तुल्य,
परिग्रह सौं अनुराग करै है।
तौ तिन्हि कौ चितु होहिं[1] न सुद्ध
महा अति चंचलता सु धरै है॥
निर्मल जो उपयोग स्वरूप सु
है परिनाम मलीन परै है।
सो बसु कर्मनि कौं हनि कैं
पुनि क्यों भवसागर पार तरै है॥२९॥*

अर्थ :– जो मुनि तुस तुल्य अर्थात् तिनके के समान भी बाह्य परिग्रह से अनुराग करता है तो वह अत्यधिक चंचल बना रहता है और उसका चित्त शुद्ध नहीं होता है। इतना ही नहीं उनके निर्मल उपयोग स्वरूप ज्ञानादिक के परिणाम भी मलिन हो जाते हैं तो फिर क्यों अर्थात् किस कारण से आठों कर्मों का हनन करके वे भव सागर से पार तिरते हैं ? नहीं तिरते हैं यह यहाँ स्पष्ट हो जाता है इसप्रकार मुनि को बाह्य परिग्रह का होना अत्यधिक अहितकर है।

आगे कहैं हैं कै सर्वथा प्रकार अंतरंग संजम का घात परिग्रह ही सौं हो है।

(छप्पय)

क्यौं न होहिं[2] सो होत परिग्रह के ममत्व मति।
परिग्रह करि क्यौं न होहिं[3] आरंभ क्रिया अति॥
जंह ममत्व परिनाम और आरंभ क्रिया पुनि।
निज संजम घातक तहाँ सु वह क्यौं न होहिं[4] मुनि॥
परद्रव्य स्वरूप परिग्रह विषैं प्रीतिकरि अनुसरै।
सो जती सु सुद्ध निजवस्तु कौ किहि प्रकार अनुभव करै॥३०॥**

---

* णहि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो॥(प्र.सा. गाथा-२२०)

** किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि॥(प्र.सा. गाथा-२२१)

१-२-३-४. 'होय' ख प्रति में।

अर्थ :– परिग्रह के होने से उसमें ममत्व बुद्धि क्यों नहीं होय अर्थात् अवश्य होय ही होय। परिग्रह बढ़ने पर आरंभ क्रिया क्यों नहीं बढ़ती है अर्थात् अवश्य बढ़ती जाती है। तथा जहाँ पर ममत्व परिणाम और आरंभ क्रिया होती है वहाँ वह ममत्व परिणाम और आरंभ क्रिया संयम की घातक क्यों न होयेगी? अवश्य ही होवेगी। अतएव जो मुनि परद्रव्य स्वरूप परिग्रह में प्रीतिकर उसका अनुसरण करता है सो वह यति अपनी शुद्ध आत्म वस्तु का अनुभव किस प्रकार कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता है। यहाँ परिग्रह के प्रति लगाव तक को अनुभव में बाधक बताया है।

(दोहरा)

काहू इक मुनिराज कैं कहूं कौन हूं काल।
काहूं[1] एक प्रकार करि कछू परिग्रह हाल॥३१॥

अर्थ :– किसी भी मुनिराज के कहीं पर, कभी भी, किसी भी प्रकार से जो कुछ भी परिग्रह हो तो अब उसका हाल कहते हैं। उत्सर्ग मार्ग में परिग्रह सर्वथा निषिद्ध है तथापि अपवाद मार्ग में कुछ परिग्रह मुनि के लिये ग्राह्य है जैसे संयम का उपकरण पीछी, शुचिता का उपकरण कमण्डलु तथा ज्ञान का उपकरण शास्त्र वगैरह। यहाँ अब उस ही परिग्रह के हाल को बताने की बात कही गयी है।

आगे सो परिग्रह बतावैं हैं।

(कवित्त छंद)

ग्रहन त्यागि करि सेवन हारी
जिहि करि तिहि परिग्रहा काज।
पुनि सोई परिग्रहा सौं निज
संजिम[2] घात करौ न उपराज॥
तिस ही परिग्रहा करि जग मैं
मुनिवर की है[3] प्रवर्त्ति सिरताज।

---

१ 'काइं' क प्रति में। २. 'सयम' ख प्रति में। ३. क प्रति में नहीं।

काल देखि पहिंचानि छेत्र यहु
धर्मवंत तिन्हि कौ सु इलाज ॥३२॥*

अर्थ :— जिस कारण से जिसका ग्रहण त्याग द्वारा व्यवहार किया जाता है या जिसको उपयोग में लिया जाता है उसी कारण से उसे परिग्रह कहते हैं। वे वस्तुयें ही परिग्रह कहलाती हैं जिनके ग्रहण करने का राग या छोड़ने का द्वेष किसी को होता है। मतलब यह है कि कोई भी वस्तु राग-द्वेष-मोह से संस्कारित हुये विना परिग्रह नहीं कहलाती है। यहाँ स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु का परिग्रह मोह-राग-द्वेष के विना संभव नहीं है।

तथापि मुनिराज को भी देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार कुछ का ग्रहण और त्याग करना ही पड़ता है। जिसका सेवन-उपयोग मुनि ग्रहण त्याग द्वारा कर सकते हैं, वे पीछी-कमण्डलु शास्त्र आदि उपकरण हैं। वे आत्मद्रव्य से भिन्न होने के कारण परद्रव्य हैं, परिग्रह हैं; किन्तु इस पंचमकाल में तथा मनुष्यादि संकुल क्षेत्र में, जहाँ संहननादि की तो हीनता है ही, श्रेणी माँड़ने योग्य शुद्धोपयोग परिणति का अभाव भी साधक आत्मा या साधु के बताया गया है। अत: अपवाद स्वरूप कुछ वस्तुओं के ग्रहण-त्याग का विधान साधु के लिये किया गया है। वह भी इसीलिए कि उससे उनके अपने संयम का घात नहीं होता है। उनका यह उपराग द्रव्यलिंग में तथा तीनकषाय के अभाव स्वरूप वीतराग परिणति के एवं शुद्धोपयोग के बने रहने में बाधक नहीं है। यही कारण है कि पीछी-कमण्डलु एवं शास्त्रादिक उपकरण रखकर भी, मुनिराज सिरताज अर्थात् सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वपूज्य होते हैं। देशकाल की परिस्थिति को जान-पहिचान करके ही धर्मवन्त जीव अपने रोग का अर्थात् परिग्रह संबंधी मूर्च्छा या रागादिक का इलाज करते हैं। यही सही पद्धति है।

आगे जो परिग्रह मुनि कौं निषेध नाहीं तिसका स्वरूप दिखावै है।

---

* छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥(प्र.सा. गाथा-२२२)

(सवैया इकतीसा)

जे जन असंजमीन तिन्हिकौं उपाधि जोग्य
मांगिवे कौं मुनि[1] के न भलौ सो निवाहीं है।
ममिता आरंभ हिंसा आदि जो सुभाव[2] जाके
उपजाइवे[3] की सक्ति नहीं तिस मांही है॥
पूरव ही कह्यौ है निदान सो जती कौं लीन
तार्थें और सूछम[4] उपाधि लीन नांही है।
साधु[5] अपवाद मारगी सु ऐसौ परिग्रहा
ग्रहै निरदोष जाकैं बंध की न छांही है॥३३॥*

अर्थ :– जो लोग असंयमी हैं, उनके योग्य जो उपाधि (परिग्रह) है, वह मुनि के लिए भली नहीं है। मुनि को तो संयम, शुचिता और ज्ञान के उपकरण के रूप में पीछी, कमण्डलु एवं शास्त्र आदि का ही परिग्रह ग्रहण करने योग्य है; किन्तु श्रावकों के द्वारा माँगे जाने पर उसे अपने पास रखना योग्य नहीं है अथवा ये उपकरण भी श्रावकों से माँगना योग्य नहीं है।

इसप्रकार अपवाद मार्ग में भी विवेक का सदुपयोग करते हुए उन उपकरणों को ही अंगीकार करते हैं, जिनके ग्रहण करने से मुनि में ममता, आरंभ, हिंसा आदि के विकार पैदा न होवें। यहाँ स्पष्ट है कि मुनि अपवादमार्ग का अनुसरण करते हुए उन्हीं पदार्थों का ग्रहण करे, जिनमें ममत्व, आरंभ, हिंसा आदि पापारंभ स्वरूप क्रिया के होने में निमित्त बनने की शक्ति न हो तथा इन सब विकारी भावों से बचने के लिए निदान स्वरूप उपाय पहिले ही कहा जा चुका है कि साधु (जति) को अपने में ही मग्न रहना चाहिए। चिदनुभूति के प्रयास में रत साधु के स्वभाव लीनता स्वरूप सन्मुखता सहज हो जाती है। इसलिए स्वरूप निमग्नता रूप लीनता से सभी उपाधियों का निदान संभव है - ऐसी

---

* अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं॥(प्र.सा गाथा-२२३)

१. 'मुन' ख प्रति में। २. 'स्वभाव' ख प्रति में। ३. 'उपजायवे' ख प्रति में। ४. 'सूक्ष्म' ख प्रति में।
५ 'साध' दोनो प्रतियों में।

कोई सूक्ष्म उपाधि (परिग्रह) नहीं है, जिसका निदान (इलाज) स्वरूप लीनता में नहीं हो। इसप्रकार से अपवादमार्गी साधु निर्दोष अर्थात् दोषोत्पत्ति में निमित्त न बन सकने वाला उपकरण ही ग्रहण करे, जिसके ग्रहण करने से बंध की छाँह न मिले, मोहादिक उत्पन्न न हो सकें और बंध की परिपाटी न चल पाये क्योंकि आत्मा में मोहादिक का हो जाना ही बंध को प्रश्रय देना है अर्थात् बंध की छाँह है।

आगे उतसर्ग मार्ग ही वस्तु का धर्म है अपवाद नाँहीं, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

जो है मोख कौ सु अभिलाषी महा मुनिराज
जाकैं जो[1] परिग्रह कह्यौ सु एक अंग है।
ऐसी जिनवांनी[2] ममिता सौं अंग क्रिया के सु
त्याग कौ सु[3] उपदेश दियौ सरवंग है।।
सो विचारिकैं वितर्क धरौ उर माहिं भव्य
तौ भी मुनि कैं कछू कहा भी और संग है।
उतसर्ग और अपवाद मारगी महंत
तिन्हि कैं न संग अंतरंग बहिरंग है।।३४।।*

अर्थ :—जो महान् मुनिराज मोक्ष के अभिलाषी हैं। उनके पीछी-कमण्डलु आदि का जो भी परिग्रह कहा गया है सो वह भी मुनि के लिये अपनी चर्या हेतु एक आवश्यक अंग माना गया है। तथापि जिनवाणी में यह उपदेश सर्वथा प्रकार से दिया गया है कि मुनि को ऐसी अंग क्रिया का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, जिससे ममता-ममत्व के होने या पनपने का अंदेशा हो। इसलिए हे भव्य ! जिनवाणी के उपदेश को तुम अच्छी तरह विचारकर युक्ति पूर्वक अपने मन में धारण करो तथा सोचो कि पीछी-कमण्डलु आदि के अलावा भी मुनि के कुछ भी और कैसे भी अर्थात् किसी भी अपेक्षा से कोई संग (परिग्रह)

---

* किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ।।(प्र.सा गाथा-२२४)

१ 'जु' ख प्रति में। २. 'जिन जानि' क प्रति में। ३ दोनों प्रतियों में नहीं।

होता है तो तुम्हें जिनागम के आलोक में ज्ञात हो जायेगा कि उत्सर्गमार्गी या अपवादमार्गी मुनिवरों के पास संयमोपकरण पीछी, शुचिता का उपकरण कमण्डलु तथा ज्ञानोपकरण शास्त्रादि के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अंतरंग-बहिरंग परिग्रह नहीं होता है।

आगे अपवाद कौंन भेद तैं है सो दिखाइये है।

(सवैया इकतीसा)

जती कौं स्वरूप जैसौ वाहिये सरीराकार
द्रव्यलिंग तैसा[1] हू न मानत अपुनिकैं।
दूजे महातपोधन कौ सु विनै पुग्गलीक
वैंन अवधारैं धर्म उपदेस सुनिकैं॥
तीसरैं परिग्रहा है सिद्धांत कौ ही[2] सु पाठ
पठन करै है सो महंत अपु धुनि[3] कैं।
वीतराग जू कौं कथे निरगंथ मोखपंथ[4]
जहाँ उपकर्न संग कह्यौ ऐसौ मुनि कैं॥३५॥*

अर्थ :– यति का बाह्य स्वरूप जो यथाजातरूप शरीराकार नग्न द्रव्यलिंग है। मुनि उस शरीर को भी वैसे ही अपना नहीं मानता है, जैसे अन्य पुद्गल संयोगी द्रव्यों को अपना नहीं मानता है। इसलिए शरीर भी मुनि के लिए परद्रव्य है और उसका मुनि के ग्रहण होने से वह उपधि (परिग्रह) ही है इसतरह एक उंपकरण तो यथाजातस्वरूप नग्न शरीर ही है। दूसरा उपकरण पौद्गलिक वचन हैं, क्योंकि वह महान् तपोधन (मुनि) गुरु के पौद्गलिक वचनमय उपदेश को विनय पूर्वक सुनकर अवधारण या ग्रहण करता है, अत: वह भी उपधि है। तीसरा परिग्रंह (उपकरण) सिद्धान्त का पठन-पाठन स्वरूप सूत्राध्ययन (स्वाध्याय) है, क्योंकि मुनि पुद्गल स्कन्धस्वरूप शब्दमय सूत्रों के अध्ययन से अपने स्वरूप को जानने की धुन में मस्त रहते हैं, एतदर्थ उसे सूत्राध्ययन की

---

* उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरूवयण पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं॥(प्र.सा. गाथा-२२५)

१ 'तैस' क प्रति में। २. दोनों प्रतियों में नहीं। ३. 'धनि' क प्रति में। ४. 'पंच' ख प्रति में।

प्रवृत्ति के पौद्‌गलिक परद्रव्यमय शब्द ब्रह्म स्वरूप परमागम का ग्रहण करना पड़ता है, अतः वह भी उसे उपधि अर्थात् परिग्रह ही है। वीतराग जू को जानने-पहिचानने के लिए या वीतराग स्वरूप अपने आत्मा को वैसा ही प्रगट जानने या करने के लिए जो निर्ग्रंथ मोक्ष का मार्ग है, उसमें ऐसे इन उपकरणों का ग्रहण मुनि के लिए कहा गया है।

आगे जो सरीर मात्र परिग्रहा कौं निषेध मुनि कैं नांहीं तिस के पालनै की विधि कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

आहार वा विहार हू[1] करम की जोग्यताई
मूल गुन आदि क्रिया की समस्त रौंस है।
सोई ग्यानवंत मुनिराज कैं सु यह लोक
विषैं कहूँ[2] न ही विषैं सुख की न[3] हौंस है ॥
परलोक कौं सु आगैं भोग की न इच्छा कछू
जाकैं विषैं भोग जे करेंछ कैंसी कौंस है।
राग दोष भाव रूप नही तिन्हि कैं कषाय
जैसैं तुस तैं निदान कैं सु जुदी धौंस है ॥३६॥*

अर्थ :—मुनि के शरीर मात्र परिग्रह होने से आहार-विहार आदि क्रियाओं का होना कर्म की योग्यतानुसार होता है। मूल गुण आदि समस्त क्रियाओं के परिपालन में यही रीति है कि वहाँ भी कर्मोदयानुसार निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ही अनुसरण होता है। सचमुच में साधुजन मूलगुणों के परिपालन में मात्र ज्ञाता-दृष्टा होते हैं और निज स्वरूप साधन में विशेष सावधान भी, अतः उनके मूलगुणादि की सभी क्रियायें कर्मोदयादि के निमित्त से सहज ही पलती रहती हैं। मूलगुणों की सहज परिपालना में वे ज्ञानी मुनिराज इस लोक संबंधी विषय सुख की कोई चाह नहीं करते हैं और न ही इस विषय में उन्हें कुछ भी

---

* इहलोगणिरवेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥(प्र.सा. गाथा-२२६)

१. 'हू' दोनों प्रतियों में नहीं। २. 'कहीं' ख प्रति में। ३. 'सु' ख प्रति में।

सचेतता रहती है। वे परलोक विषयक आगे प्राप्त होने योग्य भोगों की भी इच्छा नहीं करते हैं, उनके लिए तो इहलोक-परलोक संबंधी विषय सुख करैंच की कौंस जैसे ही भासित होते हैं। करैंच की कौंस सुन्दर-आकर्षक दिखती अवश्य है, पर उसका संसर्ग होने पर व्यक्ति को उससे विकट-भयंकर खुजली चलने लगती है और दुख का ही कारण होती है वह करैंच की कौंस। ठीक उसी प्रकार विषय भोग सुहावने लगते हैं, पर उन्हें भोगने पर जीव को आकुलता की दाह (खुजली) बढ़ती ही जाती है और दुख का ही कारण होती है वह विषय-भोग प्रवृत्ति। यहाँ विषयभोगों की तुलना करैंच की कौंस से की गयी है, जो अत्यंत सटीक है। मुनिराज के शरीराश्रित मूलगुणों आदि का परिपालन करने में रागादि की प्रवृत्ति अवश्य होती है; पर वह रागादि कषाय परिणति उनके लिए उपयोगी-महत्त्वपूर्ण नहीं है। वैसे ही जैसे तुस या उसकी धौंस (बारीक धूल) उपयोगी नहीं होती है। धान से चावल निकालने में उसे कूटना पड़ता है, फिर तुस को जुदा करने के लिए उसे अर्थात् कुटे हुए धान को ऊपर से नीचे गिराना पड़ता है। ऐसा करने पर तुस उड़कर दूर गिरता है और चावल अलग होकर नीचे ही गिरता है, इस प्रक्रिया में तुस की धौंस भी उड़ती रहती है, जिसे भोगना तो वहाँ रहने वाले की मजबूरी है, क्योंकि धान से चावल पाने की प्रक्रिया में संलग्न व्यक्ति जानता है कि तुस और उसकी धौंस मुझे अनुपयोगी है, उससे मेरी भूख मिटने का प्रयोजन पूरा होने वाला नहीं है अतः एतदर्थ वह उसे अपनाता भी नहीं है, उसे अपने से जुदा और अपने लिए अनुपयोगी ही समझता है, फिर भी उसे उस धौंस को झेलना ही पड़ता है तो वह मजबूरी ही हुई न। मजबूरी में ही सही किन्तु तुस की धौंस का सेवन है तो रोग का ही कारण। अतः निदान स्वरूप उसे रोग का कारण जानकर उससे बचने का उपाय किया जाता है। मुनिराज भी अपने आकुलतामय संसाररूपी रोग को मिटाने के लिए स्वयं में हो रही रागोत्पत्ति को ही कारण जानते हैं, अतः निदान स्वरूप रागादि परिणामों को ही अपने संसार का कारण जान लेते हैं तथा निदानन: ही रागोत्पत्ति रूप रोग के कारण से परहेज करने के लिए वे पर को जानना छोड़ने लगते हैं, पर का विकल्प तक उन्हें नहीं सुहाता है,

एकमात्र अपने शुद्धात्मा को ही जानते रहने का पुरुषार्थ ही उन्हें अपेक्षित होता है। फलस्वरूप इस प्रकार के निदान से मुनिराज के सविकल्प दशा में जो अपनी रागादि परिणति है, वह मिटती हुई मानों आत्मा से जुदी ही होती जाती है।

आगे कहैं है के जोग्य आहार-विहार करैं हैं सो मुनि साक्षात् आहार विहार तैं रहित हैं।

(सवैया इकतीसा)

मुनि कौ सु आतमा सुभाव करि आपनैं ही
पर के ग्रहन तैं वितीत निराहार है।
निराहार आतमीक दसा अंतरंग तपु
कह्यौ है सु निश्चैकरि नहिं व्यवहार[1] है ॥
'जाके अभिलाषी जती आचरैं अदोष शुद्ध
अन्य तिनिकैं अशुद्ध अन्य परहार है।'[2]
जातैं महाव्रतधारी सो है मुनिराज भारी
विगत अहारी जाकैं जीतिवौ न हार है ॥३७॥*

अर्थ :– मुनि को अपना आत्मा सदैव अनशन स्वभावी ही प्रतीति में आता है। आत्मा को परद्रव्य स्वरूप भोजनादिक पुद्‌गलों का ग्रहण होता ही नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध वशात् शरीर को भोजन की जरूरत होती है तथा आत्मा को उसे भोजन देने का राग होता है, तथापि मुनि ऐषणा दोष से रहित होकर भैक्ष्यवृत्ति को अपनाते हुए आहार लेते हैं, अत: उनका आहार लेना अनासक्त भाव से होता है। इसप्रकार भोजन में आसक्ति न होने से उनका आत्मा भोजनादि के ग्रहण करने के विकल्प और कर्तृत्व भाव से मुक्त रह कर यह जानता है कि पौद्‌गलिक शरीर में पौद्‌गलिक भक्ष्य पदार्थों का आदान स्वयोग्यता से हो रहा है, मैं तो उसमें निमित्तमात्र हूँ, भोजन क्रिया का कर्ता-भोक्ता आत्मा कदापि नहीं है। मैं तो आत्मा हूँ, अत: मैं निराहार ही हूँ, मेरा

---

* जस्स अणेसणमप्पा त पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥(प्र सा. गाथा-२२७)

१. 'विवहार' ख प्रति में। २. 'जाके..........परहार है' क प्रति में नहीं।

आत्मा तो अनशनस्वभावी होने से सदा निराहार है। इसप्रकार निराहार रहना आत्मा का स्वभाव है, अतः वह अंतरंग तप है। अंतरंग तप की दृष्टि से आत्मा सदैव अनशन स्वभावी साक्षात् निराहार है।

सो यह बात पूर्णतः यथार्थ है निश्चयनय की परिधि में कही गयी है। आत्मा निराहार है – यह बात केवल कहने के लिए ही नहीं है, क्योंकि यह व्यवहार नय का कथन नहीं है। मुनिराज अनशन स्वभावी आत्मा के आश्रय से उसे ही पाने के अभिलाषी रहते हैं, सतत स्वानुभूति करना या करते रहना ही उनका लक्ष्य होता है, एतदर्थ ही वे भोजनादि पाने के लिए भैक्ष्य शुद्धि एवं एषणा दोष से बचकर आचरण करते हुए निर्दोष शुद्ध आहार लेते हैं, वह भी तपश्चरण बढाने के लिए ही लिया जाता है। इसके अलावा अन्य कोई अशुद्ध आहार आदि का तो उनके सर्वथा परिहार अर्थात् त्याग होता है। जिसकारण से वे महाव्रतधारी हैं, उससे ही वे महान् गुरुपने को प्राप्त होने से मुनिराज हैं, इसप्रकार वे सचमुच ही विगत आहारी हैं। आहार मिलने पर जीतने का एवं न मिलने पर हारने का विचार भी उन्हें नहीं आता है। वे तो सदा अपने स्वभाव के आश्रय से वीतरागता की वृद्धि करते हुए प्रसन्न रहते हैं। हार-जीत का प्रश्न ही नहीं है।

आगे जोग्य[1] आहार काहैं[2] तैं हो है यह कहैं है।

(कुंडलिया)

मुनिकैं एक परिग्रहा देह मात्र जग मांहि।
और परिग्रह दूसरौ परमानू सम नांहि॥
परमानू सम नांहि सु तौ मुनिपद सहकारी।
क्यौं करि होहि सु तन परिग्रहा कौ परिहारी॥
देह होत संतैं न आपनी कहियतु[3] उनिकैं।
तार्थैं नहीं निषेध तन परिग्रहा सु मुनिकैं॥३८॥*

---

* केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो त तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं॥(प्र.सा. गाथा-२२८)

१. ख प्रति में नहीं। २. 'कहैं' ख प्रति में। ३. 'कहीयत' क प्रति में।

अर्थ **:–** मुनि को इस जगत् में एकमात्र देह का ही परिग्रह होता है। इसके अलावा अन्य कोई दूसरा परिग्रह परमाणु के बराबर भी नहीं होता है। परमाणु के बराबर भी परिग्रह नहीं होता है और देह का परिग्रह होता है तो यह बाधक नहीं है, मुनिपद के लिए सहकारी साधन ही है, उसमें कुछ भी अहित नहीं है; इसलिए तपश्चरण की साधना में तन की भी भूमिका सहचारीपने अपरिहार्य है। अत: यह तन भी उन्हें परित्याग करने में अर्थात् विषय भोगरूपी परिग्रहों को छोड़ने में साधनभूत है। इस देह के महाव्रतादि के पालन में सहकारी होने पर भी मुनिराज देह को अपनी नहीं कहते हैं। इसीकारण से उन मुनिराज को तन का परिग्रह का होना अर्थात् देह का होना निषिद्ध नहीं है। इस प्रकार यहाँ परिग्रहपने तन का निषेध मुनि के नहीं है – यह स्पष्ट हो जाता है।

यही बात फेरि दिढावै हैं।

(कुंडलिया)

मुनि के जद्यपि देह है जुदी जुदौ ठहराव[1]।
सो तथापि जाकैं विषैं धरै न ममिता भाव[2]॥
धरै न ममिता भाउ गहै जिनवर की अग्या[3]।
त्याग जोग[4] सवसंग जानि उर मांहि प्रतग्या॥
तन सम्हारिवौ साजिवौ सु नांही पुनि पुनि कैं।
तार्थैं नहीं निषेध तन परिग्रहा सु मुनि कैं॥३९॥

अर्थ **:–** मुनि के यद्यपि देह है, तथापि वह आत्मा नहीं है; इसलिए वे उसे अपनी नहीं मानते हैं। आत्मा और देह का ठहराव जुदा-जुदा है। देह का संयोग मुनि के जरूर है, उसके निमित्त से आत्मा संयोगीभाव रूप भी होता है; फिर भी वह उसमें ममताभाव को धारण नहीं करता है। वह जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से देहादिक में ममता भाव नहीं करता है तथा अपने मन में उन्हें छोड़ने की प्रतिज्ञा कर लेता है; क्योंकि वे देहादिक सभी परिग्रह (संयोग) छोड़ने योग्य ही हैं। देह को सम्हालना या सजाना भी मुनिराज के नहीं होता

---

१. 'ठहराउ' क प्रति में। २ 'भाउ' क प्रति में।
३. 'आम्या' ख प्रति में। ४. 'रूप' क प्रति में।

है। यही कारण है कि देह के होने मात्र से मुनिजन उसमें आसक्ति नहीं रखते हैं; अतः उनके अर्थात् मुनिराजों के तन परिग्रह का निषेध नहीं होता है।

'आगे यही बात फेरि दिखावैं हैं'[१]।

(कुंडलिया)

मुनि कैं परदरवनि[२] विर्षे न ही मगनता मित्त।
प्रगट करैं निज सक्ति बल धीरजता धरि चित्त॥
धीरजता धरि चित्त देह अनसन करि सोषत।
पर[३] अजोग्य आहार करि सु नांही पुणि पोषत॥
तप करि सहै सु त्रास लेंहि आतम रस चुनिकैं।
तार्थें नहीं निषेध तन परिग्रहा सु मुनिकैं॥४०॥

अर्थ :—हे मित्र! मुनि को परद्रव्यों के विषय में मगनता-आसक्ति, अपनत्व या अन्य रागपना नहीं होता है। वे अपनी आत्मशक्ति के बल से मन में धीरज धारण करते हैं तथा अपने आत्मशक्तिरूप बल को ही प्रगट करते हैं। इसप्रकार मन में धैर्य धारण करके देह को अनशनादि से सोखते हैं अर्थात् जब देह की माँग-जरूरत पूरी नहीं करते हैं तो शरीर सूखने लगता है उसका रस वगैरह सूखता है तो सूख जाये पर वे भूमिका के अयोग्य आहार से उस देह का पोषण नहीं करते हैं; अपितु तपश्चरण करके तथा अपनी आत्मा के सरोवर में डुबकी लगाकर, अनुभव रस को चुनकर अर्थात् बार-बार अनुभव करके त्रास रूप सभी परिषहों को सहन करते हैं, शरीर के दास नहीं बनते हैं और न ही उसकी चिन्ता करते हैं; इसलिए ही मुनिराज के तन के परिग्रह का निषेध नहीं कहा गया है।

आगे जोग्य आहार का स्वभाव कहैं हैं।

(छप्पय)

असन जोग्य इक बार जोग्य[४] नाहीं पुनि पुनि कैं।
ऊनोदर अति जोग्य पेट भरि जोग्य न मुनि कैं॥

---

१. 'पुनः' ख प्रति में। २. 'परदर्व्यन' ख प्रति में। ३. 'वर' दोनों प्रतियों में। ४. 'योग्य' ख प्रति में।

भिक्ष्या जोग्य अजोग्य है करावी अरू करकैं।
मनवंछित सु अहार जोग्य नांहीं मुनिवर कैं ॥
रस इष्टसहित सु अजोग्य पुनि नीरस असन[1] सु जोग्य है।
सब हीं अजोग्य अनुराग्य[2] करि रागरहित सो मनोग्य है ॥४१॥*

अर्थ :– मुनि के लिए दिन में एक बार ही असन अर्थात् भोजन या आहार ग्रहण करना योग्य है। बार-बार भोजन-आहार लेना योग्य नहीं है। ऊनोदर (अवमोदर्य) भोजन ही मुनि के योग्य है, पेट भर कर भोजन करना अयोग्य है। भिक्षा से भोजन-आहार प्राप्त करना योग्य है, किसी से भोजन (रसोई) करवाकर-बनवाकर या रसोई की तैयारी आदि की व्यवस्था करके आहार प्राप्त करना अयोग्य है तथा मुनि को अपने मनोवांछित अर्थात् मन में उत्पन्न इच्छा के अनुरूप आहार मिले तो उसे ग्रहण करना योग्य नहीं है। इष्ट-अभीष्ट-रुचिकर रसपूर्ण भोजन अयोग्य है तथा नीरस (स्वादहीन) भोजन-आहार योग्य है। अनुराग पूर्वक अर्थात् अभिलाषा के अनुरूप भोजन-आहार अयोग्य है तथा राग रहित भोजन मुनि के मनोज्ञ माना गया है।

आगे यह बात फेरि दिढावै हैं।

(छप्पय)

भोजन महा अजोग्य रात[3] करि जनित पाप सौं[4]।
भोजन दिन करि जोग्य पलै करूना सु आपकौं[5] ॥
अति अजोग्य आहार मांस महकौं तिहि दोषन।
सो अजोग्य आहार होहि जासौं तन पोषन ॥
मुनिवर संजिम[6] के साधिवे कौं निमित्त तन की सु थित।
तजि[7] राग दोष वैराग्यता[8] धरै अहार ग्रहै उचित ॥४२॥

अर्थ :– पापारंभ से रात में बनाया गया भोजन मुनि के लिए अयोग्य है, भोजन दिन में ही बनाया गया योग्य जानना। भोजन के मिलने में करुणा पालन

---

* एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥(प्र.सा. गाथा-२२९)

१. 'अनसन' ख प्रति में। २. 'अनुराग' ख प्रति में। ३ 'राति' क प्रति में। ४. 'कौं' क प्रति में।
५. 'अपाकौं' क प्रति में। ६. 'संजम' ख प्रति में। ७. 'तज' ख प्रति में। ८. 'वैरागता' क प्रति में।

अवश्यंभावी है। मांस या उसके संयोग वाले पदार्थों का सेवन अयोग्य आहार है। वह भोजन भी मुनि के लिए अयोग्य है, जिसके सेवन करने के पीछे शरीर को पुष्ट करने का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। मुनिवर संयम का साधन करने के लिए निमित्त रूप तन की स्थिति को सही जानते हैं और राग-द्वेष छोड़कर वैराग्य को धारण करके तप को बढाने के लिए ही आहार का ग्रहण करना उचित समझते हैं।

आगे उत्सर्ग अपवाद मार्ग विषैं आचार की थिरता कौ कारन मैत्रीभाव दिखावैं हैं।

(कवित्त छंद)

बालक वा सु वृद्ध मुनि अथवा
पीडित महारोग करि कोई।
कै पुनि भई तपस्या करिकैं
अति ही खेद खिन्नता सोई॥
माफिक[1] सक्ति आचरै अपनी
कोमल[2] कठिन क्रिया जह दोई।
मैत्री भाव दुहू सौं जामैं
संजिम[3] मूल घात सु न होई॥४३॥*

अर्थ :– श्रमण (मुनि) बालक हो अथवा वृद्ध हो अथवा किसी महारोग विशेष से पीड़ित हो अथवा काय-क्लेश आदि दुर्घट तप का आचरण करने से अत्यधिक क्लान्त-खेदखिन्न हो गया हो तो उसकी अपेक्षा से यह उपदेश है कि वह शक्ति के अनुसार उत्सर्ग मार्ग या अपवाद मार्ग को अपनाकर कोमल या कठिन तपश्चरण क्रिया वैसे ही करे जैसे उसके संयम का घात न हो। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद मार्ग में परस्पर मैत्रीभाव ही समझना चाहिए क्योंकि दोनों का प्रयोजन श्रमण (साधक मुनि) के संयम को बचाना ही है।

आगै अपवाद उतसर्ग विषैं मैत्रीभाव दिखावैं हैं।

---

* बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि॥(प्र.सा. गाथा-२३०)

१. 'माफक' ख प्रति में। २. 'कोमिल' क प्रति में। ३. 'संजम' ख प्रति में।

(सवैया इकतीसा)

देस 'सीत उस्न'[१] काल खेद पंथ कौ प्रवास
होत जो सरीर ही परिग्रहा सौं ठानिकैं।
बाल वृद्ध रोग आदिक कही जे अवस्था पांच
तिन्हि कौं विचारि देखि कैं सु और जानिकैं॥
आहार[२] अथवा सु हलन-चलनादि क्रिया
विषैं तिन्हि की प्रवर्त्ति होहि जो सु आनिकैं।
अपवादमार्गी सु उतसर्ग मारगी कैं
बंध जहाँ कह्यौ है सु थोरौ सौ निदान[३] कैं॥४४॥*

अर्थ :—श्रमण को शीतोष्ण देश-काल में जनित खेद एवं मार्ग का प्रवास होता है, बाल, वृद्ध, रोग आदि पूर्वोक्त पाँच विषम अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। उन सबको जानकर-देखकर एवं पर्याप्त विचार-विमर्श करके श्रमण शरीर को ही परिग्रह के रूप में स्वीकार करता है। तदनन्तर आहार-विहार, हलन-चलन आदि की अन्य-विभिन्न क्रियाओं में उसकी प्रवृत्ति भी होती है, सो यह सब प्रवृत्ति अपवादमार्ग या उत्सर्गमार्ग के अनुसार अपनी शक्ति को छिपाये विना सहजता से ही होती है; इसलिए अपवादमार्गी श्रमण या उत्सर्गमार्गी श्रमण दोनों को ही जहाँ भी बंध कहा है, वह थोड़ा-सा और निदान बंध के रूप में ही जानना चाहिए।

(दोहरा)

जाकैं सुनैं सु सर्दहै ग्रही मुनीश्वर होई।
यहाँ भई आचार की विधि संपूरन सोई॥४५॥

अर्थ :—आचरण विधान का प्ररूपण करने वाली जिस आचार विधि को सुनकर तथा श्रद्धान करके कोई भी यथार्थ गृहस्थ या मुनीश्वर हो जाता है। ऐसी यह आचार की विधि अब यहाँ इस ग्रंथ में सम्पूर्ण हुई।

[इति श्री प्रवचनसारमध्ये आचार विधि समाप्त।]

---

* आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो॥(प्र.सा. गाथा-२३१)

१. 'पुन दूजैं' ख प्रति में। २. 'अहार' ख प्रति में। ३. 'निदानि' क प्रति में।

(दोहरा)

अब बरनौं सिद्धांत की करि प्रवर्ति सिव पंथ।
जाकी रस उर मैं धरत त्याग रूप सब गंथ।।४६।।

अर्थ :– अब सिद्धान्त ग्रन्थों की प्रवृत्ति से ही मोक्षमार्ग का वर्णन करता हूँ, जिस मोक्षमार्ग का रसमय या सारभूततत्त्व आरंभ-परिग्रह का त्याग ही है, इस तत्त्व को ही सारे ग्रन्थों ने अपने अन्तर में समा रखा है। मतलब यह है कि ग्रन्थों में मोक्षमार्ग का निरूपण करना ही ग्रन्थकार का मूल प्रयोजन या लक्ष्य होता है, यह समझ लेना चाहिए।

(कवित्त छंद)

मुनि कैं मोख पंथ की प्रापति
भई जो सु जग में परधान।
ठीक भयौ सु और जीवादिक
जो समस्त तत्त्वनि कौ ग्यांन।।
जासौं होत है सु निश्चै करि
कैं सबै सु दुःखनि की हान।
सो जिनवर प्रनीत आगम तैं
जानौं भव्य धरि सु मन आंन।।४७।।*

अर्थ :– मुनि अर्थात् श्रमण को इस जग में जो मोक्षमार्ग की प्राप्ति हुई है। उसमें जिसकी प्रधान भूमिका है, वह जिनवर प्रणीत आगम ही है। इस आगम से ही मुनि को जीवादिक समस्त तत्त्वों का ज्ञान सही-सही (सम्यक्) हुआ है तथा आगम के सिद्धान्तों का निश्चय करके ही सभी दुःखों-आकुलताओं की हानि मुनि को हो जाती है अर्थात् सभी दुःखों या आकुलताओं से मुनि का बचाव सिद्धान्त ग्रन्थों के दिशा-निर्देशन में हो जाता है। अतः हे भव्य तुम इस

---

* एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छत्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।।(प्र.सा. गाथा-२३२)

आगम को या सिद्धान्त को अपने मन में विराजमान कर धारण करो अर्थात् उसे समझो। मुनि की सारी चेष्टायें आगम से पर्यवलोकित-निर्देशित होती हैं, अतः आगमचेष्टा अर्थात् आगमोक्त प्ररूपण को श्रमण से ज्येष्ठ माना गया है। कुन्दकुन्दाचार्य के वचन 'आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा' का रहस्य भी यही है।

आगे आगम विना कर्म न छूटैं, यह कहैं हैं।

(कवित्त छंद)

जो जग विषैं धरै मुनि मुद्रा
जिन प्रणीत आगम करि हीन।
सुद्ध जीव पर दरव आदि तन
निःसंदेह जानै न सु दीन॥
जीव अजीव के सु जानैं विनु
क्यौं कहिये जती सु परवीन।
ग्यांनावरनादिक सु अष्ट विधि
कैसैं कर्म करि सकैं हैं[1] छीन॥४८॥*

अर्थ :– जिन भगवान् द्वारा प्रणीत आगम के ज्ञान से जो हीन हैं तथा जगत् में मुनि मुद्रा को धारण करते हैं। वे दीन अर्थात् दया के पात्र हैं। निस्संदेह ही उन्हें शुद्ध जीव और शरीरादि परद्रव्यों का सही ज्ञान नहीं होता है। जीव-अजीव के यथार्थ ज्ञान के विना वे यति मोक्षमार्ग में प्रवीण-चतुर कैसे हो सकते हैं अथवा क्यों उन्हें मोक्षमार्गस्थ यति कहा जाये। आत्मा और शरीरादि परपदार्थों के स्व-पर भेदविज्ञान मूलक यथार्थ ज्ञान के अभाव में सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के विना मोक्षमार्ग ही नहीं होता है, अतः जीवादि तत्त्वों के सद्ज्ञान बिना मुनि प्रवीण कैसे हो सकता है ? ज्ञानावरणादि अष्ट विध कर्मों की हानि मुनि को मोक्षमार्ग में प्रवीणतापूर्वक उत्कर्षपने से स्थित होने पर होती है। अतः आगमशून्य तथा स्व-पर भेदविज्ञान से आत्मा और

---

* आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥(प्र.सा. गाथा-२३३)

१. 'हैं' दोनों प्रतियों में नहीं।

पर-पदार्थों को सही-सही न जाननेवाले मुनि को मोक्षमार्ग नहीं होता है और न ही कर्मों का क्षय हो सकता है। यह बात यहाँ स्पष्ट हो जाती है।

आगे मोछमार्गी जीवनि कैं एक सिद्धांत नेत्र है, यह कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

सिद्धि के निमित्त मोखपंथ के[1] जती कैं नैन
हेयाहेय जानिवे कौं आगम सु जैन हैं।
संसारी सु[2] जीवनि कैं पंच इंद्री मणु[3] नैन
जासौं जानि इष्टानिष्ट विषै रस लैंन हैं॥
मूरतीक सूछम सु वस्तु के विलोकिवे कौं
देव तिनिकैं सु एक अवधि सु नैन हैं।
सिद्धनि कैं नैन ग्यान केवल सु लोकालोक
देखिवे कौं मुक्ति विषैं महा सुख दैंन हैं॥४९॥*

अर्थ :– सिद्धि अर्थात् सिद्धदशा को पाने के लिए मोक्षपंथ के पथिक यतियों-साधुओं के नेत्र जैन आगम ही हैं, क्योंकि आगम से ही साधु हेय-उपादेय पदार्थों एवं चर्या का ज्ञान प्राप्त करते हैं। संसारी जीवों के यथायोग्यपने पांच इन्द्रियों और मन का जो संयोग पाया जाता है, उनके लिए तो मानों वही उनका नेत्र है, यहाँ नेत्र का मतलब जानने में कारण बनने वाला साधन समझना चाहिए। जिन साधनों अर्थात् इन्द्रियों और मन से संसारी प्राणी इष्टानिष्ट पदार्थों को जानने में रस लेने लगते हैं। सूक्ष्म मूर्तिक पदार्थों को जानने में रस लेने लगते हैं। सूक्ष्म मूर्तिक पदार्थों को जानने के लिए देवों तथा अन्य संसारियों के अवधिज्ञान चक्षु है तथा सिद्ध भगवन्तों के लिए जानने का साधन स्वरूप सर्व चक्षु उनका केवलज्ञान ही है, जिससे वे मुक्ति में लोकालोक को जानते हैं। यह केवलज्ञान अनंत सुख के साथ सहचरित अविनाभावी संबंध वाला तो है ही, निराकुल भी है, मात्र जानता है, अतएव वह उसे महासुख का देनेवाला कहा जाता है।

---

* आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु॥(प्र.सा. गाथा-२३४)

१. 'की' दोनों प्रतियों में। २. 'सु' क प्रति में नहीं। ३. 'मनु' ख प्रति में।

आगे आगम नेत्र करि सब देखिये है, यह कथन।

(कवित्त छंद)

जे समस्त जीवादि पदारथ
तिन्हि के बहुत भेद हैं भानैं।
आगम मांहि सिद्ध है अपनैं
गुन परजायनि[1] विषैं सु सानैं॥
जे हैं मोछमारगी मुनिवर
निज गुन के सु वेदता स्यानैं[2]।
आगम नैंन सौं सु निश्चै करि
निरखि[3] सब सु पदारथ जानैं॥५०॥*

अर्थ :– जो जीवादि सकल पदार्थ जगत् में पाये जाते हैं, उनके अनेक भेद-प्रकार हमारे द्वारा जानने में आते हैं तथा उनके गुण-पर्यायों के बारे में भी आगम में पर्याप्त स्पष्ट विचार-विवेचन उपलब्ध है। जो मोक्षमार्ग के अनुसर्त्ता मुनिवर हैं, वे अपने निज गुणों के वेदक हैं, अनुभवकर्ता हैं; अतएव वे स्याने अर्थात् अत्यधिक चतुर-सुविज्ञ अर्थात् जागरुक चेता हैं। वे आगमचक्षु से ही यथार्थ निश्चयकर समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को निरखते हैं, पहिचानते हैं और उनके ज्ञाता बनते हैं।

आगे सिद्धांत का ग्यान ताही माफिक सर्द्धान अरु ग्यान सर्द्धान संजिम सहित ये तीन हूं की एकता होहि तौ मोछमार्ग सधै, यह कथन।

(सवैय्या इकतीसा)

यह लोक विषैं जाकौं प्रथम ही सु सिद्धांत
जानिकर[4] तत्त्वनि की सरधा न[5] आई है।
जती की क्रिया स्वरूप संजिम[6] न होहि तिन्है
निश्चै करि वीतराग देव नै बताई है॥

---

* सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा॥(प्र सा. गाथा-२३५)

१. 'पर्यायन' ख प्रति में। २. 'स्यानैं' क प्रति में। ३. 'निरख' ख प्रति में। ४. 'जान' कर ख प्रति में।
५. ख प्रति में नहीं। ६. 'सजम' ख प्रति में।

संजिम[1] भये विना सु कैसैं कह्यौ जातु जती
जती कौ सु हूवौ सो तौ मुकति की साई है।
आगम कौ ग्यान सरधान होहि तत्त्वनि कौ
संजिमी सु होई[2] सोई[3] साधु[4] सुखदाई है ॥५१॥*

अर्थ :– जिनको इस लोक में सर्वप्रथम सिद्धान्त को जानकर तत्त्वों की श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है, उनको जति (श्रमण) की क्रिया पालने पर भी संयम नहीं होता है, यह बात निश्चय ही वीतराग देव की बतायी हुई है। इस स्थिति में अर्थात् संयम के विना कोई किस कारण जति (साधु) हो सकता है या कहा जा सकता है। सचमुच ही जति (श्रमण) होना तो 'मुक्ति मिलेगी' इसकी साई है, अग्रिम अनुबंध ही है। इसलिए आगम के ज्ञान से तत्त्वश्रद्धान होता है तथा तत्त्वश्रद्धान के होने पर ही कोई साधु संयमी होता है। यहाँ संयम ही साधु को सुखदायी है, यह निर्णय कर लेना चाहिए।

आगे आगम ग्यान तत्त्व सर्धान संजिमभाव इनि तीनि[5] की एकता विना मोक्षमार्ग न होइ, यह कहैं हैं।

(सवैया तेईसा)

जीव अजीव सु आदि पदारथ
होहि न जौ तिन्हि कौ सरधानी।
आगम ग्यान भयौ तिहि तौं न
वरै निश्चैकरिकैं सिवरानी॥
जद्यपि तत्त्वनि की सरधा[6] पुनि
होहि अवस्य[7] हिये महि आनी[8]।
संजिम हीन लहै सु न मुक्ति[9]
सुनौ इहि भाँति कह्यौ[10] जिनवानी ॥५२॥**

---

* आगमपुव्वा दिट्ठी ण हवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥(प्र सा. गाथा-२३६)

** ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥(प्र सा. गाथा-२३७)

१. 'संजम' ख प्रति में। २. 'होहि' ख प्रति में। ३. सोही ख प्रति में। ४. 'साध' दोनों प्रति में। ५. ख प्रति में नहीं। ६. 'सर्धा' क प्रति में। ७. 'अवस्य' क प्रति में। ८. 'मानी' क प्रति में। ९. 'मुक्त' ख प्रति में। १०. 'कहैं' ख प्रति में।

अर्थ :— जीव-अजीव आदि सात तत्त्व या नौ पदार्थ जिनागम में कहे गये हैं, उनका श्रद्धानी जो नहीं होता है, वह आगम ज्ञान होने पर भी निश्चित ही शिव रानी अर्थात् मुक्ति का वरण नहीं करता है। आगम का अभ्यास बार-बार करने से उसके हृदय में तत्त्वों की श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, यद्यपि तत्त्वों की श्रद्धा निश्चित ही उसके मन में हो जाती है, तथापि संयम से हीन होने के कारण उसको मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। इस प्रकार की बात जिनवाणी में कही गयी है। हे भव्य ! तुम उसे सुनो और सही निर्धारण करके आगमज्ञान, तत्त्व श्रद्धान और संयम – इन तीनों को युगपत् ही मुक्ति का मार्ग जानो।

आगे आगम ग्यान तत्त्वसर्धान संजिम भाव इनिकी एकता के भये संतैं आत्मा ग्यांन कौं मुख्यरूप मोछमार्ग का साधक[1] दिखावैं[2] हैं।

(कवित्त छंद)

जे अग्यान जीव यह जग में
अद्भुत क्रियाकांड करि लीन।
सौ हज्जार कोटि भव तिन्हिके
तितने कर्म होत हैं हीन॥
ग्यानी आप विषैं सु होहि थिर
क्रिया रोध जोगनि की तीन।
जितनैं कर्म करतु सो बुध भवि
पुनि उस्वास मांहिं इक छीन॥५३॥*

अर्थ :— इस जगत् में जो अज्ञानी जीव हैं, वे अद्भुत क्रियाकाण्डों में लीन हैं। उनके लाखों भवों में उतने ही कर्म कम होते हैं, जितने कर्मों को ज्ञानी अपने स्वरूप में स्थिर होकर तथा मन-वचन-काय स्वरूप तीनों योगों की क्रिया का निरोध करके अर्थात् त्रिगुप्ति परिणामों से श्वासोच्छ्वास परिमित काल में ही क्षय कर देते हैं।

---

* जं अण्णाणी कम्म खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥(प्र सा. गाथा-२३८)

१ 'साधिक' क प्रति में। २. 'दिखाइये' ख प्रति में।

आगे आत्मग्यान शून्य पुरुष कैं आगम ग्यान तत्त्व सरधान संजिम भाव इनि की एकता अकार्जकारी[1] है, यह कथन।

(कवित्त छंद)

परमानू समान अति सूछम
    दरव सरीर आदि पर जोई[2]।
तिन्हि[3] कैं विर्षै समैं सु कौन हूँ
    धरै ममत्व भाव मुनि कोई[4]॥
मोह कर्म करिकैं सु कलंकित
    द्वादशांग कौ पाठी होई[5]॥
यह निरधार है सु जिन मत में
    पावै नहीं मुक्तिपथ सोई[6]॥५४॥*

अर्थ :– परमाणु के समान अति सूक्ष्म द्रव्य तथा शरीरादि स्थूल द्रव्यरूप पुद्गलों को पर जानकर भी यदि कोई मुनि उनके विषय में कुछ भी अर्थात् परमाणु के समान थोडा सा भी ममत्व भाव धारण करता है तो वह मुनि द्वादशांग का पाठी होकर भी मोहकर्मों से कलंकित हो जाता है। ऐसे मुनि के बारे में जिनमत में निर्णय किया गया है कि वह मुक्तिमार्ग को प्राप्त नहीं करता है।

आगे जाकैं आगम ग्यान तत्त्वसरधान संजिम भाव की एकता है और आत्मा की एकता है, ताकौं स्वरूप दिखाइये है।

(कवित्त छंद)

जाकैं ईरजादि जे समितैं
    पंच पंथ पग धरत सुसोध।
जाकैं पुनि सु तीन हैं गुपतैं
    तीनि जोग तिनिकौ सु निरोध॥

---

* परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि॥(प्र.सा. गाथा-२३९)

१. 'आकार्जकारी' ख प्रति में। २. 'जोय' ख प्रति में। ३. 'तिनि' ख प्रति में। ४. 'केमि' ख प्रति में।
५. 'कोय' ख प्रति में। ६. 'होय' ख प्रति में। ७. 'सोय' ख प्रति में।

संवर है सु पंच[1] इंद्रिनि कौ
हीन कषाइ आदि जे क्रोध।
दरसन सहित संजमी सो हैं
तिन ही के हृदै सु निज बोध ।।५५।।*

अर्थ :– जिनके ईर्या आदि पाँचों समितियाँ पलती हैं, जो चलते समय रास्ते पर सावधानी पूर्वक भूमि को अच्छी तरह से देखकर ही पग धरते हैं तथा जिनके तीनों गुप्तियाँ समीचीनतया पलती हैं और तीनों योगों का भी यथासंभव निरोध होता रहता है। जो क्रोधादि कषायों का हनन-नाश करके पंच इन्द्रियों के व्यापार का निरोध कर देते हैं – ऐसे सम्यग्दर्शन से सहित संयमशील जो मुनिराज हैं, उनके हृदय में निजस्वरूप का बोध अवश्य होता है।

आगे तिन्हिकैं इस रत्नत्रय की[2] सिद्धि भई है तिनिकौं कौंन लक्षन[3] करि लखिये है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

तिन्हिकैं सु वैरी तैसौ तैसहू कुटंब सबै
तिन्हिकैं सु प्रीति तैसी तैसहू सु लखिवौ।
तिन्हि कैं समान सुख[4] और दुख[5] एक ही से
तिन्हिकैं समान है प्रसंसा निंदा करिवौ।।
लोह अरू सौंनौं दोंनों[6] तिन[7] कै बराबरि के
तिन्हि कैं सु तुल्य एक ही सु जीवौ मरिवौ।
ऐसैं महामति लियै[8] समिता सुभाव जती
देवी दास तिन्हि की प्रतग्या हृदै धरिवौ ।।५६।।**

अर्थ :– जिनको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप रत्नत्रय की सिद्धि हो

---

* पचसमिदो तिगुत्तो पचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ।।(प्र.सा गाथा-२४०)

** समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।(प्र.सा. गाथा-२४१)

१. 'पंथ' क प्रति में। २. 'को' क प्रति में। ३. 'लक्षिन' क प्रति में। ४. 'सुख्य' ख प्रति में। ५. 'दुख्य' ख प्रति में। ६. क प्रति में नहीं। ७. 'तिन्हि' क प्रति में। ८. 'लीयें' ख प्रति में।

गयी है, उनके लिए तो बैरी (बैर धारण करने वाला शत्रु) भी वैसा ही है और कुटुंबी (स्वजन-मित्र) भी वैसा ही है अर्थात् सभी समान हैं, उन्हें किसी से हित-अहित करने-कराने की चाह नहीं है। उनके प्रीति (राग) और लड़ना (द्वेष) दोनों वैसे के वैसे ही हैं जैसे उन्हें उनसे कोई मतलब नहीं है अर्थात् किसी से राग या द्वेष करना उन्हें कतई अभीष्ट नहीं है। संयोग-वियोग या पुण्य-पाप जनित इन्द्रिय सुख-दुख यदि आते हैं तो उनमें भी उनकी समदृष्टि होती है। दोनों के ही प्रति वे अनुत्सुक-उदासीन ही रहते हैं अर्थात् उनके लिए तो दोनों ही समान हैं। अगर कोई प्रशंसा या निंदा करता है तो उनके लिए दोनों ही समान हैं। वे किसी के द्वारा की गई निंदा-प्रशंसा से प्रभावित नहीं होते हैं और न ही किसी की निंदा या प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार अगर कोई उनकी निंदा-प्रशंसा करता है तो उदासीन हो जाते हैं तथा खुद किसी की भी निंदा-प्रशंसा करने में सदैव अनुत्सुक रहते हैं। उनके लिए बहुमूल्य वाली स्वर्णादि एवं अल्प मूल्य वाली लौह आदि धातुयें समान हैं; दोनों ही जड़-पुद्गल हैं तथा आत्मा के लिए अनुपयोगी बेकार ही हैं; इसप्रकार दोनों ही प्रकार की धातुओं या वस्तुओं के प्रति उनका व्यवहार उदासीनता या समानता मूलक ही होता है। उनके लिए तो मरना और जीना ये दोनों ही घटनायें तुल्य ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और शरीर का संयोग होने की घटना को जन्म, संयोग बने रहने को जीवन तथा संयोग खत्म हो जाने की घटना को मरण जानते हैं, यह सब होना स्वाभाविक एवं कर्माधीन है, उनमें मेरा कोई वश नहीं चलता है। मैं तो मात्र उनका ज्ञाता-दृष्टा हूँ। मेरा आत्मा ही मुझे महत्त्वपूर्ण है, अन्य शरीरादिक नहीं इस प्रकार मुनिराज जीवन-मरण के प्रति उदासीन रहते हैं। पंडित देवीदासजी यहाँ कहते हैं कि अपने समता स्वभाव के अवलम्बन से जगत् के प्रति समत्व की महान् बुद्धि को धारण करने वाले ऐसे यति (श्रमण) या साधु जन धन्य हैं। उनकी जीवनशैली सदैव रत्नत्रय से अनुप्राणित रहती है, अतः हमें मुनिजनों की उपासना से रत्नत्रय को धारण करने की ही अपने मन में प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

आगे जिन्हिकैं यह रत्नत्रय की पूर्ण सिद्धि भई है सो और दूसरो मुनिपद का भेद कहैं हैं।

(कवित्त छंद)

सम्यक दर्श[१] ग्यान अरु सम्यक[२]
सम्यक चरन त्रिविध परकार।
तिनि[३] कैं विषैं प्रवर्ति भलीविधि
सौं तिन्हि की सु एक हि बार।।
प्रापति भये जे सु निश्चै कौ
ते जग विषैं पुरिष अविकार।
तिनही कैं जतीत्व परिपूरन
'सो है महा मुनीश्वर सार'[४] ।।५७।।*

अर्थ :– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन प्रकार के वैशिष्ट्य से सम्पन्न होना ही मुनिराज का स्वरूप होता है। तथा उनकी प्रवृत्ति उनके ही विषय में भलीभाँति तथा एक ही साथ होती रहती है। सचमुच ही वे औपचारिक नहीं, अपितु यथार्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो गये हैं; इसलिए इस जगत् में अविकारी महापुरुष हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मंडित एवं अविकारी-निर्विकारी मुनिराजों का यतित्व परिपूर्ण होता है, सार्थक कहलाता है; वस्तुत: यही मुनित्व उनके महामुनीश्वर होंने अर्थात् अर्हत्परमात्मा बनने में सारभूत है।

आगे तिन्हि कैं एकाग्रता नांही तिन्हि कैं मोछमार्ग नांही, यह कथन।

(कवित्त छंद)

आतम दरव तैं सु निश्चै करि
भिन्न जो सु पर[५] दरव निदान।

---

* दसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगव समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं।।(प्र.सा. गाथा-२४२)

१ 'दरस' क प्रति में। २. ख प्रति में काटा हुआ है। ३. 'तिहि' क प्रति में। ४. 'सो जगजती सरस जे सार' ख प्रति में। ५ 'स्वपर' ख प्रति में।

जाकौ अंगीकार करि सु जे
मोही हौंहि रहित सरधान॥
अथवा राग दोष भावनि सौं
तिन्हि की पुनि प्रवर्ति दुखदान।
ग्यानावरनादिक सु अष्टविधि
कर्मनि सौं बँधे सु अग्यान॥५८॥*

अर्थ :– निश्चित ही आत्म द्रव्य से भिन्न जो कुछ भी है, वह सब परद्रव्य ही है। ऐसे परद्रव्यों का अंगीकार जो मुनि करते हैं, वे सम्यक्श्रद्धान से रहित होते हुए मोही हो जाते हैं अथवा राग-द्वेषादिक भावों के द्वारा ही उनकी प्रवृत्तियाँ दुःख देनेवाली अर्थात् आकुलता की जनक हो जातीं हैं और वह अज्ञानी श्रमण ज्ञानावरणादिक अष्टविध कर्मों से बँधता रहता है।

आगे कहैं हैं कै जाकैं[1] एकाग्रता की प्रापति है ताकैं[2] एकाग्रता सौं मोक्षमार्ग है।

(छप्पय)

जो निज ग्यान स्वरूप[3] जीव कौं जाननहारौ।
मोही होंहि नहीं सु देखि परदर्व[4] पसारौ॥
राग दोष जाकैं नहीं सु 'निश्चै करि एकाकी'[5]।
निश्चल एक स्वरूप पुनि सु परनति[6] है जाकी॥
सो परम विवेकी[7] यह जगत विषैं आगम उकति[8]।
ग्यानावरनादिक[9] अष्टविधि कर्म हनि सु पावैं मुकति॥५९॥**

अर्थ :– जो श्रमण या मुनि अपने ज्ञानस्वरूप जीव को जानने वाले हैं

---

* मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं॥(प्र.सा. गाथा-२४३)

**अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि॥(प्र.सा. गाथा-२४४)

१. ख प्रति में नहीं। २. 'जाके' दोनों प्रतियों में। ३. 'रूप' क प्रति में। ४. 'परदरव' ख प्रति में। ५ 'निश्चैं एकाकी' ख प्रति में। ६ 'सुपरनति' ख प्रति में। ७. 'विवेखी' दोनों प्रतियों में। ८ 'उकत' ख प्रति में। ९. 'ग्यानावरनादिक सु' ख प्रति में।

तथा परद्रव्यों के विविध परिणमन स्वरूप फैलाव को देखकर-जानकर मोही नहीं होते हैं और जिनके मन में परद्रव्य संबंधी राग-द्वेष भी नहीं होते हैं यथार्थत: जो एकाकी हैं, अपने एकत्वस्वरूप में मग्न रहने वाले हैं तथा बार-बार अपने निश्चल स्वरूप में जिनकी परिणति बनी रहती है। ऐसे वे परमविवेकी मुनिराज जगत् में यति कहलाते हैं, यह आगम की उक्ति है। इस प्रकार आगम के अनुसार यतित्व का पालन करते हुए मुनिराज ज्ञानावरणादिक अष्टविध कर्मों का हनन कर मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

(दोहरा)

जाके अवधारैं तरैं चतुरगती जलधार।
सिवमारग कौ यह भयौ संपूरन अधिकार ॥६०॥

अर्थ :– जिसका अवबोधन अर्थात् समझपूर्वक अवधारण करने से जीव चतुर्गति रूप नदी या जलधारा को पार कर लेते हैं। ऐसा यह मोक्षमार्ग का अधिकार यहाँ सम्पूर्ण हुआ।

[इति श्री प्रवचनसारमध्ये मोक्षमार्ग अधिकार समाप्त[1]।]

(दोहरा)

सुभोपयोगी की भई कथा और उत्पन्य।
तिन्हि कौं यह जग के विषैं मुनिपदवी सु जघन्य[2] ॥६१॥

अर्थ :– सुद्धोपयोग की मुख्यता से उत्सर्गमार्गी या अपवादमार्गी मुनि का वर्णन हो जाने के बाद अब उन शुभोपयोगी मुनि का कथन करना यहाँ उत्पन्य है अर्थात् प्रकट रूप से बताने योग्य है। इस जगत् में शुभोपयोगी मुनि की यद्यपि जघन्यपदवी ही मानी गयी है, तथापि उनको बताने का उपक्रम यहाँ किया जा रहा है।

---

१ 'सम्पूर्ण' ख प्रति मे।
२ 'सुघन्य' ख प्रति में।

आगे सुभोपयोगी मुनि का स्वरूप कहैं हैं।

(कवित्त छंद)

यह जगविषैं उभै विधि के मुनि
कहे जे सु जिन आगम उक्त।
एकैं सुद्धपयोग सहित हैं
एकैं सुभपयोग कौं धुक्त॥
तिनमें[1] सुद्धपयोगवंत जे
होत करम[2] आस्रवतैं मुक्त।
सुभ उपयोग मांहि पुन वर्तत।
ते मुनि सुभ सु बंध संयुक्त॥६२॥*

अर्थ :– जिनागम में बताये अनुसार ही इस जगत् में दो प्रकार के मुनि कहे गये हैं। एक तो वे मुनि हैं, जो शुद्धोपयोग की मुख्यता से शुद्धोपयोगी हैं तथा एक वे हैं जो शुभोपयोग की मुख्यता से शुभोपयोगी हैं। उनमें जो शुद्धोपयोगी मुनि हैं, वे कर्मों के आस्रव से मुक्त होते हैं; किन्तु शुभोपयोगी होने पर मुनि शुभकर्मों को बाँधता ही है अर्थात् शुभकर्मों के बंध से संयुक्त उनका आत्मा यथायोग्य काल तक संसार में ही भ्रमण करता है।

आगे सुभोपयोगी मुनि कौ लछण कहैं हैं।

(सवैया तेईसा)

जो अरिहंत सु आदिक की
निजुकैं पुनि भक्ति लगै तिहि प्यारी।
जे परमागम जुक्त महा मुनि
जू तिनि[3] कौ गुरु मानतु भारी॥
सो तिनि[4] कौं सुणि कैं उपदेस
करै अति प्रीति महाव्रतधारी।

---

* समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा॥(प्र.सा. गाथा-२४५)

१. 'तिन्हि' क प्रति में। २ 'कर्म' क प्रति में। ३-४. 'तिन्हि' क प्रति में।

'या जगमांहि सुभोपयोगी जती
की क्रिया अति आनंदकारी'[१] ॥६३॥*

अर्थ :– जो अरहंतादिक की भक्ति में खुद को लगाता है तथा उनकी भक्ति भी जिनको प्यारी लगती है। जो परमागम में अपना उपयोग लगाने वाले महान् मुनिजन हैं, यह उनको बहुत बड़ा-भारी-महान् गुरु मानता है और उनके उपदेश को सुनकर उसमें प्रीति करता है अर्थात् उसे हितकारी मानता है। इस प्रकार से अपने महाव्रतों का पालन करने वाले को शुभोपयोगी यति समझना चाहिए, इस यति की क्रिया जगत् में अत्यंत आनन्दकारी होती है अर्थात् उससे आनंद का मार्ग प्रशस्त होता है।

आगे अब सुभोपयोगी की प्रवर्ति दिखावैं हैं।

(कवित्त छंद)

जे मुनि हैं सरागचारित्री
जगमहिं सुभपयोग करि लीन।
सुद्धपयोग सहित मुनि तिनिके
कहै गुनानुवाद हो दीन[२] ॥
नमस्कार करि करि सु वंदना
खडे हौंहि आवत लखि चीन।
पीछे चलै जानि करिकैं पुनि
जिन्हिकौं आपतैं सु परवीन ॥६४॥**

अर्थ :– इस जगत् में जो मुनि सराग चारित्र का पालन करने वाले हैं, उनकी प्रवृत्ति शुभोपयोग में लीन होती है तथा जो शुद्धोपयोगी मुनि का गुणानुवाद अपने को दीन-हीन समझते हुए करता है। वंदना-स्तुति पूर्वक उन्हें नमस्कार करता है तथा यदि वे आते हुए दिखें तो खड़े होकर उनका बहुमान करता है, उनके पीछे-पीछे चलता है तथा उन्हें मोक्षमार्ग में अपने से अधिक

---

* अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेस।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता हवे चरिया ॥(प्र.सा. गाथा-२४६)

** वंदणमसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ॥(प्र.सा.२४७, पूर्वार्द्ध)

१. ख प्रति में नहीं। २ 'हीन' ख प्रति में।

प्रवीण जानकर प्रसन्न होता है। इसप्रकार शुभोपयोगी मुनि अहंकारी एवं अविनीत नहीं होता है।

आगे कहैं हैं कै सुभोपयोगी कौं सुद्धोपयोगी का[1] वैयावृत्तादि निषेध नांहीं।

(कवित्त छंद)

भयौ होहि उपसर्ग आदि करि
खेद खिन्न उत्तिम[2] मुनि कोई।
तिन्हि[3] कौ करै जो सु वैयावृत
विथा दूर[4] करिवे कौं सोई॥
क्रिया तिन्हैं करिवे सु जोग्य यह
सुभ उपयोग वंत मुनि होई।
निंदनीक नांहीं जिन्हिं[5] काजैं
मुनि के भेद हैं सु ये दोई॥६५॥*

अर्थ :– यदि कोई उत्तम मुनि उपसर्ग आदि के द्वारा खेदखिन्न हुआ हो तो कोई उत्तम मुनि उनकी व्यथा को दूर करने के लिए उनकी वैयावृत करे। यह वैयावृत्त्य क्रिया करना शुभोपयोगी मुनि द्वारा किये जाने योग्य है। मुनि की वैयावृत्ति करना शुभोपयोगी मुनि के लिए कतई निंदनीक नहीं है। शुद्धोपयोगी मुनि वैयावृत्ति करने के विकल्प से रहित होता है; क्योंकि इस विकल्प से शुद्धोपयोग हो ही नहीं सकता है। इसप्रकार यहाँ शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी ये दो प्रकार मुनि के जानने चाहिए।

आगे सुभोपयोगी मुनि की प्रवर्ति दिखावैं हैं।

(कवित्त छंद)

सम्यक दरसन ग्यान अरू सम्यक
कौ उपदेस जे सु मुख भाखैं।

---

* समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि॥(प्र.सा.२४७, उत्तरार्द्ध)

१. 'कौ' क प्रति में। २. 'उत्तम' ख प्रति में। ३. 'तिनि' ख प्रति में। ४. 'दुरि' क प्रति में। ५. 'तिन' ख प्रति में।

समाधान तिन्हि कौं सु करै अति
जे सु सिष्य साखा पुनि राखैं ।।
जे उपदेस देत पूजा कौ
फल सु ताहि नांहीं अभिलाखैं ।
सुभ उपयोगवंत मुनि कैं यह
क्रिया सुद्ध उपयोगी नाखैं ।।६६।।*

अर्थ :—शुभोपयोगी मुनि मूढतादि से रहित देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान स्वरूप सम्यग्दर्शन का और प्रमाणनय परिनिष्ठित श्रुतस्कन्ध मय शास्त्रज्ञान स्वरूप सम्यक् ज्ञान का उपदेश उनको देते हैं, जो सम्मुख आते हैं, उन्हें तथा शिष्यजनों या जिज्ञासु श्रावकों आदि की शंकाओं का समाधान करके उन्हें धर्म में दृढ करते हैं। अपने शिष्यों की शाखा अर्थात् अपने ही वंश वृक्ष को संरक्षण देते हैं, उन्हें सन्मार्ग पर रहने हेतु अशन-आसन-शयन-गमनागमनादि की यथोचित विधि बताने में प्रवृत्त रहते हैं। इतना ही नहीं उन्हें यथासंभव जिनेन्द्र पूजादिक एवं अन्य तीर्थवन्दनादि धर्मकार्यों के लिए भी उपदेश देते हैं, किन्तु उन कार्यों के फल की कोई अभिलाषा नहीं करते हैं। यह सब शुभोपयोगी मुनियों के ही संभव होता है, शुद्धोपयोगी मुनियों के नहीं। शुभोपयोगी मुनि जब इन क्रियाओं को करना-कराना छोड़ देते हैं तथा उनका विकल्प भी उन्हें नहीं रहता है तो वे ही स्वानुभूति में लीन होने से शुद्धोपयोगी हो जाते हैं।

आगे कहैं हैं कै यह क्रिया सुभोपयोगी कै है, सुद्धोपयोगी कै नांहीं।

(कुंडलिया)

सुभोपयोगी मुनि सदा संघ कौ सु विधि चारि[1]।
त्रस थावर हिंस्या रहित करनहार[2] उपकार ।।
करनहार[3] उपकार महाव्रत धरैं सु भारी।
जो वैयावृत आदि संघ कौं करै सु चारी ।।

---

* दसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहण च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य।।(प्र.सा. गाथा-२४८)

१. 'चार' क प्रति में। २-३ 'करै सु पुनि' ख प्रति में।

राखै संजिम[1] हाथ आपनौं आपु सु जोगी।
धर्म सराग विर्षे प्रधान मुनि[2] सुभोपयोगी ।।६७।।*

अर्थ :—शुभोपयोगी मुनि सदैव चतुर्विध श्रमणसंघ को त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से रहित रहने का उपदेश देता है। इसप्रकार वह जगत् के सभी प्राणियों पर उपकार करता है और त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचता हुआ सावधानी सहित प्रमादपरिणति शून्य होता हुआ महाव्रतों का धारक या पालनकर्ता बना रहता है। वैयावृत्तादि के कार्यों में यथोचित विधि से चतुर्विध संघ को सक्रिय करता है तथा अपने संयम को अपने हस्तगत रखता हुआ सावधान रहता है। चतुर्विध संघ को प्रेरित करने में अपने संयम की हानि नहीं होने देता है। इस प्रकार सरागधर्म में प्रवृत्ति करने से या उसमें प्रधान प्रेरक की भूमिका निवाहने से मुनि शुभोपयोगी होता है।

आगे ऐसी वैयावृत्तादि क्रिया मुनि न करै तौ अपनें संजिम का विरोधी होइ, यह कथन।

(सवैया तेईसा)

सेव निमित्त सु उद्यमवान भयौ
लघु साध महां सु जती[3] की।
जौ अदया जह होहि कदाच[4]।
सु थावर की अथवा त्रस जी की।।
तौ मुनि नांहि सु है गिरहस्थ
घटै[5] व्रत के सु दया[6] अति फीकी।
श्रावक कौ न अहिंसक धर्म
क्रिया तिनि[7] कौं तिहितैं यह नीकी।।६८।।**

---

* उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कामविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से।। (प्र.सा. गाथा-२४९)

** जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से।।(प्र.सा. गाथा-२५०)

१. 'संजम' ख प्रति में। २. 'मुन' ख प्रति में। ३ 'जीती' क प्रति में। ४. 'कदाति' क प्रति में। ५ 'घतै' क प्रति में। ६. 'दस' क प्रति में। ७. 'तिन्हि' क प्रति में।

अर्थ :– जो शुभोपयोगी मुनि मुनि की महा साध को अर्थात् शुद्धोपयोगी होने या सदैव बने रहने रूप अपने महान् कार्य को छोड़कर वैयावृत्त्य आदि लघु साध-अभिप्राय को ही मुख्य करके दूसरों की वैयावृत्त्यादि के लिए उद्यमशील होता है तथा जो त्रस अथवा स्थावर जीवों के प्रति कभी-कभी जैसे कैसे भी अदयावान् अर्थात् दयारहित हो जाता है तो वह उस समय मुनि नहीं है, गृहस्थ ही है। इसप्रकार उसका व्रत घट जाने से उसकी दया अत्यंत फीकी ही समझनी चाहिए। वैयावृत्त्यादि करने में त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से सर्वथा बचना असंभव होता है, इसलिए वैयावृत्त्य आदि करना श्रावक का धर्म होता है, क्योंकि उनके सर्वथा अहिंसक धर्म नहीं बताया गया है, अतएव मुनिराजों की वैयावृत्त्य आदि क्रिया करना श्रावकों को ही भली होती है।

आगे यह परोपकारवृत्ति किसकी करै, यह कथन।

(कवित्त छंद)

श्रावक[1] जती है सु जे अपनी
क्रिया करि[2] सु परिपूरन दोई[3]।
तिन्हि[4] की करै क्रिया सेवादिक
मुनि सुभोपयोगी जो होई[5]॥
जथायोग्य अनुसार जैनमति[6]
दया सहित अभिलार्षा[7] सोई[8]।
जहां होहि सुभ अल्प बंध जो
जामैं नहीं दोष पुनि[9] कोई[10] ॥६९॥*

अर्थ :– श्रावक हो या यति हो, दोनों ही अपनी-अपनी क्रियाओं से परिपूर्ण होते हैं। उनकी यथायोग्य सेवादिक क्रिया को जो मुनि करता है, वह

---

* जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो॥(प्र.सा. गाथा-२५१)

१. 'श्रावग' ख प्रति में। २. 'कर' ख प्रति में। ३. 'दोय' ख प्रति में। ४. 'तिन' ख प्रति में। ५. 'होय' ख प्रति में। ६. 'जैनमत' क प्रति में। ७. 'अभिलाषा' क प्रति में। ८. 'सोय' ख प्रति में तथा 'पोइ' क प्रति में। ९. 'पुन' ख प्रति में। १०. 'कोय' ख प्रति में।

शुभोपयोगी ही है। इस प्रकार वह अपनी भूमिकानुसार यथायोग्य विधि से कोई दया परिणाम सहित अर्थात् अनुकम्पादिक का अभिलाषी होकर जैनमती ही रहता है। उसे उसकी इस परोपकार स्वरूप दया, वैयावृत्त्यादि की शुभ क्रिया से कर्म का अल्प बंध होता है। भूमिकानुसार ऐसा होता है तो इसमें कोई दोष नहीं माना गया है। मतलब यह है कि वह इतने मात्र से धर्मविहीन पापी या दीर्घ संसारी नहीं हो जाता है – यह अभिप्राय यहाँ समझना चाहिए।

आगे किस काल धर्मात्मा का वैयावृत्त करैं, यह कथन।

(कवित्त छंद)

रोग छुधा त्रषादि अति दुद्धर
पुनि[1] परिसहादिक कौ खेद।
महा दुख सौं तौ सु तपीस्वर
सहै धरै[2] निज हृदै उमेद॥
जिन्हैं देखि सुभ उपयोगी मुनि
जे वैयावृतादि[3] के भेद।
तिन्हि[4] करि जो उपसर्ग आदि दुख
करै[5] सक्ति[6] अनुसार उछेद॥७०॥*

अर्थ :—जब किसी मुनिराज को क्षुधा, तृषा, रोग आदि परिषह के कारण अति दुद्धर-अत्यधिक विकट कोई कष्ट-खेद पैदा हो जाता है तो उस महादुख को तपस्वी मुनिराज अपने हृदय में यह उम्मीद लेकर प्रतिज्ञा ले लेते हैं कि इस परिषह को सहने में प्राण नहीं छूटे तो ही मैं अपने आत्मध्यान को छोड़कर अन्य कुछ करूँगा। इस प्रकार परीषह होने पर उनके मन में उसके दूर होने की आशा होती है, जिसे धारण किये हुए वे परिषह सहन करते हैं। अत: परिषहों या उपसर्गादिकों से खेद-खिन्न या विपद्ग्रस्त मुनि को देखकर शुभोपयोगी

---

*रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए॥(प्र.सा. गाथा-२५२)

१. 'पुन' ख प्रति में। २. 'धरि सु' ख प्रति में। ३. 'वैयाव्रतादिक' ख प्रति में। ४. 'तिन' ख प्रति में। ५. 'करी करै' ख प्रति में। ६. 'माफक' ख प्रति में।

मुनि भी वैयावृत्त्य के भेदों के अनुरूप उनके परिषह या उपसर्ग को यथायोग्य विधि से अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य ही दूर कर देता है।

आगे सुभोपयोगिन का वैयाव्रतादि के निमित्त अग्यानी लोगनि सौं भी संभाषना करैं यह कथन।

(चौपाई छंद)

"रोग करि सु पीडित मुनि आरज अथवा पूज्यनीक आचारज।
बालक और वृद्ध मुनि जे हैं जती ये सु विधि चारि[1] कहे हैं।।७१।।

(दोहरा)

तिन्हि[2] की सेवादिक क्रिया के उपकार[3] निमित्त।
जन अजान तिन्हि[4] सौं कहै वचन नेह धरि[5] चित्त।।७२।।
मुनि कौं इहि विधि की क्रिया वर्जनीक पुनि नांहि।
सुभ भावनि[6] को हेत है निसंदेह जगमांहि।।७३।।"*

अर्थ :– कोई रोग से पीडित होकर आर्त परिणाम वाले मुनि हों, कोई पूज्यनीक आचार्य हों, बालक मुनि अर्थात् बाल्यावस्था में मुनित्व धारण करने वाले हों और वयोवृद्ध मुनिराज हों। ये जो चार प्रकार के यति (मुनि) जन बताये हैं। उनको परिषहादि की दशा में देखकर उनकी वैयावृत्त्यादि रूप सेवा क्रिया से मुनि के तपश्चरण बनाये रखने रूप उपकार के निमित्त अगर कोई अपने चित्त में राग-स्नेह धारण करके किसी अन्जान जन को भी उनके उपसर्गादि व रोगादि को दूर करने के लिए कहे तो मुनि को इसप्रकार की क्रिया वर्जनीय नहीं है, क्योंकि ऐसा करना शुभोपयोगी मुनि के शुभभावों का ही हेतु है – यह बात निस्संदेह जगत् में प्रसिद्ध अथवा हितकर ही जाननी चाहिए।

आगे यह सुभोपयोग किसकैं मुख्य है, किसकैं गौन है, यह कथन।

---

* वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।।(प्र.सा. गाथा-२५३)

१. 'चार' ख प्रति में। २. 'तिन' ख प्रति में। ३. 'उपगार' ख प्रति में। ४. 'तिनि' ख प्रति में। ५ 'धर' ख प्रति में। ६. 'भावन' ख प्रति में।

(कवित्त छंद)

मुनिवर कैं सु गौनता जाकी
जे षट् काय जीव के रच्छी[1]।
पुनि[2] उत्तिम सु मुख्यता तिन्हि[3] कैं
श्रावक[4] अनोवृत्ती[5] जिन पच्छी[6] ॥
जाकी परंपरा उत्तिम[7] सुख लहै
सु होहिं मुक्तिपुर गच्छी[8]।
यह सुभराग रूप किरिया की
कही प्रवर्ति[9] जिन सु अति[10] अच्छी[11] ॥७४॥*

अर्थ :– जो मुनिवर षट्काय जीवों की रक्षा करने के कारण महाव्रती हैं, उनके लिए वैयावृत्त्यादिक रूप शुभोपयोग क्रिया करना गौणपने ही है। जैनधर्म के पक्ष को अंगीकार करने वाले अणुव्रती श्रावक हैं, उनके यह उक्त शुभोपयोग क्रिया मुख्यपने है। मुनि की वैयावृत्त्यादिक शुभक्रिया चाहे गौणपने हो या मुख्यपने हो वह दोंनो अर्थात् करने या कराने वाले मुनिराजों को परम्परा से मुक्तिपुर ले जाने वाली है अर्थात् दोनों ही मुनिराज परम्परा से मोक्ष पहुँचने वाले मोक्षमार्गी ही हैं। इस प्रकार ऐसी शुभराग रूप क्रिया में जो प्रवृत्ति होती है, उसे जिनराज ने भूमिकानुसार अत्यधिक अच्छी प्रवृत्ति कहा है।

आगे यह सुभोपयोग कैं कारन की विपरीतता तैं फल की विपरीतता दिखावै हैं।

(कवित्त छंद)

"यह सुभराग रूप जो जग मैं
कह्यौ सुभोपयोग सिरताज।

---

* एसा पसत्थभूदा समणाण वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥(प्र.सा. गाथा-२५४)

१. 'रछी' क प्रति में तथा 'रची' ख प्रति मे। २ 'पुन' ख प्रति में। ३. 'तिन' ख प्रति में। ४. 'श्रावग' ख प्रति में। ५ 'अनोपमवृत्ति' क प्रति मे। ६ 'पछी' दोनो प्रति में। ७ 'उत्तमु' ख प्रति मे। ८ 'गछी' दोनों प्रति में। ९ 'प्रवर्त' ख प्रति में। १० क प्रति में नहीं। ११ 'अछी ' दोनों प्रति मे।

जाकै विषैं अपात्र पात्र कौं
भयौ सु और भेद उपराज॥
फल विपरीत है सु अति जाकौ
बुरौ भलौ जिन जीवन काज।
जैसे जहां भूमि की जैसी
उपजै तहां तैसहू नाज॥७५॥"[1]*

अर्थ :– पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित जो शुभराग का परिणाम शुभोपयोगी मुनि के होता है वह इस जगत् में शुभोपयोग का सिरताज कहा गया है। मतलब यह है कि मुनि का शुभराग जगत् में सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि शुभोपयोग कहलाता है। जिस शुभोपयोग में पात्र-अपात्र के कारण उसके अनेक भेद हो जाते हैं, जो उपराज अर्थात् सर्वश्रेष्ठ के ही जैसे अर्थात् उसके ही समान होते है, किन्तु जिन लोगों को बुरे-भले कार्यों से मतलब होता है, उनके शुभोपयोग का फल अत्यधिक विपरीत ही कहा गया है, क्योंकि जो कार्य जिस परिणाम के होने पर होता है, उस कार्य में वैसे ही कारण रूप परिणाम का गुण आना स्वाभाविक ही है, मतलब यह है कि जैसे शुभ परिणामों के साथ जो शुभक्रिया होती है, उस शुभक्रिया में परिणामों के अनुसार ही जीव को बंधे कर्मों में फल दान सामर्थ्य पैदा होती है। वैसे ही जैसे जहाँ की जैसी भूमि होती है, वहाँ पर वैसा ही अनाज उत्पन्न होता है।

आगे कारन की विपरीतता दिखावैं हैं।

(कवित्त छंद)

अपनी बुद्धि[2] सौं सु जे जग मैं
कल्पित[3] कथन करैं अग्यान।
ताकरि[4] देव धर्म गुरु थापै
जे जन करैं जाहि परवान॥

---

* रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीद।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥(प्र.सा. गाथा-२५५)

१. यह छंद क प्रति में नहीं। २. 'बुद्ध' ख प्रति में। ३. 'कलपित' ख प्रति में। ४. 'ताकर' ख प्रति में।

तिन्हि की नियम दान व्रत तिन्हि कौ
तिनि हि विषैं मगन धरि ध्यान ॥
पुन्य रूप उत्तिम[1] सुर नर पद
लहैं जे न पावें निर्वान ॥७६॥*

अर्थ :– जो लोग अपनी बुद्धि से कल्पित अज्ञान मूलक कथन जगत् में करते हैं तथा कल्पित अज्ञानमूलक बुद्धि से देव, गुरु और धर्म की भी स्थापना कर लेते हैं और खुद जिस प्रमाण मर्यादा में ही रहते हैं उसके ही अनुसार नियम का पालन, दान, व्रत आदि का आचरण-अनुसरण करते रहते हैं तथा उनके विषय में ही ध्यान करते हैं और मगन रहते हैं। ऐसे लोग पुण्यरूप आचरण करने से देव-मनुष्यों के उत्तम पद तो प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु वे निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त नहीं करते हैं।

आगे कारन की विपरीतता तैं फल की विपरीतता और दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

महासठ लोग जे न तिन्हि[2] कैं सुभोपयोग
सुद्ध आत्मा के जानपनैं करि हीन हैं।
क्रोध मान माया लोभवंत तिन्हि कैं न बोध
विषैं रस भोग के विषैं सदा सुलीन हैं॥
तिन्हैं जे सु गुरू मानि[3] सेवैं वैयावृत्त्य करैं
प्रीति सौं अहार देत कहैं ये प्रवीन हैं।
जाकौ फल पाइ[4] ते निदान नीच देव होत
होत नर नीच पापी जे सु पराधीन हैं ॥७७॥**

अर्थ :– जो लोग महासठ अर्थात् अत्यधिक दुष्टचित्त वाले हैं, उनके शुभोपयोग नहीं होता है। वे शुद्ध आत्मा के जानपने से रहित ही होते हैं। जो

---

* छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भाव सादप्पग लहदि॥(प्र सा गाथा-२५६)

** अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठ कद व दत्त फलदि कुदेवेसु मणुवेसु॥(प्र.सा. गाथा-२५७)

१. 'उत्तम' ख प्रति में। २. 'तिन' ख प्रति में। ३. 'मान' ख प्रति में। ४. 'पाय' ख प्रति में।

क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों के वशीभूत होते हैं, जिससे उनके बोध अर्थात् ज्ञान होता ही नहीं है तथा पंचेन्द्रियों और मन के विषयों में आनन्द मानकर उनमें रमते हैं, रस लेते हैं इसप्रकार विषय भोगों में सदा मगन रहते हैं। ऐसे उनको जो गुरु मानकर उनकी सेवा करते हैं, उनकी बात मानते हैं और वैयावृत्त्य करते हैं। उत्साहपूर्वक प्रीति से आहार देते हैं और उनको चतुर-प्रवीण भी कहते हैं। इस प्रकार अपनी गुरु भक्ति रूप शुभोपयोग परिणाम का फल पाकर बे लोग निदान स्वरूप अर्थात् फलाभिलाषा के अनुसार निम्न जाति के अर्थात् भवनवासी आदि भवनत्रिक के देव हो जाते हैं या नीच नर अर्थात् कुमनुष्य अर्थात् व्यसनी, पापाचार में मग्न रहने वाले विषय सुख भोगी पापी मनुष्य हो जाते हैं। सचमुच ही वे सदा विषय भोगों के आधीन होने से सदा पराधीन होते हैं।

आगे कारन की विपरीतता तैं उत्तिम फल की सिद्धि न होइ, यह कथन।

(सवैया तेईसा)

पाप सरूप[1] सु भोग विषैं
सुकषाय[2] जिनागम मैं निरधारे।
पापिय[3] जीव जिनैं[4] पुनि[5] ये सु
उभै विधि पाप लगै बहु प्यारे॥
आपुन कौं निज मानत जे हम
हैं जग के सु विषैं गुरू भारे।
बूडत आपु सु भक्तनि के नर
क्यौं करि हौंहि सु तारन हारे॥७८॥*

अर्थ :– पाँचों इन्द्रियों और मन के द्वारा भोगों को भोगने में पापभाव ही होता है। भोग नितान्त पाप स्वरूप ही हैं तथा कषाय परिणाम भी पाप स्वरूप

---

* जदि ते विषयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।
किह ते तप्पडबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति॥(प्र सा. गाथा-२५८)

१. 'स्वरूप' दोनो प्रतियो में। २ 'सकषाई' क प्रति में। ३. 'पापी' ख प्रतियो में। ४ 'जिन्हे' दोनों प्रति मे। ५ 'पुन' ख प्रति में।

हैं, ऐसा जिनागम में निरधार पूर्वक समझाया गया है। इस जगत् में जो पापी जीव हैं, जिनको बार-बार दोनों प्रकार के पापों अर्थात् विषय भोगों और क्रोधादिक कषायों को भोगना ही बहुत अच्छा लगता है तथा जो खुद ही स्वयं को ऐसा मानते हैं कि हम इस जगत् में गुरू हैं, बहुत भारी हैं। भारी या भार स्वरूप होने के कारण वे खुद पाप के सागर में डूबते ही हैं; फिर भला क्यों अपने भक्तों को या मनुष्यों को भवसागर से पार उतारने वाले तारणहार होंगे? जो खुद पाप रुचि होकर संसार में डूब रहा है, वह दूसरों को कैसे पार लगा सकता है, अत: उन्हें किस कारण से पापों से बचा सकता है? समझ में नहीं आता है। मतलब यह है कि विषय-कषाय रूप पापों में रुचि लेने वाला वह चाहे कोई भी क्यों न हो, किसी का तारणहार नहीं हो सकता है।

आगे उत्तिम फल का कारन उत्तिम पात्र दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

एक सरूप[1] प्रवर्ति सदा तिनि[2]
की निहचै रतनत्रयधारी।
ग्यान अनेक समूह सु सेवक
पाप क्रिया तिहि के परिहारी॥
जे न धरैं नय पक्ष[3] महा मुनि
धर्म विषैं समदिष्टि पसारी।
आपु तरैं अरू औरहिं तारत
ते तिन[4] कौं तसलीम हमारी॥७९॥*

अर्थ :— एक आत्म स्वरूप में जिनकी प्रवृत्ति सदैव रहती है, निश्चित ही जो रत्नत्रयधारी हैं। उनका ज्ञान अर्थात् विवेक ही उनके सेवकों के समूह की तरह उन्हें पाप क्रिया से दूर रखता है। अत: जो सर्वथा पाप परिहारी हैं, महाव्रत के धारी हैं। ऐसे महामुनि कोई भी नयपक्ष नहीं धरते हैं और धर्म में

---

* उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स॥(प्र.सा. गाथा-२५९)

१. 'स्वरूप' दोनों प्रतियों में। २. 'तिन्हि' क प्रति में। ३. 'पछ' क प्रति में। ४. 'तिन्ह' क प्रति में।

उनकी समदृष्टि ही पसरी रहती है, मतलब यह है कि वे धर्म को कभी भी संकुचित रूप में नहीं समझते हैं, प्रमाण के पर्यवलोकन से धर्म को समझाते हैं। इसलिए वे खुद भी संसार-सागर से पार हो जाते हैं तथा दूसरों को भी पार होने में प्रेरक कारण बनते हैं। खुद तो तरते ही हैं, दूसरों को भी तारते हैं; अतः तरण-तारणहार हैं। ऐसे उन मुनिराज को हमारी तसलीम है अर्थात् उनका अभिवादन है, यह ऐसा अभिवादन है, जिसमें अभिवादन किये जाने वाले मुनिराज के वीतरागी व्यक्तित्व को अंगीकार करने की स्वीकृति होती है। मुनि श्री के पास वीतरागता के अलावा और है ही क्या, जो अंगीकार किया जाये।

आगे फेरि उत्तिम फल का कारन पात्र दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

जे सुभराग विवर्जित सुद्ध-
पयोग लियैं सिवमारग धावैं।
उत्तिम[1] राग उदै तिनि[2] कैं मुनि
जे सुभ के उपयोगि[3] कहावैं॥
ये सु उभै विधि के जु[4] महंत सु
भव्यनि[5] कौं भव पार लगावैं।
सेवक हैं तिनके[6] जन जे जग
मैं पुनि[7] ठौर सु उत्तिम पावैं॥८०॥*

अर्थ :—जो मुनिराज शुभराग से रहित होकर शुद्धोपयोग को साथ में लिये हुए अर्थात् शुद्धोपयोगी होते हुए मोक्षमार्ग में शिव (मोक्ष) के लिए दौड़ लगा रहे हैं, किन्तु पूर्वबद्ध मोहनीय के उदय में उन मुनिराज के उत्तम शुभ राग भी होता है, इससे वे शुभोपयोगी भी कहलाते हैं, इसप्रकार जो मुनिराज शुद्धोपयोग और शुभोपयोग इन दोनों विधियों के महंत बनते हैं अर्थात् सिद्ध पुरुष होते हैं सो खुद तो भव सागर से पार होते ही हैं, साथ ही इस जगत् में उनके जो सेवक

* असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयति लोगं तेसु पसत्थ लहदि भत्तो॥(प्र.सा. गाथा-२६०)

१ 'उत्तम' ख प्रति में। २. 'तिन्हि' क प्रति मे। ३. 'सुभोपयोगी' क प्रति में तथा 'सु सुभो उपयोगी' ख प्रति में। ४. 'सु' ख प्रति में। ५. 'भव्यन' ख प्रति में। ६ तिन्हिके क प्रति में। ७. 'पुन' क प्रति में।

हैं, उन भव्य जीवों को भी भव पार लगा देते हैं। इस प्रकार मुनिजन जगत् में उत्तम पद की प्राप्ति तो करते ही हैं। दूसरों को भी उत्तम पद प्राप्ति का उपाय बता देते हैं।

आगे जे उत्तिम फल के कारन उत्तिम पात्र हैं, तिन्हि की सेवा सामान्य जन[1] करै है।

(कवित्त छंद)

तिहि कारन उत्तिम सु पुरिष
जे उत्तिम[2] पात्र[3] जानि व्रत वाढै।
आवत तिन्हैं देखि[4] धरती पग
धरत सु सोधि तीनि[5] कर साढै॥
जो करतव्य है सु किरिया करि[6]
दो कर जोरि होत उठि ठाढ़ै[7]।
आदर विनै महा सु जोग्य जो
जाकै विषै होत अति गाढै॥८१॥*

अर्थ :– उत्तम फल की प्राप्ति के लिए व्रतों की बाढ स्वरूप अर्थात् अहिंसादि व्रत जिनमें समाये हुए हैं, ऐसे उत्तम पात्र स्वरूप मुनिराजों को जानकर एवं उन्हें आता हुआ देखकर उत्तम पुरुष उनको साढे तीन हाथ भूमि शोधकर यानि देखभाल कर तथा अपनी किसी भी क्रिया से किसी जीव का घात न हो, इस सावधानी से उचित कर्तव्य क्रिया का ही सम्पादन करते हैं। अपने दोनों हाथ जोड़कर खड़े होते हैं तथा आदरपूर्वक 'नमोस्तु' इत्यादि कहकर विनय क्रिया करते हैं। उत्तम फल की प्राप्ति हेतु सामान्य जन मुनिराजों के प्रति की जाने योग्य वंदनादिक क्रिया को अति दृढ आस्था से सहित होकर करते हैं तो उन्हें उत्तम फल की प्राप्ति होती है।

---

* दिट्ठा पगद वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणा किरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो बिसेसिदव्वो त्ति उवदेसो॥(प्र सा गाथा-२६१)

१. क प्रति में नहीं। २ 'उत्तम' ख प्रति में। ३. 'पातृ' ख प्रति में। ४ 'देख' ख प्रति में। ५. 'तीन' ख प्रति में। ६. 'कर' ख प्रति में। ७. 'ठानै' ख प्रति में।

आगे विनयादि क्रिया विशेषता करि दिखावैं हैं।

(छप्पय)

आपतैं सुगुन अधिक जे महापुरिष सु गाढे।
सनमुख 'आवत तिन्हैं'[1] देखि उठि होत सु ठाढे॥
आऔ-आऔ[2] कहि करैं सु अंगीकृत यैं ही।
तिन्हैं सेव संजुक्त अन्नपानी पुनि दैं ही॥
महिमा तिन्हि के गुन की कहै विनै[3] सहित कर जोरि कैं।
अति प्रीति सौं सु सिरू नाइ[4] पुनि हर्ष सहित मद छौरिकैं॥८२॥*

अर्थ :—अपने से अधिक गुणों को धारण करने वाले जो महापुरुष मुनिराज हैं, उन्हें सन्मुख आते देखकर जो उठकर खड़े हो जाते हैं तथा 'आओ-आओ' ऐसा कहकर उन्हें योग्य आसन-स्थान अंगीकार कराते हैं तथा समुचित नवधा भक्ति आदि विनय करके उनकी सेवा-पूजा करते हैं तथा उनके सेवन हेतु योग्य शुद्ध-प्रासुक अन्न-पानी देकर उन्हें आहार कराते हैं तथा विनय सहित दोनों हाथ जोड़कर और उत्साहपूर्वक शिर नवाकर (झुकाकर) एवं हर्षोल्लासपूर्वक अपना मद या अहंकार छोड़कर उनके महान् गुणों की महिमा का बखान करते हैं।

आगे जे दरवलिंगी हैं, तिन्हि की विनयादि क्रिया निषेध है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

संजिम[5] सु लीन महा तप सौं सरीर छीन
सिद्धांत कौ सु[6] पाठ पाठन जो[7] करतु है।
सबकौ जनैया जीव तिन्हिकैं विषैं प्रधान
सो पदारथनि की न सरधा धरतु है॥

---

* अब्भुट्ठाण गहण उवासणं पोसण च सक्कारं।
अजलिकरण पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि॥ (प्र.सा. गाथा-२६२)

१. 'आवततैं' ख प्रति में। २. 'आयौ-आयौ' ख प्रति में। ३. 'विनय' ख प्रति में। ४. 'नाय' ख प्रति में। ५. 'सजम' ख प्रति में। ६. ख प्रति में नहीं। ७. दोनों प्रतियों में नहीं।

ऐसो जो अरिष्टी कहिये सु मुनि मिथ्यादिष्टी
महारिसि[1] नांहि पर रूप कौं[2] सरतु है।
भास मुनि नाम जाकौ कह्यौ जिन सासन में
तरै सो न आपु जाकै तारैं को तरतु है ।।८३।।*

अर्थ :– जो मुनिराज संयम में लीन हैं, महातप का आचरण करते हैं। तपश्चरण से जिनका शरीर क्षीण (कमजोर) हो गया है तथा जो सिद्धान्त के पठन-पाठन में लगे रहते हैं। सबको जानने वाला जीव है सो सब विषयों में प्रधान है। सो वे अन्य पदार्थों को जानते हुये उसको नहीं जानते हैं। पर की जानकारी और पर का ही श्रद्धान उनके होता है, अपनी आत्मा को न जान पाने से उसकी यथार्थ श्रद्धा उनके नहीं होती है। इस प्रकार ऐसे जो अरिष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि मुनि हैं सो वे महर्षि नहीं हैं, क्योंकि उनके द्वारा परस्वरूप का ही अनुसरण होता है। जिनशासन में ऐसे मुनियों को मुनिभास कहा गया है। जो मुनि तो नहीं है, पर मुनि जैसे लगते हैं। मुनिवत् आचरण तो करते हैं, पर मुनियों जैसी वीतराग परिणति (शुद्ध परिणति) जिनके नहीं होती है, उन्हें मुनिभास (श्रमणाभास) मात्र जानना चाहिए। यहाँ ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसे मुनि संसार सागर से तरते नहीं हैं। जब खुद ही नहीं तरते हैं तो उनके तारे बताओ कौन हैं, जो तरते हैं।

आगे भावलिंगी का लछन विनयादि कहैं हैं।

(कवित्त छंद)

अति उतकिष्ट[3] परम[4] आगम के
अर्थ करन हारे सु प्रवीन।
पुनि[5] संजमी तपस्यादिक[6] गुन
सहित सुद्ध आतम रस लीन।।

---

*ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि, ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे।। (प्र.सा. गाथा-२६४)

१. 'महारिस' ख प्रति में। २. 'कौं अनु' दोनों प्रतियों में। ३. 'उतिकृष्ट' ख प्रति में। ४. 'पर्म' ख प्रति में। ५. 'पुन' ख प्रति में। ६ 'तापस्यादिक' क प्रति में।

ऐसे महारिसीस्वर तिन्हिकौं[1]
खड़े देख सनमुख हों[2] दीन।
विनै भक्ति आदर सु जोग्य है।
जिन्हि[3] कौं जोग दे सु विधि तीन ॥८४॥ *

अर्थ :– जो इस जगत् में अत्यंत उत्कृष्ट चर्या को धारण करने वाले होने से उत्कृष्ट साधु हैं। परमागम का अर्थ जानने वाले तथा दूसरों को जनाने (समझाने) में अत्यधिक चतुर-प्रवीण हैं। तपस्यादिक गुणों से संयुक्त परम संयमी हैं तथा शुद्ध आत्मा के अनुभव-रस में लीन हैं। ऐसे भावलिंगी संत महा ऋषीश्वर ही हैं, उनको खड़े देखकर उनके सन्मुख जाकर दीन होते हुये अर्थात् उन्हें अपना मद न दिखाते हुए, उनसे अपने को हीन या छोटा समझते हुए विनय-भक्ति पूर्वक समुचित आदर करना चाहिए तथा यथायोग्य विधि से तीन प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

आगे जथार्थ मुनिपद संजुक्त साधक की विनयादि जौ न करै सो चारित्र भ्रष्ट हो है, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

भगवंत की सु आग्या[4] विषैं है प्रवर्त्ति[5] जाकी।
महामुनि यह लोक विषैं जो गरिष्ट है।
ताहि दोष भाव सौं विलोकि अपवाद रूप
धरै जो अनादरी दसा हियैं कुदिष्ट है॥
विनय आदि क्रिया जैसी[6] कही सो न करै तैसी
हर्ष सौं सु तिन्हैं जो सु मानतु न इष्ट है।
ऐसौ महादोषी पापपोषी अविनै स्वरूप
जती सरवंग क्रिया तैं भयो सु भ्रिष्ट है ॥८५॥**

---

* अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
सजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥(प्र.सा. गाथा-२६३)

** अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥(प्र.सा. गाथा-२६५)।

१. 'तिनिकौं' ख प्रति में। २. 'होय' ख प्रति में। ३. 'जिनि' ख प्रति में। ४. 'अग्या' क प्रति में। ५. 'प्रवर्त' ख प्रति में। ६. 'जै' ख प्रति में।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही जिनकी प्रवृत्ति पायी जाती है, ऐसे यह महामुनि, नग्न दिगम्बर श्रमण इस लोक में गरिष्ट अर्थात् गरिमा मंडित होते हैं। उनको द्वेष भाव से देखकर जो उनके अपवाद का कथन करता है तथा उनके प्रति अनादरी अर्थात् आदरशून्य दशा को धारण करता है तो उसके हृदय में कुदृष्टि या मिथ्यादृष्टि (विपरीत मान्यता) का ही समावेश है, ऐसा मानना चाहिए। मुनि को देखकर जैसी विनय आदि क्रिया करना चाहिए, तैसी वह नहीं करता है अथवा करता है तो हर्षपूर्वक नहीं करता है अथवा वह उन मुनिवर को इष्ट नहीं मानता है तो अविनय स्वरूप होने से वह महा दोषी या पाप का पोषक ही जानना चाहिए। ऐसा आचरण करने वाला यति मुनित्व की सभी क्रियाओं से भ्रष्ट माना गया है।

आगे जो जती भाव करि उतकिष्ट है ताकौं जो आपतैं हीन आचरै सो अनंत संसारी होहि, यह कथन।

(सवैया इकतीसा)

निश्चै करि ग्यान और संजिम सु आदि महां
धरै गुन जोग्य जग कैं विषैं सु भारी है।
तिन्हि सौं सु जती और जौ भी आप विनै चाहै
ये भी जती जैसी जती की दसा हमारी है॥
तौ भी ऐसैं अहंकार सौं सु गुन आपनैं[1] ही
हतै सही जीव जो सौ अनंत संसारी है।
ताथैं आपतैं सुगुनवंत तिन्हि कौ सु संत
विनै करिवे कौं जोग्य सवै हितकारी है॥८६॥*

अर्थ :– निश्चय से अर्थात् यथार्थ में जो कोई मुनि ज्ञान, संयम आदि महान् गुणों को धारण करता है और जगत् में महान् है, ख्याति को प्राप्त है, उनसे कोई और मुनि (जती) अपनी विनय कराना चाहे और यह कहे या सोचे

---

* गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छदो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्ज गुणाधरो जदि सो होदि अणंत संसारी॥(प्र सा. गाथा-२६६)

१. 'अपनैं' ख प्रति में।

कि ये भी यति हैं और हम भी यति हैं। यतिपने की अपेक्षा तो हमारी दशा भी इनके समान ही है, कोई कम नहीं है। इस प्रकार कोई यति किसी अन्य यति से अपनी वंदना आदि के रूप में विनय कराना चाहता है तो वह यति श्रमण अपने ऐसे अहंकार (अभिमान) से अपने ही गुणों का घात करता है और यथार्थतः अनंत संसारी हो जाता है। इसलिए यदि कोई श्रमण अपने से अधिक गुणवंत हैं तो संत द्वारा भी उनकी विनय करना योग्य ही है तथा सबके लिए हितकारी भी है।

आगे आप जतिभाव करि उतकिष्ट[1] है जौ गुनहीन की विनयादिक करै तौ चारित्र तैं भ्रष्ट होय, यह कथन।

(कवित्त छंद)

जे गुनवंत हैं सु यह जग के
विर्षै महा महंत परधान।
आपतैं सु गुन हीन साधक[2] की
विनै भक्ति जो करै निदान॥
तौ मिथ्यात[3] भाव कौ प्रापति
हौहिं करि सु चारित की हांन।
यहु वैयाव्रतादि किरिया कौ
समझायो सु भेद भगवांन॥८७॥*

अर्थ :– इस जगत् में जो गुणवंत तथा प्रधान व महान् महंत हैं, यदि वे अपने से गुणहीन साधक की विनय-भक्ति किसी विशेष प्रयोजन के लिये निदान स्वरूप करते हैं तो अपने सु चारित्र की हानि करके मिथ्यात्व भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार किसको किसकी वैयावृत्यादि करना चाहिए, इस वैयावृत्य आदि क्रिया का भेद भगवान् ने हमें समझाया है।

आगे कुसंगति मनैं करैं हैं।

---

* अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता॥(प्र.सा. गाथा-२६७)

१. 'उत्कृष्ट' ख प्रति में। २. 'साध' ख प्रति में। ३. 'मिथ्याति' ख प्रति में।

(छप्पय)

आगम कौ अभ्यास तत्त्व जीवादि कथायें[1]।
जाकैं तप अधिकार चार उप समी कषायें।।
जद्यपि है इहि भांति साध भाष्यौ जिनवानी।
भेलैं रहैं तथापि जौ सु मुनि वे[2] अग्यानी।।
अपनैं संजिम[3] गुन तैं 'सु चुत'[4] होहि असंजिम[5] आदरे।
जैसैं सु अग्नि संजोग सौं 'सीतलता जलु परिहरै'[6] ।।८८।।*

अर्थ :– जो मुनि आगम का अभ्यास करते हैं, जीवादि तत्त्व की कथायें अर्थात् वार्तायें जिन्हें सुपरिचित हैं। जिनका तपश्चरण करने में अधिकार है, तपश्चरण से जिनकी कषायें उपशमित हो गयी हैं। आगम में यद्यपि इस प्रकार से साधु का स्वरूप समझाया गया है, तथापि जो मुनि लौकिक जनों के संसर्ग में रहते हैं, वे मुनि अज्ञानी हैं और अपने संयम गुण से च्युत होकर असंयमी हो जाते हैं। जैसे अग्नि के संयोग से जल अपनी शीतलता छोड़ देता है, वैसे ही मुनि लौकिक जनों की संगति करके अपने संयम गुण को गंवा बैठता है।

आगे अग्यानी[7] लौकिक मुनि का लक्षन कहैं हैं।

(छप्पय)

तिन्हि[8] निरगंथ स्वरूप होहि करि धरि सु दिक्ष्या[9]।
तप संजिम संजुक्त लेत भोजन करि भिक्ष्या[10]।।
संबंधी संसार जंत्र मंत्रादि पसारौ।
जो यह लोक विषैं करैं से जोतिष वैदारो।।
इहि भाँति है सु अग्यांन मुनि ते लौकीक कहावही।
तिनिकी संगति वरजी परम मुनि[11] कौं गुरू समझावही।।८९।।**

---

* णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणससग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।।(प्र.सा. गाथा-२६८)

** णिग्गथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि।।(प्र.सा. गाथा-२६९)

१. 'कथाअैं' क प्रति में। २. 'के' दोनों प्रतियों में। ३. 'जम' ख प्रति में। ४. 'तहीं' ख प्रति में नहीं। ५. 'असजम' ख प्रति में। ६. 'जलु सीतलता परहरै' ख प्रति में। ७. 'आग्यानी' ख प्रति में। ८. 'तिनि' ख प्रति में। ९. 'दिक्षा' ख प्रति में। १०. 'भिक्षा' ख प्रति में। ११. 'मुन' ख प्रति में।

अर्थ :– उन्होंने निर्ग्रंथ (सर्व ग्रंथि रहित नग्न) स्वरूप होकर मुनि दीक्षा धारण की है, तपश्चरण और संयम से संयुक्त होकर भोजन-आहार ग्रहण करते हैं। फिर जो संसार संबंधी प्रयोजनों को पूरा करने के लिए यंत्र-तंत्र, मंत्रादि का फैलाव फैलाते हैं और लोगों में ज्योतिष विद्या से अपना प्रभाव जमाते हैं, इस प्रकार वे अज्ञानी मुनि ही लौकिक कहलाते हैं। ऐसे लौकिक मुनियों की संगति छोड़ देना चाहिए यह बात श्रीगुरु परम अर्थात् सन्मार्गी मुनि को समझाते हैं।

आगे भली संगति करिवे जोग्य दिखाइये है।

(छप्पय)

ताथैं[1] संगति भली आप[2] सम तूल जती की।
कैं आपुनतैं गुन सिवाहि संगति अति नीकी ॥
जे मुनि हैं निहचंत मोख सुख के अभिलाषी।
तिन्हि[3] कौं उभै प्रकार यह सु सत संगति भाषी ॥
ज्यौं छांह विषैं धरिये सु जल तिहि समान होइ[4] अनुसरै।
कर्पूर उसीरादिक मिलैं सीतलता अधिकी धरै ॥९०॥*

अर्थ :– मुनि को लौकिक जन की संगति का निषेध है, इसलिए मुनि के लिए अपने समतुल्य मुनि की संगति को ही भली संगति कहा गया है अथवा अपने से ही अधिक गुण वाले की संगति करना अधिक अच्छा माना गया है, क्योंकि इसमें परिपूर्ण स्वाधीनता का ही वर्चस्व होता है, पराधीनता छूटती जाती है। इस प्रकार भली संगति को चाहने वाले मुनि निश्चित ही मोक्षाभिलाषी होते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। जैसे छाँह में जल को धरते हैं तो जल छाँह के समान शीतलता का ही अनुसरण करता रहता है तथा यदि कर्पूर, उसीरादिक शीतलता प्रदान करने वाले द्रव्य जल में मिला दिये जायें तो वह जल और अधिक शीतल हो जाता है। उसीप्रकार मुनि भी समता स्वरूपी वीतरागी

---

* तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्ख परिमोक्खं ॥(प्र.सा. गाथा-२७०)

१ 'तातैं' ख प्रति में। २. 'आ' क प्रति में। ३. 'तिनि' ख प्रति में। ४. 'हुअ' ख प्रति में।

साधक मुनियों की शरण या छाँह में रहता है तो उसकी समता-वीतरागता बनी रहती है तथा यदि उसे ध्यान आदि की प्रेरणा साधु संगति से मिल जावे तो वह और अधिक वीतरागी अथवा समतावान् हो जाता है।

(दोहरा)

यहाँ[1] आनि पूरौ भयौ सुभोपयोग दुवार।
पंच रत्न सिद्धांत कौ मुकट कह्यौ सु प्रकार॥९१॥

अर्थ :– इस प्रकार इस प्रवचनसार ग्रंथ में यहाँ आकर अर्थात् इतना वर्णन करके अब यह शुभोपयोग रूप द्वार पूर्ण हुआ। इस शुभोपयोग द्वार को यहाँ पंचरत्न सिद्धांत समझने में मुकुट अर्थात् श्रेष्ठ कहा गया है। शुभोपयोग की भूमिका में ही जीव संसार की असलियत जान पाता है। संसार के कारणों का जान पाना भी शुभोपयोग में ही संभव है, इतना ही नहीं मोक्ष और मोक्ष का साधनभूत जो रत्नत्रय है, उसे भी शुभोपयोग की भूमिका में ही समझा जा सकता है। इस प्रकार पंच रत्न सिद्धांत की समझ शुभोपयोग की भूमिका में होती है, यह कहा।

[इति श्री प्रवचनसारमध्ये सुभोपयोगाधिकार समाप्त।]

अब पंचरत्न पंच कवित्त विषैं वर्णन[2]। प्रथम संसार रत्न कहै हैं।

(कवित्त छंद)

जे जगविषैं मुनि सु जिनमत[3] में
दरवलिंग के धारनहार।
सो सरदहैं[4] पदारथ निश्चित
• हौंहि और के और प्रकार॥
ऐसे उर मिथ्यात[5] भाव धरि[6]
टोरि[7] समस्त धर्म सौं तार।
काल अनंत परावर्तन करि[8]
भटकैं जे अनंत संसार॥९२॥*

---

* जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंत फलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं॥(प्र.सा. गाथा-२७१)

१. 'इहाँ' ख प्रति में। २. 'कहौं हौं' ख प्रति में। ३. 'जिनमति' ख प्रति में। ४. 'सदहैं' ख प्रति में। ५. 'मिथ्यामति' ख प्रति में। ६. 'धर' ख प्रति में। ७. 'छोर' ख प्रति में। ८. 'दर' ख प्रति में।

अर्थ :– इस जगत् में जो मुनि जिनमत के अनुसार द्रव्यलिंग को धारण करने वाले हैं। वे जिनागम के अनुसार पदार्थों का निश्चय करके श्रद्धान करते हैं और अन्य अन्य प्रकार होते रहते हैं अर्थात् आत्मा के अनुभव को महत्त्व न देकर और-और को ही जानते-पहिचानते व आचरते रहते हैं। इस ही प्रकार पर को जानने-पहिचानने या पर शरीरादि मूलक चारित्र के पालन को ही धर्म मानकर अपने मन में मिथ्यात्व को ही धरते हैं और समस्त धर्म का मूल जो अपना शुद्धात्मा है या उसका अनुभवन है, उससे अपना तार तोड़े रखते हैं। फलस्वरूप अनंत परावर्तन काल तक संसार में भटकते रहते हैं। यही उनका अनंत संसार है।

आगे मोछ तत्त्व कहे हैं।

(सवैया इकतीसा)

मिथ्याचारतैं वितीति तिन्हि[1] के हृदे सु नीत[2]
जिन्हैं[3] एक सुद्ध[4] आतमीक धर्म भावै है।
निश्चल पदारथनि के स्वरूप कौं सु जाकै
सरधान रागदोष[5] भाव सो नसावै है।।
ऐसी परिपूरन[6] जती की जो अवस्था धरैं
सही भवनगरी विषैं सु जो न छावै है।
तिन्हि की बढाई कहिवे कौं को समर्थ भाई
थोरे[7] ही सु काल में सु हाल मोख पावै है ।।९३।।*

अर्थ :– मिथ्याचार के व्यतीत हो जाने से उनके हृदय में सम्यक् आचार आ गया है। जिनको अब एक शुद्ध आत्मिक धर्म ही रुचिकर लगता है। निश्चल ध्रुव भावों के स्वरूप को जानने से उनका सही श्रद्धान होने से जो राग-द्वेष भावों को नष्ट करता है। इस प्रकार यति की परिपूर्ण अवस्था को

---

* अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो सपुण्णसामण्णो ।।(प्र सा. गाथा-२७२)

१. 'वितीत तिन' ख प्रति में। २. 'पुनीत' ख प्रति में। ३. 'जिनैं' ख प्रति में। ४. 'सुख' ख प्रति में।
५. 'द्वेष' ख प्रति में। ६. 'परपूरन' ख प्रति में। ७. 'थोर' ख प्रति में।

धारण कर लेने से अब जो भव नगरी में छाता नहीं है अर्थात् इधर-उधर अपना प्रभाव नहीं जमाता है। यहाँ कवि कहते हैं कि ऐसे मुनीश्वरों की बढाई करने में कौन समर्थ है भाई ? फिर भी यहाँ बढाई करते हैं कि वे अल्पकाल में ही मोक्ष पा जावेंगे।

आगे मोछतत्त्व का साधनतत्त्व[1] दिखावै हैं।

(कवित्त छंद)

तिन्हि[2] समस्त पादारथ जानैं
मन सु पंच इंद्रिनि की रोक।
बाहिज कौ सु और आभ्यंतर[3]
रहित परिग्रहा सु दो[4] थोक॥
अंतरंग बहिरंग दयाजुत
तिनिकौं करत भव्य[5] जन ढोक।
अैसे मोखतत्त्व के साधक
कहैं जती[6] विषैं सु इहि[7] लोक॥९४॥*

अर्थ :– यहाँ मोक्ष का साधन तत्त्व यति को बतलाया है। यति ही मोक्ष को उपलब्ध करते हैं, अत: साधक हैं। यति मोक्ष के साधक हैं, यह बताने के लिए कहते हैं कि उन्होंने इन्द्रियाँ और मन के द्वारा विषयों को जानने की प्रवृत्ति छोड़कर अर्थात् इन्द्रिय संयम और मनो निरोध से मानों जगत् के समस्त पदार्थों को जान लिया है। जो अभ्यन्तर और बहिरंग परिग्रह से सर्वथा रहित हैं तथा अंतरंग-बहिरंग दया से युक्त हैं, उनको भव्य जन ढोक (प्रणाम) करते हैं। ऐसे परम वीतरागी स्नातक मुनि अर्हत्परमात्मा को ही मोक्षतत्त्व या उसका साधक यति समझना चाहिए। यदि अर्हत्पना मोक्षतत्त्व है तो यतिपना उसका साधक है और मोक्षपद सिद्धत्व है तो उसके लिए साधकत्व अर्हत्परमात्मा की अवस्था है।

---

* सम्म विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा॥(प्र.सा. गाथा-२७३)

१. 'सरधान' ख प्रति में। २. 'तिन' ख प्रति में। ३. 'अभ्यंतर' ख प्रति में। ४. ख प्रति में नहीं।
५. 'भव्व' ख प्रति में। ६. 'साध कहें' ख प्रति में। ७. 'यह' ख प्रति में।

आगे मोछ तत्त्व का साधनतत्त्व सर्व मनोवांछित अर्थनि कौ स्थान[1] कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

वीतरागभाव जाके हिरदैं प्रगट भये
सोई-मोख साधक जतीस्वर कहायो है।
दर्शन सु ग्यान और चरन की एकतासौं।
मोछ रूप तिन्हिं[2] कैं जतित्व पद आयौ है॥
''सवै तत्त्व कैं सु परखैया मोख के जवैया।
सिद्ध हू हैं जे सु ऐसौ पंथ तिन्हि पायौ है॥''[3]
मोख मारगी महंत सुद्ध उपयोगवंत
जाकौं देवीदास बार-बार सीसु[4] नायौ है॥९५॥*

अर्थ :– जिसके हृदय अर्थात् अन्तःस्थल में वीतराग भाव प्रगट हो गया है, उनको ही मोक्ष का साधक यतीश्वर कहा गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की एकता से ही मोक्षमार्ग होता है तथा इन तीनों की एकता यति में होती है, अतएव मोक्षरूप तत्त्व का साधनत्व यति में संभव है। यति ही मोक्षपंथ हैं क्योंकि वे जीवादि सभी तत्त्वों के पारखी हैं और मोक्ष जाने वाले हैं। इस प्रकार यतियों ने ऐसे उस मोक्षपंथ को प्राप्त कर लिया है, जहाँ वे अवश्य ही सिद्ध परमेष्ठी हो जावेंगे। मोक्ष मार्ग में वे ही साधु महंत कहलाते हैं, जो शुद्ध उपयोगवंत होते हैं। ऐसे शुद्धोपयोगी साधुओं को देवीदास कवि बार-बार शीश झुकाकर नमन करता है।

आगे सिष्य जन कौं सास्त्र का फल दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

जो जगमांहि सरावग की
अथवा सु जती की क्रिया महि धूझैं[5]।

---

* सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाण।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स॥(प्र सा गाथा-२७४)

१ 'अस्थान' ख प्रति में। २. 'तिनि' ख प्रति में। ३ 'सवैतत्त्व. .पायी है'' ख प्रति में नहीं।
४. 'सीस' ख प्रति में। ५ 'गूझैं' ख प्रति में।

सो यहु श्री भगवंत प्रनीत
कह्यौ सु महा उपदेस समूझै ॥
जो इहि आगम कौ सु रहस्य
जु है परमातम भाव सु बूझै।
थोरे ही काल विषै नर सो
अपनौ पद पाइ[1] सु आपसौं जूझै ॥९६॥*

अर्थ :– इस जगत् में जो श्रावक की अथवा यति की क्रिया में धूझता है अर्थात् जिसके निर्देशानुसार ही श्रावक एवं यति की क्रिया चलती है सो वह भगवंत प्रणीत महा उपदेश स्वरूप आगम या शास्त्र ही कहा गया है। जो यहाँ इस आगम के रहस्य को परमात्मा होना समझता है अर्थात् जिनागम में आत्मा से परमात्मा बनने का ही प्रतिपादन-प्ररूपण होता है, इसे जो जान-समझ लेता है, वह थोड़े से ही काल में अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पाकर उसके ही अनुभव के लिए अर्थात् बार-बार आत्मानुभव करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। मतलब यह है कि इस प्रकार जूझते हुए अर्थात् स्वानुभूति के प्रयास में जब वह सफल हो जाता है तो स्वयं परमात्मा हो जाता है।

['आगे मूल गाथा समाप्त करैं हैं।']

(दोहरा)

पंच रत्न सिद्धांत कौ मुकट भये यह[2] अंत।
नाम ग्रंथ करतार कौ कहौं विषै सिद्धंत ॥९७॥

अर्थ :– पंच रत्न सिद्धान्त को प्ररूपित करने में मुकुट स्वरूप जो यह ग्रंथ प्रवचनसार है, वह अब समाप्त हुआ। अब इस ग्रंथ के करतार जो आचार्य हैं, उनके विषय में कुछ कहता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

प्रवचनसार यो गरंथ जाके करतार
कुंदकुंद मुनिराज भये पराक्रत के।

---

* बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥२७५

१. 'पाय' ख प्रति में। २. इह क प्रति में।

जाकौ सब्द काढ़ि[1] करिकैं सुसंस्कृत कीनौं
अमृतचंद्र[2] नैं सु धारी महाव्रत के॥
तिन्हि की परंपरा सौं पांडे हेमराजजी ने
बालबोध टीका देखि कह्यौ सोइ प्रत[3] के॥
जाकौ भेद पाइ देवीदास पुनि[4] भाषा धर्‌यौ
माखनतैं होत जैसैं करतार घ्रत के॥९८॥

अर्थ :– यह प्रवचनसार ग्रंथ प्राकृत भाषा में है, जिसके कर्ता कुन्दकुन्द मुनिराज हुये हैं। इस ग्रंथ के शब्दों का रहस्य काढ़कर अर्थात् प्राकृत भाषामय ग्रंथ को अच्छी तरह समझकर तथा उस पर संस्कृत भाषा में टीका लिखकर सुसंस्कारित किया है, महाव्रत के धारी अमृतचन्द्र मुनिराज ने। उन्हीं की परम्परा से पांडे हेमराजजी ने संस्कृत टीका को देखकर तथा उनकी प्रति के अनुरूप भाषा में बालबोध टीका की। जिसका भेद पाकर मुझ देवीदास ने पुन: उसे भाषा में धर दिया है। वैसे ही जैसे कोई माखन से घी प्राप्त कराने के कर्ता होते हैं। मतलब यह है कि दूध में से घी प्राप्त करने के लिए पहले दूध से दही बनाया जाता है, फिर दही से मक्खन निकाला जाता है और मक्खन से ही घी निकलता है। यहाँ कवि अपने आपको मक्खन से घी निकालने वाले के समान अपना योगदान प्रवचनसार की प्रस्तुत टीका प्रवचनसार भाषा कवित्त के प्रसंग में मान रहा है। इस प्रकार कवि ने घी प्राप्त कराने में अर्थात् इस कवित्त ग्रन्थ को लिखने में मुख्य भूमिका तो आचार्य अमृतचंद्र और पांडे हेमराजजी की ही बताकर उनका बहुमान ख्यापित कर दिया है।

(चौपई छन्द)

प्रवचनसार कौं[5] सु यह टीका भाषा बालबोध अति नीका।
जाके पढ़त सुनत सुख पायो करि सु कवित्त बंध समुझायो॥९९॥

अर्थ :– प्रवचनसार ग्रंथ की यह बालबोधिनी भाषा टीका बहुत अच्छी

---

१ 'कांठ' ख प्रति में। २. 'अमृतचन्द्र' ख प्रति में। ३. 'प्रति' ख प्रति में। ४. 'पुन' ख प्रति में। ५. 'पढ़त' ख प्रति में।

है। जिसको पढकर और सुनकर उसे कविता में बाँधकर समझाया है तथा सुख पाया है।

यहाँ कवि जो सूचना दे रहे हैं, उसके दो पक्ष समझ में आ रहे हैं। एक पक्ष तो यह कि पांडे हेमराज की बहुत अच्छी बालबोध टीका पढकर एवं सुनकर उसे ही कविता में बाँधकर यह प्रवचनसार भाषा कवित्त लिखा है। दूसरा पक्ष यह कि इस प्रवचनसार महान् ग्रंथ की प्रवचनसार भाषा कवित्त रूप जो यह अति सुन्दर बालबोध भाषा टीका कवित्त बंधों में करके अर्थात् कविता में लिखकर जाहिर हुई है, इस कवित्त बंध टीका ने हमें सिद्धान्त को अच्छी तरह समझाया है। तथा इसके पढने-सुनने से मैंने सुख प्राप्त किया है तथा अन्य 'सभी लोग भी इसे पढकर सुख प्राप्त करें' यह भावना भी यहाँ स्पष्ट हो रही है।

(दोहरा)

अगम अपार अथाह है यह गरंथ गुनवंत।
मैं मतिहीन कहा कहौं गनधर लह्यौ[1] न अंत॥१००॥

अर्थ :—गुणों के भण्डार स्वरूप यह ग्रंथ अगम-अपार और अथाह सामर्थ्य को लिए हुए है। इसमें जिस विषय का प्ररूपण हुआ है, वह शब्दों से अगम है अर्थात् उस विषय को अनुभव से ही यथार्थतः जाना जा सकता है शब्दों से नहीं। अतीन्द्रिय ज्ञान से वस्तु स्वरूप का पार पाना संभव नहीं है, वह अनंत है, अथाह है। फिर मेरे जैसा मतिहीन उसका खुलासा कहाँ तक कर सकता है। जब महासामर्थ्य के धारी गणधर ने भी उसका अंत नहीं पाया है तो फिर मेरी तो बात ही क्या है ? इस प्रकार कवि ने अपनी लघुता दिखाकर विनय प्रदर्शित की है और विषयवस्तु की गंभीरता को उजागर कर दिया है तथा स्वानुभव से जानने पर बल दिया है।

(दोहरा)

अब बरनौं इहि जीव की पुनि[2] सु अवस्था तीन।
तिन[3] करि गर्भित ग्रंथ यह अति हि दिपै परवीन[4]॥१०१॥

---

१ 'लयौ' ख प्रति में। २. 'पुन' ख प्रति में। ३. 'तिन्हि' क प्रति में। ४. 'प्रवीन' दोनों प्रतियों में।

अर्थ :— अब यहाँ जीव की उन तीनों अवस्थाओं का भी वर्णन करता हूँ। जिनको प्रवचनसार ग्रंथ में गर्भित किया गया है। इनके विवेचन से ग्रंथ को समझने की रुचि रखनेवाला पाठक प्रवीण हो जायेगा और उसे यह ग्रंथ दिपने लगेगा अर्थात् समझ में आने लगेगा।

आगे तीनि अवस्था 'जे कहैं हैं'[1]।

(दोहरा)

प्रथम ही सु बहिरातमा अंतरातमा और।
तीसरैं सु परमातमा तीनि लोक सिरमौर।।१०२।।
अब इनिकौ[2] सुविशेषकरि कहौं प्रगट निरधार।
भेद अवर तिन्हि[3] के सु छह सुनत महा सुखकार।।१०३।।

अर्थ :— आत्मा के तीन भेद हैं। पहला भेद है बहिरात्मा, दूसरा भेद है अन्तरात्मा और तीसरा भेद है परमात्मा ! यहाँ परमात्मा को सर्वोपरि कहा है। तथा तीन लोकों के शीर्ष पर विद्यमान सिद्धशिला के ऊपर रहने से उन्हें मिरमौर विशेषण से विभूषित किया गया है। उपभेदों की अपेक्षा से जीव के छह भेद जिनागम मे सुने गये हैं, जिन्हें समझ लेना महा सुखकार माना गया है; अत: अब इनका उनके विशेषों से ही निर्धारण करके प्रगट कथन कर रहा हूँ।

आगे प्रथम ही बहिरात्मा का लछन कहैं हैं।

(छप्पय)

उपादेय अरु हेय जो सु जानैं न समूझै।
हित अनहित अपनौं निदान जाकौं सु न सूझै।।
परनति विषय कषाय रूप जिन्हि के घट फैली।
कामादिक सु कलंक पंक[4] करिकैं मति मैली।।
इहि भाँति जो सु यह जगत के विषैं अनारज देखिये।
दुख को भडार निरधार करि[5] बहिरातमा सु लेखिये।।१०४।।

---

१ 'कथन' ख प्रति मे। २ 'इन्हि कौ' क प्रति में। ३ 'तिन' ख प्रति में। ४ ख प्रति में नहीं। ५ 'कर' ख प्रति मे।

अर्थ :– जो उपादेय और हेय कर्तव्यों को न जानते हैं और न ही समझते हैं। अपने हित-अहित का निदान (उपचार) जिनको सूझता नहीं है। जिनके घर में अर्थात् आत्मा में विषय-कषाय स्वरूप परिणति का ही फैलाव रहता है अर्थात् जो विषय-कषायों में ही मस्त-मगन रहते हैं। कामादि विकारी भावों से जिनकी बुद्धि मैली-गंदली हो चुकी है तथा इस प्रकार जगत् में रहते हुए जो अपने को तो जानते नहीं, किन्तु जगत् को या विषय-भोगों को ही अनारज अर्थात् दुखरहित समझते हैं, मतलब यह है कि जगत् में या विषय-भोगों में ही वे सुख समझते हैं। ऐसे लोग दुख का भंडार ही हैं – ऐसा निर्णय करके उन्हें बहिरात्मा ही समझना चाहिए।

आगे बहिरातमा का स्वरूप दिखावैं हैं।

(सवैया तेईसा)

भेष धरें मुनिराज[1] पटंतर
आसन मारि[2] महाव्रत ठानैं।
मंत्र महा सुनिकैं[3] बसु भेद[4]
करावत सेव महा सुख मानैं॥
सो व्रत छांडि परिग्रह जोरत
लाज न नैकु हियैं मंहि आनै।
वंचत 'लोगनि भोगनि'[5] हेत।
परे भवसागर मैं सु अयानैं॥१०५॥

अर्थ :– जो बहिरात्मा मुनिराज का भेष धारण करते हैं, परन्तु पटन्तर अर्थात् तखत या सिंहासन पर आसन मार कर बैठते हैं अथवा किवाड़ बंद करके आसन लगाते हैं। ऐसा करके भी महाव्रतों के पालन करने की ठान लेते हैं तथा ऐसा मान लेते हैं कि महामंत्र सुनकर आठ कर्मों का भेद-क्षय या नाश हो जाता है। भेष धारण करने मात्र से ही मुक्ति हो जाती है – ऐसा माहात्म्य बताकर लोगों से सेवा करवाते हैं तथा इसमें ही महान् सुख मानते हैं। सो वे

१ 'मुनराज' ख प्रति में। २. 'मार' ख प्रति में। ३ 'सुनकैं' ख प्रति में। ४ 'भेव' क प्रति मे। ५ 'लोगन भोगन' ख प्रति में।

व्रत को छोड़कर ही मानों परिग्रह इकट्ठा करने लगते हैं। उनके मन में थोड़ी सी भी लाज नहीं आती है। नानाविध भोगों के लिए धर्म करना चाहिए – ऐसी प्रेरणा देकर वे लोगों को ठगते हैं अर्थात् धर्म के नाम पर उनकी वंचना करते हैं और अज्ञानी या विचारहीन होकर भवसागर में पड़ते हैं। यहाँ कवि ने बहिरात्मा के स्वरूप को मुनि की तरफ से बताया है, क्योंकि जो मुनि आगम विहित मुनिपने के अनुरूप आचरण न करता हुआ आगम के विपरीत जब अपनी मान्यता बना लेता है और धर्मविरुद्ध आचरण करता है तो वह भी बहिरात्मा ही जानना चाहिए।

पुनः 'बहिरात्मा का स्वरूप कहैं हैं'[1]।

(सवैया तेईसा)

कर्मनि कौ न विचारत स्वागम[2]
दे[3] मनु मोह मिथ्यात मैं हूले।
रोवत[4] देखि अनिष्ट पदारथ
इष्ट पदारथ देखत फूले॥
संपति गेह[5] सरीर विषैं ममिता
रस के वस होकर झूले।
या जगमांहि महा विपरीति[6]
अचेतनि के संग चेतन भूले॥१०६॥

अर्थ :– बहिरात्मा कर्मों का आना (आस्रव) नहीं विचारता है। यह नहीं सोचता है कि धर्मविरुद्ध अर्थात् मनमर्जी से व्रतादिक पालने का क्या फल होगा ? कर्मबंध तो रुकेगा नहीं ? वह तो अपने मन को मोह-मिथ्यात्व की गहल में लगाकर आनन्द समझता है। अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर रोने या चीखने लगता है एवं इष्ट पदार्थों के मिल जाने पर फूल के कुप्पा अर्थात् खुश हो जाता है। सम्पत्ति, गृह, शरीर आदि के विषय में ममता पैदा करता है और उसी के रस में वशीभूत होकर झूलता रहता है या संशय में पड़ा रहता है।

---

१ ख प्रति में नहीं। २ 'स्वागम' ख प्रति में। ३ 'देव' क प्रति में। ४. 'रोषत' ख प्रति में। ५. 'संपत' ख प्रति में तथा 'सपति ग्रेह' क प्रति में। ६ 'विपरीत' ख प्रति में।

इस जगत् में यह महाविपरीतता ही है कि अचेतन के संग (परिग्रह) में चेतन आत्मा चेतन को भूलकर झूलता अर्थात् भटकता रहता है।

आगे अंतरात्मा कहैं हैं।

(दोहरा)

अंतरातमा त्रिविध अब कहौं सुनौ भवि[1] अन्य।
उत्तम[2] मध्यम हैं सु पुनि[3] तिनि मैं भेद जघन्य॥१०७॥

अर्थ :– अब तीन प्रकार की अंतरात्मा का कथन करता हूँ। हे भव्य ! तुम उसे विशेष समझ पूर्वक सुनो। अन्तरात्मा के तीन प्रकारों में एक प्रकार है, उत्तम अन्तरात्मा, दूसरा है मध्यम अंतरात्मा तथा तीसरा भेद है जघन्य अन्तरात्मा।

आगे प्रथम ही जघन्य अंतरातमा का लछन कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

मन कौ सु जाकैं पंच इंद्री कौ निरोध नांही
थावर सु[4] त्रस की न पलै जाकै[5] करुना।
सांचै[6] देव धर्म गुरू ग्रंथ कौ सु पारखी है
बसै घर मांहि पै निदान जाकै घरू ना॥
जीव निरजीव[7] आदि तत्त्व कौ सु सरधान
साता में न सुखी जाकैं असाता को डरू ना।
अैसौ है असंजत[8] जघन्य अंतरातमा सु
अव्रती निसंक समदिष्टी में वितरुना॥१०८॥

अर्थ :– जिसके अभी मन और पंचेन्द्रियों का निरोध नहीं है तथा त्रस-स्थावर जीवों की करुणा भी नहीं पलती है अर्थात् इन्द्रिय संयम एवं प्राणी संयम का जिसके अभाव है वह जघन्य अन्तरात्मा है। यह सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का और धर्म का पारखी होता है तथा उनके महत्त्व को समझता है। घर में

१. 'भव' ख प्रति में। २. 'उत्तिम' ख प्रति में। ३. 'पुन' ख प्रति में। ४. 'सू' क प्रति में। ५. 'जासौं' ख प्रति में। ६. 'सोचें' ख प्रति में। ७. 'निरजी कौ' ख प्रति में। ८. 'असंबता' दोनों प्रतियों में।

रहता है, पर घर में रहने से मैं सुखी हो जाऊँगा या घर मेरे राग या रोग का उपचार (निदान) है – ऐसा नहीं समझता है। जीव-अजीव आदि तत्त्वों का सम्यक् श्रद्धान जघन्य अन्तरात्मा के अवश्य होता है, वह साता में अर्थात् इष्ट संयोगों में सुखी नहीं होता है और असाता का उदय होने पर अर्थात् अनिष्ट संयोग बनने पर डरता नहीं है। इस प्रकार जघन्य अन्तरात्मा असंयत-अव्रती, देव-गुरु-धर्म में निःशंक एवं समदृष्टि में समर्पित रहने वाला होता है।

आगे अब जघन्य अंतरात्मा का स्वरूप दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

जीव जगवासी बहु भाँति भाँति निद्रा करै
भावै बहु भाँति भाँति अस्तुति[1] बखांनही।
ग्रेह विर्षें संपति[2] अनेक भाँति आवै चली
भावै चली जाइ[3] पै न सोच मन आंनही॥
चाहै बहु 'वेगि कालु'[4] आनि केझकाई देईं[5]।
होहि[6] चिरू जीवी राग दोष सो न मांनही।
चाहै दुख धाम चाहै आन दहै[7] आठों जाम।
नीति छांडि कैं न जे अनीत[8] संत[9] जांनही॥१०९॥

अर्थ :– जघन्य अन्तरात्मा का स्वरूप बताते हुए कवि कह रहा है कि यह जगवासी जीव बहुत प्रकार से प्रमाद-आलस करता है या नींद लेता रहता है, जागता नहीं है। और बहुत प्रकार से नानाविध स्तुतियों से देव-गुरु-धर्म का बखान करता है। घर में बहुविध सम्पत्ति आती है अथवा चली जाती है। पर वह उसके विषय में कोई सोच मन में नहीं लाता है। वह तो भवितव्यता की ही भावना भाता है। चाहे भले ही बहुत वेग से अर्थात् प्रतिकूलता में काल भी आकर उसे झकझोर दे, अशुभकर्मों के उदय में समय विचलित कर दे, तब भी वह विचलित-अस्थिरचित्त नहीं होता है और न ही राग-द्वेष को चिरकाल तक जीवित रहने वाला मानता है। चाहे कुछ भी हो जाये अर्थात् दुःखों का

१. 'अस्तुत' ख प्रति में। २. 'संपत' ख प्रति में। ३. 'जाय' ख प्रति में। ४. 'वेग काल' ख प्रति में। ५. 'देय' ख प्रति में। ६. क प्रति में नहीं। ७. 'दहय' ख प्रति में। ८. अनंति। ९. 'संति' ख प्रति में।

पहाड़ आन पड़े और भले ही असाता का उदय उसे आठों याम अर्थात् हरदम दुखदाह में जलाये फिर भी वह नीति को छोड़कर अनीति को नहीं अपनाता है। इस अपेक्षा से जघन्य अन्तरात्मा को संत ही जानना चाहिए।

आगे मध्यम अंतरात्मा कहैं हैं।

(दोहरा)

मध्यम अंतर आतमा अब वरनौं सु अगाध[1]।
श्रावक अरू छठम[2] सु गुनथानक वरती साध ॥११०॥

अर्थ :– मध्यम अंतरात्मा अत्यंत गंभीर-अगाध होता है। व्रती श्रावक और षष्टम गुणस्थानवर्ती मुनि को मध्यम अंतरात्मा जानना चाहिए।

आगे मध्यम अंतरात्मा का लछिन कहैं हैं।

(चौपई छन्द)

इंद्रिनि कौ मन कौ सु[3] निरोधी त्रस थावर रक्ष्या सु विरोधी।
पालैं त्रेपन क्रिया सु भारी संपूरन इकैस गुनधारी ॥१११॥
अदया झूठ अदत्ता नारी[4] दसविधि परिग्रहा दुखकारी[5]।
श्रावक सो प्रमान करि राखै महाव्रती सु सर्वथा नांखै ॥११२॥

(दोहरा)

अनोव्रती पंचम सु गुन थांनक वरती होइ[6]।
छठम[7] गुनथांनी सु ये मध्यम कहिये दोइ[8] ॥११३॥

अर्थ :– जो इन्द्रियों और मन के निरोध पूर्वक संयम पालते हैं, त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा के लिए सावधान रहते हैं। ऐसे इन गृहस्थ श्रावकों के विरोधी हिंसा यद्यपि होती है तथापि तिरेपन क्रियाओं का पालन करके वे अहिंसा व्रतों का महत्त्व धारण किये रहते हैं तथा सम्पूर्णतया इक्कीस गुणों के धारी होते हैं। दुख के कारण स्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और दशविध परिग्रह के त्यागी होते हैं। मध्यम अंतरात्मा पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो

---

१. 'अगाद्ध' ख प्रति में। २. 'छदम' क प्रति में। ३. 'न' क प्रति में। ४. 'तारी' ख प्रति में। ५. 'सुखकारी' क प्रति में। ६. 'होय' ख प्रति में। ७. 'छद्म' क प्रति में। ८. 'दोय' ख प्रति में।

सभी पापों का एकदेश त्याग करते हैं तथा बाह्य परिग्रह का परिमाण करते हैं अर्थात् आवश्यकतानुसार बाह्य सामग्री रखते हैं, किन्तु महाव्रती मुनिराज बाह्य परिग्रह को सर्वथा छोड़ देते हैं और सभी पापों का सर्वथा त्याग करते हैं।

आगे महाव्रती का लछन कहिये है।

(सवैया इकतीसा, सर्वगुरु)

सांसी[1] सूधी बोलै भासा ना काहू की राखै आसा
देही सोड़ै[2] जाकैं थोरो खैवौ पीवौ ठांडै है।
भू पै आगैं देखैं चालै छै काई की हिंस्या टालै।
मानैं[3] कामै क्रोधै लोभैं[4] पांचौ इंद्री डांडै है॥
रागी दोषी मोही नांहीं विद्या की को पावै थांही
आपै देखैं जानैं मानैं काया माया छांडै है।
अैसा है सो[5] जोगी ग्याता जाके चेला हूजे भ्राता
भारी पंथै लाग्यौं[6] ग्यानी ध्यांनी[7] वैरी ताड़ै है॥११४॥

अर्थ :– जो सीधी-सच्ची भाषा बोलते हैं, किसी से कोई भी आशा नहीं रखते हैं। देह स्थित कष्टों-पीड़ाओं को सहते हैं तथा जिनके खड़े-खड़े थोड़ा-सा खाना-पीना ही होता है। आगे चार हाथ जमीन देखकर चलते हैं और छह काय के जीवों की हिंसा को टालते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों को तथा पंचेन्द्रिय विषयों को नियंत्रण में रखते हैं अर्थात् क्रोधादि कषायों एवं पंचेन्द्रिय विषय भोगों के वशीभूत नहीं होते हैं। किसी के भी प्रति रागी, द्वेषी एवं मोही नहीं होते हैं, उनके शास्त्र ज्ञान की अथवा क्रिया की कोई थाह नहीं पा सकता है। स्वयं ही देखते-भालते हैं, जानते-समझते हैं तथा स्वयं की जानकारी के अनुरूप ही मान्यता बनाते हैं। काया और माया दोनों को ही छोड़े हुये होते हैं। ऐसे महाव्रती योगी हित-अहित के एवं सिद्धान्त के ज्ञाता होते हैं। हे भाई ! हमें ऐसे ज्ञानी महात्मा का शिष्य बनना चाहिए। इस प्रकार

---

१. 'सांची' ख प्रति में। २. 'छाड़े' ख प्रति में। ३. 'मारै' क प्रति में। ४. 'लोभी' क प्रति में। ५. 'सु' ख प्रति में। ६. 'लागी' ख प्रति में। ७. 'ध्या' क प्रति में।

जो ज्ञानी ध्यानी, मोक्षमार्गी होते हैं, उनका समागम वैरियों के वैर को भी तोड़ने-मिटाने वाला होता है।

आगे अब उत्तिम[1] अंतरातमा कहैं हैं।

(दोहरा)

गुनस्थानतैं[2] सातमैं द्वादशमें परजंत।
उत्तिम अंतर आतमा सो समझौ गुनवंत ॥११५॥

अर्थ :– सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त जो गुणवन्त शुद्धोपयोगी मुनिराज होते हैं, उन्हें उत्तम अन्तरात्मा समझना चाहिए।

(छप्पय, सर्व लघु एक स्वर)

परम धरम धन लखत चखत[3] नन तन तरवर फल।
समरस मय वर भजत तजत पर मन वचन तन बल ॥
अभय वखत भर वडत सरस पन समय समय पल।
अगम अकथ गन 'कथत नसत'[4] जग भरम करम मल ॥
उर सरल अमल पर पन अटल करन[5] सकल अधरम पतन।
अपवरग समन परसत सहज परगट बल अनभव रतन ॥११६॥

अर्थ :– सप्तम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक वर्तमान शुद्धोपयोगी मुनिराज अपने परम धर्म रूपी धन को ही लखते हैं अर्थात् अपने परम पारिणामिकभाव स्वरूप शुद्ध चैतन्यमय निजस्वभाव रूप धर्मधन को ही जानते हैं, स्वानुभव में लीन रहते हैं तथा पुद्गल शरीर या पुण्यादि कर्मरूपी वृक्षों के फल को नहीं चखते हैं, अर्थात् पुद्गल कर्मप्रकृतियों के उदय में उदयागत भावों का रस नहीं चखते हैं, कर्मफल को नहीं भोगते हैं केवल अपने स्वरूप में ही गुप्त रहकर यथायोग्य स्वकीय आनंद का ही वेदन करते हैं। समता रस मय तो स्वयं का शुद्धात्मा श्रेष्ठ या वर स्वरूप है, उसकी सेवा करते हैं, उसे ही भजते हैं अर्थात् उसकी ही उपासना करते हैं। पर पुद्गल रूप मनोबल,

---

१. 'उत्तम' ख प्रति में। २. 'गुनस्थान' ख प्रति में। ३. 'वखत' क प्रति में। ४. 'कथन सहत' ख प्रति में। ५. 'सकरन' ख प्रति में।

वचन बल और काय बल को तजते हैं अर्थात् उनका विकल्प तक नहीं लाते हैं। इस प्रकार अभय अर्थात् स्वानुभूति या शुद्धोपयोग के काल में हर समय प्रतिपल बढते हुए स्वरसपने अर्थात् निजानन्द से भरते जाते हैं। मतलब यह है कि उनके हर समय शुद्धोपयोगजन्य निराकुलता का आनंद बढता जाता है। मुनिराज के शुद्धोपयोग की यह दशा अगम (छद्मस्थ द्वारा अगम्य) एवं अकथ (अवक्तव्य) है, किन्तु इससे जगत् के भ्रमजाल को फैलाने वाले कर्ममल का नाश होता जाता है। संज्वलन कषाय के उदय स्वरूप आत्मा में समुत्पन्न पर परिणति स्वरूप सम्पूर्ण अधर्म अर्थात् सकल विभाव के पतन को निश्चित कर देते हैं अर्थात् अपने शुद्धोपयोग में ही अटल रहते हैं और अपने सहज प्रगट हुये अनुभव रूपी रत्न के बल से मानों मोक्ष की शान्ति को ही छू रहे हैं।

आगे उत्तिम अंतरातमा फेरि दिखावैं हैं।

(सवैया इकतीसा सर्वगुरु)

जैसौ जाकैं लोहौ तैसौ[1] सोरावानी[2] कौ है सौंनौं,
जैसौ जाकैं वैरी तैसौ[3] ही सो सेवाकारी है।
जैसौ जाकैं खैवौ तैसौ ही है बेखायै कौ रैवौ
जैसौ नीकै वोलौ तैसौ[4] ही सो दीवो गारी है॥
जैसौ[5] जाकैं जाड़ौ तैसौ[6] ही सो घामौ लागै गाढौ
जैसौ जाकैं भूखौ टूटौ तैसौ[6] राजा रारी है।
आपै औरै चीन्है जानैं आपा[7] आपा ही मैं सानै
औसौ जो आचारी भारी स्वामी जोगाधारी है॥११७॥

अर्थ :– उत्तम अन्तरात्मा वे मुनिराज हैं, जिनके लिए जैसा लोहा है वैसा ही सोलहवानी अर्थात् सौ टंच का शुद्ध सोना है तथा जैसा वैरी है वैसा ही सेवा करने वाला है, जिनके लिए जैसा आहार लेना या भोजन करना है, वैसा ही विना खाये रह जाना है तथा जैसा कोई अच्छा बोलने वाला है वैसा ही गाली देने वाला है। जिनके लिए जैसा जाड़ा (ठंड) है, वैसा ही तेज धूप (घाम) का

१ 'जैसी' क प्रति में। २ 'वारावानी' ख प्रति में। ३. 'जैसी' क प्रति में। ४-५. 'जैसी' क प्रति में।
६ 'जैसौ' ख प्रति में। ७. 'अपा' क प्रति में।

लगना है। जिनके लिए जैसा कोई भूख से टूटा हुआ अशक्त गरीब है, वैसा ही कोई राजादिक अमीर है। वे अपने को तथा औरों को हमेशा पहिचानते-जानते हैं, स्व-पर भेदविज्ञान उनके सदा ही वर्तता है, किन्तु अपने को अर्थात् स्व शुद्धात्मा को ही अपना मानने में अपनी शान समझते हैं। इस प्रकार ऐसे आचार के धारी गुरु तथा योग यानि आत्मध्यान की विद्या के आधार स्वरूप स्वामी, महान् योगी जो महंत पुरुष मुनिवर हैं, उन्हें उत्तम अंतरात्मा जानना चाहिए।

आगे परमातमा का लछन कहैं हैं।

(दोहरा)

दुविध भाँति परमातमा लखौ भव्य तसु अंक।
प्रथम सकल पुनि दूसरौ कहौं जो सु निकलंक॥११८॥

अर्थ :– सकल और निकल के भेद से परमात्मा दो प्रकार के बताये गये हैं। उनमें हे भव्य! तुम इस प्रकार देखो कि जो अंक अर्थात् अघाति कर्म और शरीर (नोकर्म) से सहित हैं, वे प्रथम भेद स्वरूप सकल परमात्मा हैं तथा जो निकलंक अर्थात् अघाति कर्म और शरीर (नोकर्म) से रहित हैं, वे निकल परमात्मा हैं।

(दोहरा)

चार घातिया कर्म हनि[1] तारनहार भव अब्धि[2]।
तिनके उर अंतर विषैं जगी जो सु नव लब्धि[3]॥११९॥

अर्थ :– जो चार घातिया कर्मों का हनन-नाश करके संसार सागर के तारणहार हैं अर्थात् भव समुद्र को तैर कर पार होने वाले हैं, जिनके अन्दर नव लब्धियाँ जग गयी हैं ऐसे अर्हत् परमात्मा को सकल परमात्मा कहते हैं।

आगे नवलब्धि का स्वरूप कहैं हैं।

(सवैया तेईसा)

दान अनंत अनंत सु लाभ
भये सु अनंत महा रस भोगी।

१. 'हन' ख प्रति में। २ 'अधि' क प्रति में। ३. 'लधि' क प्रति में।

जे भुगता उपभोग अनंत
अनंत सु वीरजवंत अरोगी॥
छाईक[1] सम्यक धाम अनंत
अनंत सु दंसन ग्यांन नियोगी।
चारित[2] धाम अनंत सु राम
सु जे जग मैं भगवान सजोगी॥१२०॥

अर्थ :– अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य, अनंत क्षायिक सम्यक्त्व, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान और अनंत चारित्र इन नवलब्धि के धाम स्वरूप जो भी आत्माराम परमात्मा हैं, वे इस जगत् में सयोग केवली जिन अर्थात् अर्हन्त भगवान् कहलाते हैं। यहाँ उन्हें अनंत दान एवं लाभ से सम्पन्न अनंत स्वानुभव रस का भोगी कहा गया है। जो ध्रुव स्वभाव को-बार-बार भोगने वाले होने से उसके भोक्ता हैं, अनंत वीर्य से सहित होने से अरोगी हैं, क्षायिक सम्यक्त्व से अनंत दर्शन स्वरूप हैं, नियोगतः अनंत ज्ञानी भी हैं, अनंत चारित्र के धाम भी हैं।

आगे सजोगी भगवान का स्वरूप कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

जामैं ग्यान केवल प्रकासे लोकालोक भासे
दर्शनावरन जाकी कीनी है निकंदना।
अंतराई[3] अंत[4] करे हरे अरि मोहकर्म
जगी स्वयमेव सांची परम अनंदना॥
सुद्ध उपयोग[5] सौं सुजोगी भोगी आप रस
जामैं और जोग कौ प्रमान परधंदना।
ऐसै वीतराग जू विराजैं देह देहुरे मैं
जाकी देवीदास तीनि काल करै वंदना॥१२१॥

अर्थ :– सयोग केवली जिन भगवान् के लोकालोक सम्पूर्णतया भासित

१ 'छायक' ख प्रति में। २ 'चारित्र' ख प्रति में। ३. 'अंतराय' ख प्रति में। ४. 'अत के' ख प्रति में।
५ 'उपयोगी' क प्रति में।

होता रहता है। जिन्होंने ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों की निकंदना-विनाशना कर दी है, अंतराय का अंत कर दिया है और अरि-शत्रु स्वरूप मोहनीय कर्म का भी उनकी सत्ता से हरण हो गया है। इस प्रकार चारों घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से एवं अनंत चतुष्टय स्वरूप लक्ष्मी प्रगट हो जाने से स्वयमेव ही जिनमें समीचीन सर्वोत्कृष्ट आनंद जग गया है। अपने शुद्धोपयोग से वे सयोगी हैं एवं अपने आनंद रस के निरन्तर भोगी हैं। आनंद के इस भोग को भोगने में उन्हें अब किसी अन्य योग या पराधीन प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अपने आनंद भोग में उनका आत्मिक योग एवं केवलज्ञान स्वरूप ही तो प्रमाण है। पूर्ण वीतरागी परम आनन्द के भोगी सयोगी सकल परमात्मा अपने देह-देवल में विराजमान हैं, जिनकी त्रिकाल वंदना पंडित देवीदास करते हैं।

आगे निःकलंक[1] परमातमा का लछिन कहै है।

(दोहरा)

निःकलंक[2] परमातमा सिद्ध अखै सुखधाम।
ते वितीत रहि लोकतैं सुद्ध आतमाराम॥२२॥

अर्थ :– अक्षय सुख के धाम स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी निष्कलंक परमात्मा कहलाते हैं। उनके सारे कर्म (द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म) नष्ट हो गये हैं, अतः निष्कलंक हैं। वे इस लोक से अर्थात् जन्म-मरण रूप संसार से अतीत होकर केवल शुद्ध आत्माराम हो गये हैं।

(सवैया इकतीसा)

तन छोड़ि जैसौ मुक्ति गये ताही की समान
चरम सरीर तैं सु[3] किंचित् सु ऊन हैं।
आठ गुन लीन आठ करम कलंक हीन
जगमांहि जे सु दुखदाइक जबून हैं॥
उत्पाद जे विनास लियै व्यवहार सेती
ध्रौव्यता स्वरूप सुद्धनयसौं सु नूंन है।

१-२. 'निहकलंक' क प्रति में। ३. ख प्रति में नहीं।

ऐसे सिद्ध जे सु पंच पदवी विषैं प्रधान
पुग्गलीक[1] व्याधि के विकार सौं निसून हैं ।।१२३।।

अर्थ :— जिस शरीर को छोड़कर मुक्ति गये हैं, उसके समान ही किंतु उस चरम (अन्तिम) शरीर से किंचित् न्यून जिनकी अवगाहना है, ऐसे सिद्ध भगवंत क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों से सम्पन्न हैं तथा इस जगत् में जो दुखदायक अष्ट कर्म रूपी कलंकों से रहित हैं। जो व्यवहार अर्थात् भेद को मुख्य करने वाले व्यवहार नय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय को लिये हुए होते हैं, तथापि शुद्धनय से देखा जाय तो निश्चित ही ध्रौव्यता स्वरूप हैं। इस प्रकार निष्कलंक सिद्ध परमात्मा पंच परमेष्ठियों में प्रधान हैं एवं सर्वथा पौद्गलिक व्याधि स्वरूप विकारों से शून्य हैं।

(दोहा)

निहलंक परमात्मा सिद्ध सदा स्वाधीन।
उत्तिम मध्य[2] जघन्य हैं तिनमें[3] विकलप तीन ।।१२४।।

अर्थ :— निष्कलंक परमात्मा सिद्ध भगवान् सदा स्वाधीन होते हैं। उनमें भी उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन विकल्प हैं।

आगे सो उत्तिम जघन्यता कौ भेद सरीर करि कैं दिखावैं हैं, गुन एक समान हैं।

(सवैया इकतीसा)

पूरव विदेह मांहि वरष वितीतै आठ
नौमीं[4] वर्ष लगैं कर्म घातिया नसावैं हैं।
जहाँ है सु जिन्हि कौ सरीर साढे तीनि हाथ
बढती न होहि ग्यांन[5] केवल सु पावैं हैं।।
छोड़ि के सरीर आठ कर्म हनि मुक्ति जांहि[6]
हूँठ हाथ के जघन्य सिद्ध सो कहावैं हैं।

---

१ 'पुग्गलीका' ख प्रति में। २ 'मध्यम' ख प्रति में। ३ 'तिन्हैं' ख प्रति में। ४. 'नौ' ख प्रति में। ५ 'ज्ञान' ख प्रति मे। ६ 'जाइ' क प्रति में।

ऐसै निकलंक परमातमा कौं देवीदास

तीनि कालि[1] हाथ जोरि[2] कैं सु सीस नावैं हैं ।।१२५।।

अर्थ :– पूर्व विदेह क्षेत्र में चरम शरीरी मनुष्य आठ वर्ष व्यतीत हो जाने पर तथा नवमें वर्ष के लगने पर घातिया कर्मों का नाश कर लेते हैं और केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ जिनके शरीर की अवगाहना साढे तीन हाथ की होती है, अधिक नहीं होती। ऐसे केवलज्ञानी अर्हन् परमात्मा आठों कर्मों (चार घातिया कर्म तो नष्ट हो ही चुके थे एवं अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों) का हनन कर एवं शरीर छोड़कर जब पूर्ण मुक्त सिद्ध हो जाते हैं, तो वे वहाँ साढे तीन हाथ की अवगाहना वाले जघन्य सिद्ध कहलाते हैं। ऐसे जघन्य सिद्ध निष्कलंक परमात्मा को पंडित देवीदासजी तीनों काल हाथ जोड़कर एवं शीश झुकाकर नमन करते हैं।

आगे मध्यम उतकिष्ट सिद्धनि कौ लछिन[3] कहै हैं।

(सवैया इकतीसा)

धनिक[4] सै पांच के सरीर सौं[5] विदेहिनि तैं

मुकति अवस्था जीव होत उतपन्य[6] है।

भरत[7] ऐरावति[8] तैं नानाभाँति तन छोड़ि

सिद्ध भये मध्यम न भेद और अन्य हैं।।

सवा पाँच सै सु 'धरि धनिक[9] उतंग देह[10]

हुंडा काल मांहि मुक्ति गये जे सु धन्य हैं।

बाहूबलि[11] आदि जे सु उतकिष्ट[12] सिद्ध कहै

भेद ये सु उतकिष्ट[13] मध्यम जघन्य हैं ।।१२६।।

अर्थ :– पाँच सौ धनुष प्रमाण शरीर वाले जीव विदेहों से मुक्ति अवस्था को प्राप्त करते हैं अर्थात् विदेह क्षेत्रों में उत्पन्न पाँच सौ धनुष शरीर प्रमाण जीव

---

१. 'तीन काल' ख प्रति में। २. 'जोर' ख प्रति में। ३. 'का लछन' ख प्रति में। ४ 'धनुष' ख प्रति में। ५ 'सरीसु' ख प्रति में। ६. 'उतपन्न' ख प्रति में। ७. 'भरति' ख प्रति में। ८. 'ऐरापति' क प्रति में। ९ 'धार धनुष' ख प्रति में। १०. 'देह' ख प्रति में। ११. 'बाहुबल' ख प्रति में। १२. 'उतिकिष्ट' ख प्रति में। १३ 'उत्कृष्ट' ख प्रति में।

मुक्त होते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र से नानाविध परिमाण वाले शरीर के धारी अर्हन्त परमात्मा शरीर छोड़कर सिद्ध होते हैं। उत्कृष्ट और जघन्य शरीरावगाहना के बीच जितने भेद होते हैं, उतने ही मध्यम सिद्धों के भेद जानना। मध्यम सिद्धों के भेदों में इनके अलावा अन्य कोई भेद नहीं है। हुंडावसर्पिणी काल में सवा पाँच सौ धनुष प्रमाण उत्तुंग शरीर वाले बाहुबलि आदि जो भी मुक्ति गये हैं, वे धन्य हैं उन्हें उत्कृष्ट सिद्ध जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्व शरीर की अवगाहना से किंचित् न्यून सिद्धों का आकार होता है, यह बताकर उनके अवगाहना भेद को मुख्य करके सिद्धों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद किये गये हैं।

आगे सिद्ध अस्थान का स्वरूप कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

जोजन सु बारा सेत छत्र की उन्हार गोल[1]
सरवार्थ[2] सिद्धतैं सु ऊँची मुक्तिसिला है।
जोजन सु पैंतालीस लाख आठ जोजन की
मौटी गेरि माखी के पखौवा[3] सी सु जिला है॥
कछू ऊन पाऊ[4] कोस जैसी गोल[5] सिद्ध सिला
धनिक[6] सै पौंने सोरा जातैं वात विला है।
जाकै बीच तीन ही प्रकार के विराजैं सिद्ध
एक मैं अनेक कोऊ काहू[7] सौं न मिला है॥१२७॥

अर्थ :—सर्वार्थसिद्धि विमान से बारह योजन ऊँची सफेद छत्र की समानता वाली गोलाकार सिद्धशिला (मुक्तिशिला) है। जो ४५ लाख योजन लम्बी तथा आठ योजन मोटी है तथा पार्श्ववर्ती किनारों पर वह माखी के पंख जैसी होती है। पार्श्व किनारों पर कुछ कम पाऊ (पाव) कोश सिद्धशिला का परिमाण जानना चाहिए। सिद्धशिला से ऊपर तीनों वात वलयों में अंतिम वातवलय पोने सोलह सौ अर्थात् पन्द्रह सौ पचहत्तर धनुष प्रमाण है। सिद्ध शिला के

१. 'गोला' ख प्रति में। २. 'सर्वार्थ' ख प्रति में। ३. 'पपौवा' क प्रति में। ४ 'गाऊ' दोनों प्रतियों में। ५ 'गो' ख प्रति में। ६. 'धनुष' ख प्रति में। ७. 'काऊ' ख प्रति में।

ऊपर वाले तनु वात वलय के बीच तीनों ही प्रकार के अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवगाहना वाले सभी सिद्ध विराजमान रहते हैं। जहाँ एक सिद्ध की अवगाहना है, वहाँ अनेक सिद्धों की भी अवगाहना है, पर सब अपने-अपने स्वचतुष्टय में ही हैं, कोई किसी से भी मिला हुआ अर्थात् एकमेक या एक-दूसरे के अधीन नहीं है।

(दोहरा)

लघु जोजन सै पाँच कौ जोजन एक महान्।
महा धनिक लघु पाँच सै धनिक कौ सु इक जान॥१२८॥

अर्थ :– पाँच सौ लघु योजन का एक महायोजन होता है। ऐसे ही पाँच सौ धनुष का एक महाधनुष जानना चाहिए।

आगे जो सिद्ध अस्थान[१] विसेषकरि दिखावै हैं।

(सवैया इकतीसा)

कह्यौ तन वात विलै धनिक[२] सै पौने सोरा
जाकै पाँच सै गुने सु धनिक[३] करीजिये।
सात लाख जे सु साढे सतासी हजार हौंहिं
ताकै खंड बांटि पंद्रा[४] सै गुनै सु कीजिये॥
धनिक[५] सै सवा पाँच कौ सु एक एक खंड
चौदा[६] सै निन्यानवै सु खंड खाली लीजिए।
ऊँचे के सु एक खंड मांहि उतकिष्ट[७] सिद्ध
देवीदास तिन्हैं तीनि[८] काल ढोक[९] दीजिए॥१२९॥

अर्थ :– तनु वातवलय का परिमाण पन्द्रह सौ पचहत्तर धनुष कहा गया है। सो वह महाधनुष की अपेक्षा जानना चाहिए तथा उसको लघु धनुष के बराबर का परिमाण जानने के लिए हमें उसमें पाँच सौ का गुणा करना चाहिए, क्योंकि पाँच सौ लघु धनुष के बराबर का एक महा धनुष होता है। इस प्रकार

---

१. 'अस्थानक' ख प्रति में। २-३. 'धनुष' ख प्रति में। ४. 'पन्द्रह' ख प्रति में। ५. 'धनुष' ख प्रति में। ६. 'चौदह' ख प्रति में। ७. 'उत्कृष्ट' ख प्रति में। ८. 'तीन' ख प्रति में। ९. 'धोक' दोनों प्रतियों में।

तनु वात वलय का लघु धनुष की अपेक्षा से ऊँचाई में कुल परिमाण सात लाख सत्तासी हजार पाँच सौ होता है। एक सिद्ध जीव की उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष की ही होती है। उसके बराबर के समान खंड करते हुए विभाग करने पर वात वलय की ऊँचाई में पन्द्रह सौ खंड बनते हैं। जीव की अवगाहना के लिए पाँच सौ पच्चीस धनुष का एक ही खंड पर्याप्त है, अत: पाँच सौ पच्चीस में पन्द्रह सौ का गुणा करने पर लब्ध सात लाख सत्तासी हजार पाँच सौ आता है, जो सिद्धशिला के ऊपर ऊँचाई में तनुवातवलय का ही परिमाण है। इस प्रकार तनुवातवलय के कुल पन्द्रह सौ खंड में ये ऊपर के एक मात्र पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण खंड में ही सभी सिद्ध जीवों का अवगाहन हो जाता है, शेष चौदह सौ निन्यानवैं खण्ड सदा खाली ही रहते हैं। यहाँ स्पष्टत: जान लेना चाहिए कि पैंतालीस लाख योजन लम्बी सिद्ध शिला के बराबर ही उसके ऊपर स्थित तनुवातवलय के क्षेत्र में उपरितन पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण खंड में ही उत्कृष्ट सिद्ध अपने यथायोग्य अवगाहन क्षेत्र में विराजमान रहते हैं। उस खण्ड से नीचे-नीचे के चौदह सौ निन्यानवैं खण्डों में एक भी सिद्ध भगवन्त नहीं रहते हैं। कविवर देवीदासजी उन सभी सिद्धों को तीनों काल प्रणाम करते हैं, ढोक देते हैं।

आगे जघन्य सिद्धनि का अवगाह कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

पौनैं सोरासै सु महा धनिक[1] के सात लाख
साढे सत्तासी हजार धनिक[2] जे करे हैं।
जाके चौगुने धरैं सु होत हाथ जोरू करैं[3]
साढे इकतीस लाख लेखे मांहि धरे हैं।।
नव लाख खंड जाके कीजिए सु एक-एक[4]
खंड बांटैं साढे तीन-तीन[5] हाथ परै है।
सबै खंड खाली ऊँचे कौ सु एक खंड जामैं
सब ही जघन्य जे अनंत सिद्ध भरे हैं।।१३०।।

१-२ 'धनुष' ख प्रति में। ३ 'जोर के' ख प्रति में। ४. 'येक येक' ख प्रति में। ५. 'तीनि' क प्रति में।

अर्थ :– तनुवातवलय का पौने सोलह सौ महाधनुष प्रमाण जो परिमाण है, उसका ही परिमाण सात लाख साढे सत्तासी हजार लघु धनुष प्रमाण होता है। चार हाथ का एक धनुष होता है, अत: उसमें अर्थात् ७८७५०० में चार का गुणा करने पर लब्ध साढ़े इकतीस लाख आता है। जो सिद्धशिला के ऊपर तनुवात वलय का ऊपर से नीचे तक हाथ की अपेक्षा परिमाण जानना चाहिए। जघन्य सिद्ध की अवगाहना साढे तीन हाथ होती है, अत: साढे तीन हाथ के खंडों का विभाजन ऊपर से नीचे तक करते हुए तनुवातवलय के साढे तीन-तीन हाथ के कुल खंड नौ लाख होते हैं। हरेक खंड साढे तीन हाथ होता है, उससे नौ लाख का गुणा करने पर लब्ध साढे इकतीस लाख आता है। इसप्रकार साढे तीन-तीन हाथ के नौ लाख खंडों में से ऊपर के एक खंड में सिद्धशिला की लम्बाई प्रमाण तनुवातवलय के यथायोग्य क्षेत्र में सभी जघन्य सिद्ध जीव विराजमान रहते हैं, बाकी के सभी खंड जघन्य सिद्धों की अपेक्षा से खाली रहते हैं। जहाँ एक जीव की अवगाहना है, वहीं अनंत सिद्धों की अवगाहना है, अत: उस ऊपर के खंड में ही अनंत सिद्ध जीव भरे हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

(दोहरा)

मध्यम सिद्ध समुद्र गुन सहित विविध परकार।
अस्थानक सु विषैं वही को कहि पावै पार।।१३१।।
सिद्धालै इहि भाँति करि तिष्ठत सिद्ध अनंत।
माथे सबके एक सम समझौ भवि[1] इहि भंत।।१३२।।

अर्थ :– सम्यक्त्वादि सभी गुणों से समृद्ध मध्यम सिद्ध भगवन्त कुछ अधिक साढे तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुष (इक्कीस सौ हाथ) प्रमाण अवगाहना में से कुछ कम अपनी यथायोग्य अवगाहना वाले होते हैं। उन मध्यम सिद्धों की अवगाहना अनेकविध होती है। उनकी अवगाहना के भेदों का कथन किया जाना ही संभव नहीं है, अत: कवि यहाँ कह रहा है कि

१ 'भव' ख प्रति में।

सिद्धशिला के ऊपर तनुवातवलय में पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण उपरितन खंड में ही सभी मध्यम सिद्धों का अवगाहन उनकी यथायोग्य अवगाहना अर्थात् कुछ अधिक साढे तीन हाथ से लेकर कुछ कम पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण अवगाह क्षेत्र में समझ लेनी चाहिए, इसके कथन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। इस प्रकार सिद्धशिला से ऊपर घनोदधि वातवलय एवं घनवात-वलय के बाद तनुवातवलय का जो पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण उपरितन भाग है, वही सिद्धालय है, जिसमें अनंत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट सिद्ध जीव रहते हैं। सभी सिद्धों का शीर्ष भाग अर्थात् माथे वाला भाग समान होता है। इस प्रकार की यह बात भव्य जीवों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

(दोहरा)

यह सु अवस्था जीव की कही विविध परकार।
प्रवचनसार गरंथ[1] मैं कर्म उदै व्यवहार।।१३३।।
निश्चय[2] नय करिकैं सवै जीव सिद्ध इक सूल।
मारगना गुनथान के विषैं कर्म समतूल।।१३४।।
मारगना गुनथानतैं छूटत होहिं[3] निकर्म।
सुद्ध आतमा सो लखौ भैया तजि[4] करि मर्म।।१३५।।

अर्थ :– प्रवचनसार ग्रंथ में जीव की विविध प्रकार की अवस्था कही गयी है, सो कर्मोदय के व्यवहार को लेकर है अर्थात् जिस जीव की जैसी कर्मोदय की अवस्था है, तदनुरूप ही उसका व्यवहार है। निश्चयनय से देखें तो सभी जीव एक सरीखे ही हैं, अनंत गुण स्वरूप प्रत्येक जीवद्रव्य है। उन्हें मार्गणा स्थान और गुणस्थानों के अनुसार विविध अवस्था वाला कहना कर्मोदय की आपेक्षिक समतुल्यता से ही संभव है। जब यह जीव अपनी शुद्ध आत्मा को लखकर मार्गणास्थान और गुणस्थानों वाली अवस्थाओं से छूट जाता है तो निष्कर्म होकर सिद्ध हो जाता है। अतएव हे भैया ! तुम अपने सभी भ्रम छोड़कर शुद्ध आत्मा को जान लो। उसे जानने के परिणाम स्वरूप ही संसारी

---

१ 'गिरंथ' ख प्रति में। २ 'निश्चै' ख प्रति में। ३. 'होत' ख प्रति में। ४. 'तज' ख प्रति में।

जीव को यथायोग्य समय में यथायोग्य रीति से पुरुषार्थ करने पर सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।

[इति श्री प्रवचनसारभाषायां[1] देवीदासकृत विधि अवस्था समाप्त[2]]

(दोहा)

कवि अपनी असमर्थता कहै जथारथ[3] भाखि।
होहि और की और जौ सही जिनागम साखि ॥१३६॥

अर्थ :– अब यहाँ कवि अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कह रहा है कि कवि प्रवचनसार ग्रंथ को कहने में असमर्थ है, उसने जिनागम की साक्षी से यहाँ यथार्थ कथन किया है। फिर भी यदि कहीं जिनागम से भिन्न कोई और ही बात कही गयी हो तो जिनागम की साक्षी को ही सही अर्थात् प्रमाण मानना।

(सवैया इकतीसा)

व्याकरन पढ्यौ[4] नांहि नामामलिका[5] न देखी
पिंगलादि देखिवे कौ भयौ मैं न आसकी ॥
पराक्रत संसक्रत कौ न अर्थ[6] भेद जान्यौ
एक भगवंत जू की भक्ति कौ उपासकी ॥
तार्थें मैं सु आपनी[7] हसाई की सु पै न करी
ऐसी महा मूरिख[8] दसा सु देवीदास की।
कवि[9] कला स्वयमेव पूरव उदै सु आई
रचना सु देखिकैं बनारसी[10] विलास की ॥१३७॥

अर्थ :– यहाँ कवि कह रहा है कि मैंने व्याकरण नहीं पढा है और न ही नाममाला देखी है। आशिकी विद्या सिखाने वाले पिंगलादि शास्त्र देखने के लिये मैं उत्सुक ही नहीं हुआ हूँ। प्राकृत और संस्कृत भाषा के अर्थ भेद को भी

---

१. "प्रवचनसारभाषा" क प्रति में। २. ख प्रति में यह पंक्ति इस प्रकार है – इति श्री प्रवचनसारमध्ये त्रिविध अवस्था सम्पूर्ण। ३. 'यथावति' ख प्रति में। ४. 'पढौ' ख प्रति में। ५. 'नाममाला' ख प्रति में। ६. ख प्रति में नहीं। ७. 'अपनी' क प्रति में। ८. 'मूरख' ख प्रति में। ९. 'काव्य' ख प्रति में। १०. 'बानारसी' ख प्रति में।

मैं नहीं जानता हूँ, मैं तो बस भगवान् की भक्ति में मगन होकर उनका उपासक भर हूँ। भगवत्भक्ति में मगन रहने के कारण ही कवि को अपनी जग हँसाई का भी भय नहीं है। इस प्रकार कवि देवीदासजी खुद ही अपनी मूर्ख दशा की बात कह रहे हैं। तथा इसके साथ यह भी मान रहे हैं कि 'बनारसीविलास' नामक रचना को देखने-पढने के कारण से तथा पूर्व पुण्यादि कर्म का उदय होने से ऐसी कविपने की शक्ति तो मुझमें स्वयमेव प्रगट हो गयी है।

फेरि कवि अपनी मनोहार करै है।

(सवैया इकतीसा)

अक्षिर सु हीन होहि[1] मत्ता करिकैं सु हीन
कांन मांत जौ पै हीन होहि[2] तुक वंद पै।
अरथ सु हीन होहि[3] छंद की सु जाति[4] हीन
पुनरूक्त धरे गये होहि[5] काहू छंद पै।।
कवि[6] कला के विषैं सु दोष इनि आदि और
देखि[7] सावधान होकैं सवै संद्धि[8] संद पै।
छिमा भाव सौं सुधारि[9] दीजौ करिकैं सु माफ
भैया बुद्धिवंत[10] मोसे महामति मंद पै।।१३८।।

अर्थ :—कवि यहाँ निवेदन कर रहा है कि मेरी कविता में कोई अक्षर कम रह गया हो या फिर मात्रा से कोई कमी रह गई हो, काना मात्रा से यदि कुछ हीन हो गया हो या तुकबंदी में कोई कमी रह गई हो। अथवा अर्थ बोध में हीनता आ गयी हो या छंद की जाति (गुणवत्ता) में कोई कमी हो तथा कोई शब्द किसी छंद में बार-बार आ गये हों अर्थात् पुनरूक्त दोष आ गया हो, ऐसे ही और भी अन्य दोष मेरी काव्यकला में आ गये हों तो उन्हें सभी संधि स्थलों पर सावधानी से देख-जान कर सुधीजन सुधार देवें तथा अपने क्षमा भाव से मुझ जैसे मंदमति को माफ कर देवें।

१-२-३. 'होय' ख प्रति में। ४. 'जात' ख प्रति में। ५. 'होय' ख प्रति में। ६. 'काव्य' ख प्रति में। ७. 'देख' ख प्रति में। ८. 'संधि' ख प्रति में। ९. 'सुधरि' क प्रति में। १०. 'बुद्धवंत' ख प्रति में।

(चौपई छन्द)

यह चरनानजोग सु अथांही प्रवचनसार ग्रंथ के मांही।
जाके पठत सुनत दूख चूरी भयौ गरंथ जो सु यह पूरौ।।१३९।।

अर्थ :– प्रवचनसार ग्रंथ में जो यह चरणानुयोग का अथाह उपदेश है उसके पढने-सुनने से सभी दुख चूर-चूर हो जाते हैं। यह ग्रंथ अब पूरा हो गया है सो मानों मेरे सब दुख तो मिट ही गये हैं।

आगे कवि अपनी हीन बुद्धि दिष्टांत करि दिखावै है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू कुधी चक्रवर्त की सु सारी करि[1]
षट् खंड पृथ्वी साधिवे की ठानि[2] कीनी है।
जैसे ग्यांन विना कोई[3] हरि की परंपरा सौं
अग्या कोटि सिला के उठाइवे की लीनी है।।
जैसे यो गरंथ है महा महंत कौ सु कथै
तिन्हि की सरी गति अजान हम कीनी है।
लोकमांहि अपनी हसाई कौं सु ड्रयो नाहिं
अविवेक[4] रूप है[5] कैं लज्या छोड़ि[6] दीनी है।।१४०।।

अर्थ :– जैसे किसी कुबुद्धि या बुद्धिहीन-दुर्बुद्धि ने यह निश्चय कर लिया है कि मैं चक्रवर्ती की सारी ही षट्खण्ड पृथ्वी को अपने वश में कर लूँगा, उसे साधकर जीत लूँगा। अथवा जैसे कोई हरि या हरिवंश की परम्परा को तो जानता नहीं है अर्थात् इस ज्ञान से रहित है कि कोटि शिला को कोई हरि (नारायण या महापुरुष) या हरिवंश का वीरपुरुष ही उठा सकता है, फिर भी उसने कोटि शिला को उठाने की प्रतिज्ञा कर ली है। वैसे ही यह ग्रंथ किसी महामहंत विशिष्ट ऋद्धि के धारी महा मुनि महाराज का कहा हुआ है और कहने योग्य है, तथापि कुबुद्धि-कुधी या अजान-अशक्त पुरुष के समान ही शास्त्र ज्ञान से अजान हमने इस महान् प्रवचनसार ग्रंथ पर भाषा कवित्त लिखने

१. 'कर' ख प्रति में। २ 'ठीन' क प्रति में। ३. 'काय' ख प्रति में। ४. 'अविवेख' क प्रति में। ५. 'हो' ख प्रति में। ६. 'छांड़' ख प्रति में।

का साहस किया है सो इसकारण लोक में मेरी जग हंसाई होगी। सो जगहँसाई के अपमान से भी मैं डरा नहीं हूँ तथा इस भाषाकवित्त के करने में मैंने मान। जगत् की दृष्टि से अविवेक रूप होकर ही लज्जा को भी छोड़ दिया है फलस्वरूप यह प्रवचनसार भाषा कवित्त लिख पाया हूँ।

(दोहरा)

अर्थ भेद समझ्यौ नहीं करि न सक्यौ निरधार।
करे कराए अर्थ में मिलै दई तुक चार॥१४१॥

अर्थ :– कवि अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कह रहा है कि आचार्य भगवन्त जो समझाना चाह रहे हैं शायद मैंने उस अर्थ का रहस्य नहीं समझ पाया है तथा कोई नये तथ्य या निष्कर्ष का निर्धारण भी मैं नहीं कर सका हूँ। फिर भी प्रवचनसार के किये कराये अर्थ में ही मैंने दो चार तुकबन्दी करके ही यह भाषाकवित्त लिख दिया है।

आगे सैली के सहकारी उपदेसक[1] भाई कहैं हैं।

(दोहरा)

कमलापति लल्ले[2] छगन गंगाराम म्रजाद।
तिन्हि[3] कै उपदेसे सु यह कस्यौ ग्रंथ अहलाद॥१४२॥

अर्थ :– कमलापति, लल्ले, छगन, गंगाराम, मरजाद आदि उनकी शैली अर्थात् शास्त्र सभा या आध्यात्मिक संगोष्ठी के सहयोग बन्ध हैं। उनके द्वारा उपदेशे जाने पर कि देवीदास तुम प्रवचनसार को भाषा कवित्त में लिखोगे तो सभी का भला होगा। इस प्रकार उन सभी की प्रेरणा से मैंने यह प्रवचनसार भाषा कवित्त रूप ग्रंथ प्रसन्नतापूर्वक-आह्लाद सहित अर्थात् हर्षित होकर लिखा है।

---

१. 'उपदेस कहैं है' क प्रति में।
२. 'ल्लले' क प्रति में।
३. 'तिनि' ख प्रति में।

अब ग्रंथ महातम कहैं हैं।

(दोहरा)

प्रवचनसार समुद्र यहु अकथ अथंग अकूल।
भरि लीनौ[1] अपनी सु हम मति माफिक समतूल ।।१४३।।

अर्थ :– तत्त्वप्ररूपण की दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत यह प्रवचनसार ग्रंथ अनुभूति से समझने योग्य होने से अकथ (अवक्तव्य) है, बुद्धि द्वारा जिसके रहस्य का पार पाना असंभव होने से अपार-अकूल है तथा परमार्थ से सभी के मंगल में निमित्त होने से मंगल स्वरूप अथंग अर्थात् अथाह सागर है। मैंने तो अपनी थोड़ी सी बुद्धि के अनुसार प्रवचनसार के सिद्धान्तों या विषय को आगम अर्थात् जिनोपदेश के समतुल्य जानकर उसे अपनी बुद्धि में भर लिया है, वैसे ही जैसे अथाह-अगाध जल को लोग अपने पात्र वर्तन में या पात्रता-योग्यता स्वरूप बुद्धि में भर लिया करते हैं।

आगे[2] श्रोतार लछिन।

(चौपई छन्द)

भवि[3] मिथ्यात पंथ के त्यागी धर्मकथा विषैं सु अनुरागी।
समिता करि संजुक्त[4] सुभाई सुनि[5] है यहु गरंथ सुखदाई ।।१४४।।

अर्थ :– जो भव्य जन मिथ्या मार्ग या मिथ्यात्व पोषक पंथ का त्याग कर देते हैं तथा धर्मकथा के विषय में ही अनुरागी होते हैं तथा जिनका स्वभाव समता भावों से संयुक्त होता है। वे ही सच्चे श्रोता हैं और वे अवश्य ही सुखदाई ग्रंथ सुनते हैं और पढ़ते हैं। यदि इस प्रकार के भव्य जनों को कवि जैन आगम का श्रोता समझते हैं तो उनकी दृष्टि में मोह भंजक, धर्मानुरूप समता स्वभाव का भव्य जन में होना ही श्रोता का सही लक्षण है, यह सिद्ध हो जाता है।

'आगे ग्रंथ विवस्था अस्थान ग्रंथकर्तार अस्थान व्यवस्था संवतु कथन।'[6]

---

१ 'आनौं' ख प्रति में। २. क प्रति में नहीं। ३. 'भव' ख प्रति में। ४. 'संयुक्त' ख प्रति में। ५. 'सुन' ख प्रति में। ६. 'अब ग्रंथ अवस्था कथन' ख प्रति में।

(सवैया इकतीसा)

औडछै कौ देसु जहाँ के सु हठीसिंघ[1] राजा
दुगौडौ सु ग्राम जामैं जैनी की धुकार है।
तहाँ[2] के सु वासी हैं[3] संतोषमनि [4]गोलालारे
खरौवा सु वंस जाकैं धर्म विवहार है ।।
तिन्हि के सु पुत्र देवीदास तिन्हि पूरौ[5] करयौ[6]
ग्रंथ यह नाम याकौ[7] प्रवचनसार है ।
संवतु अठारा[8] सै सु चौबीस की सु साल
सावन सुदी सु आठैं पर्यौ सोमवार है ।।१४५।।

अर्थ :– ओडछा-ओरछा देश है जहाँ के राजा हठी सिंह है। उनके देश में दुगौडा या दुगौडो एक ग्राम है, जिसमें जैनियों की धुकार (चहल-पहल) है, अत: इस गाँव में जैनी भाइयों की भरमार है अथवा नगाड़े की आवाज की तरह उनकी पहिचान है। उसी गाँव के निवासी संतोषमणि नामक श्रावक हैं। जो गोलालारे समाज और खरौवा वंश के हैं। जिनके परिवार या वंश में धर्म का व्यवहार है। अत: परिवार के सभी लोग धर्मात्मा हैं। उन्हीं के पुत्र देवीदास ने यह भाषा कवित्त ग्रंथ पूरा किया है अर्थात् देशभाषा में जिस ग्रंथ पर मेरे द्वारा कवित्त लिखे गये हैं, उस ग्रंथ का नाम प्रवचनसार है। अतएव उसकी प्रसिद्धि प्रवचनसार भाषा कवित्त के रूप में हुई। यह ग्रंथ विक्रम संवत् अठारह सौ चौबीस (१८२४) की साल में सावन सुदी आठैं (अष्टमी) के दिन पूर्ण हुआ तथा इस तिथि को सोमवार का दिन पड़ा है।

(दोहरा)

जो पठि[9] है सुनि[10] समझि[11] है यह गरंथ भरिपूर[12] ।
जाकौ सिव स्वर्गादि[13] सुख दुर्गति दुख अति दूर[14] ।।१४६।।

---

१. 'हटी सीथ' ख प्रति में तथा हटे सिंह क प्रति में। २. 'जहाँ' ख प्रति में। ३. दोनों प्रतियों में नहीं। ४ 'सुगोला' क प्रति में। ५. 'भाषा' ख प्रति में। ६ 'करे' क प्रति में। ७ 'जाकौ' ख प्रति में। ८ 'अठारह' ख प्रति में। ९. 'पठ' ख प्रति में। १० 'सुन' ख प्रति में। ११ 'समझ' ख प्रति में। १२. 'भरपूरि' क प्रति में। १३ 'सुर्गादि' ख प्रति में। १४. 'दूरि' क प्रति में।

अर्थ :– जो भी इस ग्रंथ को पूर्ण रूप से पढ़ेगा, सुनेगा और समझेगा, उसको मोक्ष, स्वर्ग आदि के सुख सुलभ हो जायेंगे और दुर्गति आदि के दुख दूर हो जायेंगे।

आगे कोई आपु करतार हौ है ताकी[1] अहंबुद्धि दूर[2] करै हैं।

(सवैया इकतीसा)

चेतनि-अचेतनि[3] अनादि लियैं द्रव्य दोऊ
गुन परजाय[4] नास ध्रौव्य उतपाद है।
संसार सो अनादि[5] मोख पंथ मोख ठौर।
सो अनादि जाकै सुनै होत अहलाद है॥
अरिहंत सिद्ध सो अनादि और जामैं धरै
सबकौ स्वरूप सब्द[6] ब्रह्म सो अनाद[7] है।
ऐसी या सु रचना अनादि[8] की न करि काहू
मांनि हूँ[9] जु आपनी कही सु बेसवाद है॥१४७॥

अर्थ :– इस जगत् में चेतन-अचेतन दोनों ही प्रकार के द्रव्य अनादि काल से गुण-पर्यायों सहित तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव वाले हैं। प्रत्येक द्रव्य अनादि है। संसार अनादि है तो मोक्ष एवं मोक्ष का मार्ग भी अनादि है। मोक्ष स्थान भी अनादि है। इसप्रकार का उपदेश देने वाला जिनागम ही है, जिसके सुनने से मन में आह्लाद-प्रसन्नता होती है। इस आगमरूप जिनोपदेश में अरिहंत सिद्ध आदि परमेष्ठी भी अनादि ही बताये गये हैं ऐसे अनादि पदार्थों-द्रव्यों के स्वरूपादि का निरूपण जिनमें धरा गया है, ऐसे शब्द भी अनादि से ही हैं। शब्द ब्रह्म अनादि ही जानना। उसे अर्थात् शब्द ब्रह्म को अथवा शब्दों पदों आदि को कोई बनाने वाला नही है, वे तो अनादिकाल से स्वयं परिणमित हैं। इस प्रकार जब शब्द अनादि से हैं तो उनसे होने वाली रचना भी अनादि एवं स्वयं परिणमित सिद्ध हुई, वह किसी की भी की हुई नहीं है, किन्तु जो

---

१. 'जाकी' क प्रति में। २. 'दुरि' क प्रति में। ३. 'चेतन-अचेतन' ख प्रति में। ४. 'पर्याय' ख प्रति में। ५. 'अनाद' ख प्रति में। ६. 'शब्द' ख प्रति में। ७. 'अनादि' ख प्रति में। ८. 'अनाद' ख प्रति में। ९. 'मान हैं' ख प्रति में।

कोई भी उसे अपनी मानता है तो यह कहना बेस्वाद-अरुचिकर ही है। कोई भी रचना सहज ही होती है, उसके कर्तृत्व का अहंकार अहितकर है, यह प्रेरणा ही कवि यहाँ देना चाह रहे हैं।

आगे ग्रंथ समापत विषैं छंदिनि की संख्या अरू श्लोक संख्या कहैं हैं।

(सवैया इकतीसा)

एक[1] सै सु सैंतालीस कहे इकतीसा सवै
त्रेसठ[2] कवित्त छंद छप्पै चवालीस हैं।
तेईसा कवित्त जे सु धरे इकतालिस जे
चौपही सु[3] छंद ते[4] सु सात उनतीस हैं॥
दोहरा सु असी कौंडरी सु जे चतुर्दस हैं
'आठ हैं'[5] अरिल्ल तीन गीतिका सु दीस हैं।
साकिनी सु एक-एक[6] सोरठा जुरे समस्त
छंद[7] जाति[8] भेद चारि सैं सु 'येक बीस'[9] है॥१४८॥

अर्थ :—इस ग्रंथ में छंदों की संख्या छंद जाति के भेदानुसार कुल चार सौ इक्कीस है। जो इस प्रकार है — सवैया इकतीसा एक सौ सैंतालीस (१४७), कवित्त छंद त्रेसठ (६३), छप्पय चवालीस (४४), सवैया तेईसा इकतालीस (४१), चौपाई या चौपही छत्तीस (३६), दोहरा या दोहा अस्सी (८०), कुण्डलिया चौदह (१४), अडिल्ल आठ (८), गीतिका तीन (३), शाकिनी एक (१) तथा सोरठा एक (१)।

(दोहरा)

पुनि सु वरन बत्तीस कौ गनौं अनुष्टुप[10] श्लोक।
जे सब 'जोरु करे'[11] जुरे पंद्रह सै असलोक[12]॥१४९॥

अर्थ :—कवि फिर से कह रहा है कि यदि बत्तीस वर्णों के समूह वाला जो

---

१. 'येक' ख प्रति में। २. 'त्रेसठि' ख प्रति में। ३. ख प्रति में नहीं। ४. 'जे' ख प्रति में। ५. ख प्रति में नहीं। ६. 'येक-येक' ख प्रति में। ७. ख प्रति में नहीं। ८. 'ज' ख प्रति में। ९. 'ये उनीस हैं' क प्रति में। १० 'अनुष्टुभ' क प्रति में तथा 'सु अष्टम' ख प्रति में। ११. 'जोरें' ख प्रति में। १२. 'श्लोक' ख प्रति में।

अनुष्टुप छन्द (श्लोक) होता है, उसकी गणना के अनुसार यदि सभी छन्दों के वर्णों की गणना करें तो वह रचना पन्द्रह सौ (१५००) श्लोक प्रमाण है।

(इति श्री प्रवचनसारभाषायां देवीदासकृत कवित्तबद्ध संपूर्ण।। 'संवतु १८२८ वर्षे वैसाखवदि २ (द्वितीया) रवौ कौ संपूर्ण सुभं भवत मंगलं।। लिखतं प्रधान अमानराइ अस्थान छत्रपुर पठनार्थ भाई मनसाराम खंडेलवार वासी जैपुर के भव्यजीव जैनमती)।'[1]

---

१. यह लिपिकार (पुस्तक को लिखकर देने वाले) की प्रतीत होती है।

श्री दिगम्बर जैन मंदिर बड़ा, तेरापंथ, जयपुर से प्राप्त पाण्डुलिपि का प्रथम पृष्ठ

अनेकान्त भवन बीना से उपलब्ध हुई झांसी की पाण्डुलिपि का द्वितीय पृष्ठ